शिवप्रसाद सिंह

आधुनिक परिवेश नवलेखन

आधुनिक परिवेश और नवलेखन

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

●

लोकभारती प्रकाशन

ADHUNIK PARIVESH
AUR
NAVALEKHAN

●

CRITICISM
By
Dr. Shiva prasad Singh

●

प्रकाशक
लोकभारती प्रकाशन
१५ ए, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहाबाद–१

मूल्य
साढ़े बारह रुपये

मुद्रक
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

२३ मार्च (शहीद दिवस)

डॉ० राममनोहर लोहिया के

जन्मदिन पर

उन्हीं की पुण्यस्मृति में

लेखकीय

पिछले बारह-तेरह वर्षों से मैंने समय-समय पर नवलेखन के विषय में जो कुछ सोचा-समझा, जिया-झेला, उसका खाका इन निबंधों में मिलेगा। भरसक कोशिश यही रही कि ये तरतीबवार जैसे-जैसे प्रकाशित हुए, उसी तरह इस पुस्तक के अनुक्रम में भी बँधें; बहुत करके ऐसा है भी; पर कहीं-कहीं विषय-वस्तु की दृष्टि से कुछ इस तरह की भी तरतीब देनी पड़ी है जिससे खाका ज्यादा खुला और साफ़ हो सके। एक ही व्यक्ति के निबंधों में स्वभावतः कुछ पुनरुक्ति होती है, कुछ विचार कहीं, बीज-बिन्दुवत् तो कहीं पल्लवित-प्रसरित दिखाई पड़ते हैं, उनसे पुनरुक्ति लग सकती है; पर यह समस्या को बहुविध कोणों से और अनेक परिप्रेक्ष्यों से देखने-बूझने का अवसर भी देती है, इसलिए पाठकों से यह निवेदन करना कि वे भी इस बिन्दु पर लेखकीय प्रक्रिया के सहयोगी बनें, उनके साथ ज्यादती नहीं मानी जायेगी। नवलेखन में उत्पन्न अनेक समस्याएँ रचना से ही सम्बद्ध होते हुए भी अपने अंकुरण में उस परिवेश का भी परिणाम रही हैं, जो निर्विवाद रूप से उत्तरोत्तर जटिल और नाना घातप्रतिघात के कारण गुत्थमगुत्थ होता गया है।

संभवतः भारतीय इतिहास के किसी भी काल विशेष में इस प्रकार का असंगत और बेमानी परिवेश समाज को अपनी गुंजलक में गिरफ्त नही कर सका। हमने खुद प्रकाश देनेवाली दिशाओं को लपटों से रूँधकर अपने आप को सब प्रकार से नष्ट कर लिया है। यह एक ऐसा परिवेश है जिसके बारे में महाभारतकार की यह उक्ति बहुत सटीक लगती है—"आत्मनो हि वयं दोषाद् विनष्टाः शाश्वती समाः/प्रदहन्तो दिशः सर्वा भास्वरा इव तेजसा।" [शां० ७/२३]

इस दारुण परिवेश से छुटकारा कैसे हो, यह बतलाना मेरा कार्य नहीं है; क्योंकि मुझे इस तरह की गलतफ़हमी नहीं है कि मेरे पास हर समस्या का शाब्दिक समाधान उपलब्ध है। इस परिवेश को विश्लेषित करने की कोशिश अलबत्ता परेशानी और व्यथा के सही बोध को उपलब्ध करने का कारण बन सकती है, यहाँ मात्र वैसा ही प्रयत्न है, सिर्फ़ सचेत भोग के आत्मतोषक चीरफाड़ का प्रयत्न।

नई कहानी और नई कविता ही नवलेखन नहीं हैं, यह जानते हुए भी इस संकलन में सिर्फ़ उपर्युक्त दो विधाओं के बारे में ही विचार किया गया है, इसपर लोगों को आपत्ति हो सकती है। आज की कहानी और कविता, निःसन्देह नवलेखन की समग्रता का दावा नहीं कर सकतीं, नहीं किया गया है, पर इतना सत्य है कि नवलेखन की

अधिकांश तीव्रतम प्रवृत्तियाँ सिर्फ़ इन्हीं दो विधाओं में अपना सायुज्य पा सकी हैं, अतः इन पर केन्द्रित रहकर भी नवलेखन और उसके परिवेश के विश्लेषण में कोई बाधा नहीं आती। हाँ, इतना स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति भी नहीं कि कुछ विधाएँ जो नवलेखन की अपेक्षाकृत अधिक समर्थ वाहन हो सकती हैं, जैसे नाटक, उनपर मैंने अभी ऐसा परिश्रम नहीं किया है कि उन्हें पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जा सके।

यहीं पर एक और बात की ओर भी आपका ध्यान आकृष्ट कर देना चाहता हूँ। नई कहानी और कविता को लेकर पिछले दिनों जो खिचाव-तनाव रहा, कुछ कहानीकार नई कहानी को और कुछ कवि नई कविता को एकमात्र आधुनिकता का माध्यम घोषित करने की कोशिश करते रहे, वह सब व्यवसायिक विज्ञापन से अधिक मूल्य नहीं रखता। मैं नई कविता और नई कहानी में न सिर्फ़ निकटतम रिश्ता अनुभव करता हूँ बल्कि यह भी मानता हूँ कि एक दूसरे के बीच ऐसा परस्परावलंबन है कि इन्हें अलगाया नहीं जा सकता। एक दूसरे से अपनी रचनात्मक समस्याओं के समाधान के लिए सहायता ली जा सकती है, ली जानी चाहिए, उनके बीच के विधासम्बन्धी अन्तर को अन्तराल बनाकर अनेक समीक्षक उसी में अपनी आसन्दी लगाने की मिथ्या कोशिश करते हैं; जो न केवल ग़लत है बल्कि दोनों ही विधाओं के सम्यक् अध्ययन में बाधक भी। अन्त में एक बात और, रचना की तरह समीक्षा को भी सृजन प्रक्रिया होती है, अतः उसकी भी एक स्वभावतः विकास प्रक्रिया भी होगी। कहानी और कविता सम्बन्धी मेरे विचारों में यत्रतत्र उनके पूर्वापर सम्बन्धों में यदि कहीं "गैप" दीखता है, तो मैंने उसे वैसे ही जानबूझ कर रहने दिया है, क्योंकि यह कहना शायद आवश्यक नहीं कि बारह-तेरह वर्षों में न सिर्फ परिवेश और नवलेखन बदला है बल्कि मेरे जैसे लोगों की दृष्टि भी। बिदा पुनर्मिलनाय।

सुधर्मा
१३ गुरुधाम
वाराणसी-५
वासन्तिक नवरात्र, १९७०

शिवप्रसाद सिंह

अनुक्रम

परिवेश

•

"जिरहबख्तरों की कीमत चुकाई जा चुकी है/और युद्ध हारा जा चुका है/ × × /दफ्तर ठसाठस भरे हुए हैं/अधिकारीगण कर रहे सड़कों पर काम (फुर्सत से)/नदियाँ उफ़न कर किनारों से बाहर बह जाती हैं/खेत परती पड़ जाते हैं/अपना पाजामा बाँधने की तमीज़ नहीं जिन्हें/दस तक गिनती नहीं गिन आती/वे छप्पन तरह के भोजन भकोस रहे हैं/अन्न उपजाने वाले किसान/खरीददारों के लिए नजर दौड़ाते हैं/दिखाई देते हैं भुखमरे/जुलाहे करघों से वापस घर आते हैं चीथड़ों में/क्या यही न्याय है ! क्या यही न्याय है !!"

ब्रेख्त, खड़िया का घेरा

आधुनिक परिवेश और बौद्धिक वंचना

"वह व्याधि, जिससे कुओमितांग का ध्वंस हुआ, कांग्रेस को बुरी तरह लग चुकी है। और यद्यपि आज की चकाचौंध में सुषुप्त दिल्ली को नानकिंग का वह अतीत कोलाहल सुदूर की आवाज लग सकता है, किन्तु खतरे की घंटी बजने लगी है, इसमें सन्देह नहीं।"

'क्राइसिस ऑफ इंडिया' के लेखक रोनाल्ड सेगल की यह धारणा किसी भी भारतीय बौद्धिक को परेशान कर सकती है। यह और बात है कि किसी को यह अतिरंजना लगे, किसी को अपमानपूर्ण सही तथ्य और किसी को प्रीतिकर अवश्यंभावी घटना। प्रीतिकर उन्हें ही लगेगी जिनके कानों में आज भी नवम्बर, १९४९ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नाम लिखे माओत्से तुंग के ये शब्द गूँज रहे होंगे—"भारत एशिया की महान् क़ौमों में एक प्रमुख स्थान रखता है। इसका एक लम्बा इतिहास रहा है और यह एक बहुत विशाल आबादी का देश है। इस देश का अतीत और भविष्य बहुत कुछ चीन जैसा ही है। स्वतंत्र चीन की तरह एक दिन भारत भी स्वतंत्र होगा और वह स्वतंत्र साम्यवादी परिवार का अंग होगा। उसी दिन साम्राजी प्रतिक्रियावादियों का युग मानव-इतिहास से समाप्त हो जायेगा।" भारत १९४७ में स्वतंत्र हुआ था; पर भारत अपनी स्वतंत्रता को स्वतंत्रता मानने के लिए भी स्वतंत्र नहीं है। माओ एक भिन्न स्वतंत्र भारत के उदय के लिए आशान्वित हैं और चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के ठीक बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नाम भेजा गया उनका पत्र इस बात का सबूत है कि इस आशा को पूर्णत: साकार करने के लिए चीन अपनी ओर से कोई कसर उठा न छोड़ेगा। इस आशा को महान् भविष्यवाणी का रहस्यात्मक जामा पहनाते हुए श्री रजनी पाम दत्त ने लिखा—"आधुनिक घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि आगे चल कर यह भविष्यवाणी निरन्तर पुष्ट होगी और चाहे भारतीय जनता को किसी भी संकट और संघर्ष से गुजरना क्यों न पड़े, माओ की भविष्यवाणी सत्य होकर रहेगी।" (इण्डिया टुडे एण्ड टुमारो, पृ० २९८-९९)

माओ की भविष्यवाणी, रजनी पाम दत्त का विश्वास और अब रोनाल्ड सेगल का विश्लेषण—यह एक अजीब वात्याचक्र है, जिसके भीतर से निकल कर और तटस्थ हो कर भी चैन की साँस ले सकना मुश्किल लगता है। सेगल का कथन ज़्यादा कष्टकर इसलिए बन जाता है क्योंकि वह न तो माओ की भविष्यवाणी की अटलता में विश्वास

रखते हैं, न तो रजनी पामदत्त के दृष्टिकोण से समानता। सेगल प्रजातंत्र में आस्था रखने वाले उदार विचार के स्वतन्त्र लेखक हैं। मेरा ख्याल है कि भारत का हर स्वतंत्र और निष्पक्ष बौद्धिक सेगल के विश्लेषण से सहमत होगा, भले ही वह कुओमितांग और कांग्रेस संबंधी उनकी उपमा को बहुत दूर तक खींचना न चाहे। हालाँकि मैं इस समता को ग़लत कहने का कोई आधार नहीं देखता। कांग्रेस को कुओमितांग का छुतहा रोग सिर्फ लगा ही नहीं है; बल्कि भीतर से वह उसके फेफड़े को बुरी तरह जर्जर भी कर चुका है।

चीन के इरादे क्या हैं, इसे प्रत्येक सचेत और जागरूक व्यक्ति जानता है। किन्तु आज की परिस्थितियों में सत्य को सत्य के रूप में देख पाना इतना आसान नहीं है। प्रत्येक आक्रामक देश अपने सही इरादों को छिपा कर उन्हें उच्च मानव-मूल्यों की पोशाक में उपस्थित करता है। चीन के नारों और उसके कर्मों के बीच का खतरनाक अंतर आज पहले की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट हो गया है। अफ्रीका और एशिया में होने वाली राजनीतिक घटनाओं ने इस पूरे क्षेत्र के लोगों को यह शायद अन्तिम मौक़ा दिया है कि वे चीन के सही इरादों को समझ लें और उनके अनुसार अपनी स्वतंत्रता और जीवन-प्रणाली की रक्षा का प्रबंध कर लें। सृष्टि का अंध न्याय अपने रहस्यात्मक उदर में छिपे सही तथ्यों को प्रकट करने में हमेशा ही कंजूस रहा है। इसलिए यदि वह कभी तथ्यों को स्पष्टतया व्यक्त करने की उदारता दिखाता है, तो इसे अपने प्रति नियति की असीम सहायता और पक्षपात ही मानना चाहिए। और जो राष्ट्र इस उदारता और सहायता के अवसर को ठीक से नहीं समझ पाता, उसके लिए ऐसे मौक़े फिर कभी नहीं आते।

चीनी इरादों को स्पष्ट करते हुए डॉ० लोहिया ने ठीक ही लिखा है—"चीनी गण-राज्य इतिहास की मनःकल्पित और झूठ, और युद्ध की अस्थिर नियति से जन्मी अल्प-कालिक संधियों पर चल रहा है। चारों तरफ हाथ-पैर फैलाने और जिस किसी को वह मुलायम मांस समझता है, उस पर दाँत लगाने और निगल जाने की उसकी विचित्र रुचि रही है। मानवता का शत्रु, पुनर्बल लाभ किये पशु की तरह कम्युनिस्ट चीन बौरा गया है।....कम्युनिस्ट चीन को जब प्रधानमंत्री (श्री जवाहरलाल नेहरू) ने हिटलरी जर्मनी से भी बुरा बतलाया, तो वे जो बोल रहे थे, उसके सभी अभिप्रेत अर्थो से अवगत न रहे हों, किन्तु वह उनके अधिक स्पष्ट क्षणों में से था।" (भारत, चीन और उत्तरी सीमाएँ, पृष्ठ २५६) चीन को स्वर्गीय नेहरू ने हिटलरी जर्मनी से भी बुरा बतलाया था परन्तु जर्मनी दूसरों की सत्ता हथियाने के लिए जितना भी खूँखार आचरण करता रहा हो, उसे किसी मतवाद के आवरण में नहीं लपेटता था। चीन भारतीय राष्ट्र को अपने उपनिवेश में बदल कर ही सन्तुष्ट नहीं होगा, बल्कि भारत की सम्पूर्ण भारतीयता को ध्वस्त कर के, यहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं को कुचल कर, इसे मानसिक दासता

और आत्मघाती वैचारिक परतंत्रता में जकड़ देना चाहता है। १४६२ में उसका अभियान विफल रहा, क्योंकि सीमा पर उसके इन कृत्यों को समर्थन देने वाली जनता का अस्तित्व न था। मैं पुनः डॉ० लोहिया की उक्त महत्वपूर्ण पुस्तक से एक अंश उद्धृत कर रहा हूँ जिसमें इस स्थिति को पूरी तरह स्पष्ट कर के कहा गया है—"जनता को अंदरूनी और बाहरी साम्यवाद के संयुक्त हमले से सावधान रहना होगा। अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद ने हिन्दुस्तान की जमीन पर यह पहला सैनिक क़दम शायद शक्ति और जनमत के दुर्बल स्थानों का पता लगाने के लिए रखा है। और वह अभी वापस हट जायगा और उस समय फिर पूरी शक्ति से आयेगा जब उसके लिए सौभाग्य से राष्ट्रीय साम्यवाद बंगाल, भूटान या पंजाब में केरल की पुनरावृत्ति कर सकने में सफल हो और लोकतंत्र की रक्षा के लिए वह अपने बाहरी साथियों को शुद्ध अंतःकरण से बुला सके।" (वही पृष्ठ १९२)।

चीनी आक्रमण के बाद से स्थिति कुछ और पेचीदा और ख़तरनाक हुई है। हिन्दुस्तान एक और युद्ध की अग्नि में स्नान करके अभी-अभी बाहर आया है। भारत के साथ पाकिस्तान के विरोध ने नया मोड़ लिया है। पाकिस्तान अब तक साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथ की कठपुतली था। उनके सैनिक गठबंधनों में बँध कर उसने असीम युद्ध-शक्ति अर्जित की। इस पूरी शक्ति का दुरुपयोग उसने निःसंकोच भाव से भारत के विरुद्ध कर दिया है। 'हिन्दू गाय को पूजते हैं हम उसे खाते हैं'—के केंद्रीय विचार की परिधि पर घूमने वाली जिन्ना की राजनीति ने जिस पाकिस्तान को जन्म दिया है, वह निरंतर हमारे लिए खतरे की चीज़ रहेगा। क्योंकि अपनी वैचारिक स्थिति के कारण पाकिस्तान आधुनिक मूल्यों में विश्वास करने वाला प्रगतिकामी राष्ट्र शायद ही कभी हो पाये। पाकिस्तान विरोधाभासों का अजीब मिश्रण है। अंग्रेज़ लेखक श्री कीथ कैलर्ड पाकिस्तानी राजनीति का विश्लेषण करके इस नतीजे पर पहुँचे—"आज का पाकिस्तानी जीवन दो परस्पर विरोधी सिद्धांतों के अजीब घालमेल से ग्रसित है। जनता राज्य की नींव दृढ़, अपरिवर्तनीय इस्लाम के सिद्धांतों पर आधारित रखना चाहती है, किंतु वह धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों में विश्वास करने वाले देशों से प्राप्त किसी भी लाभ को छोड़ना नहीं चाहती। वे लोकतंत्र की बात करते हैं, किंतु शक्ति-प्रदर्शन करने वाले अपने किसी नेता की छाया में खड़े होकर उसकी जयजयकार करने में अद्भुत गौरव का अनुभव करते हैं। वे क्षेत्रीय स्वायत्त शासन का समर्थन करते हैं, पर कठोर से कठोर केंद्रीय नेतृत्व का कभी विरोध नहीं करते। वे एक ऐसी परराष्ट्र नीति अपनाते हैं जिसके चलते वे दुनिया के तमाम लोकतंत्रों से खूब सहायता पायें, साथ ही मुसलमानी देशों का अनिवार्य समर्थन भी उन्हें मिलता रहे। वे अपने उद्देश्य और स्वार्थ की पूर्ति के लिए कोई भी करवट कभी भी ले सकते हैं।" (पाकिस्तान, ए पोलिटिकल स्टडी, अंतिम अंश, लंदन, १९५७)

हमारे निकटतम पड़ोसी के रूप में, हमारे ही भाई-बंधुओं के सहयोग से बना यह

देश मध्यकालीन धारणाओं और मजहबी रूढ़िवादिता से प्रेरित तानाशाही का गढ़ हो गया है। अपने देश के अल्पसंख्यकों को कुचल कर और उन्हें निरंतर बहिष्कृत करके पाकिस्तान मानव-वैविध्य के प्रगतिशील तत्वों से रहित होता जा रहा है। अल्पसंख्यकों को स्वतंत्रता की गारंटी देना बहुसंख्यक क़ौम की प्रगतिशील मानवता की पहली शर्त होती है। वैचारिक अतिवादिता का यह रूप जो पाकिस्तान में व्याप्त दीखता है वह किसी भी समय किसी भी क्षेत्र की शांति को भंग कर सकता है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि इस प्रकार की चिंताधारा की विभीषिकाओं को झेलने की नियति भी हमारे इस देश को ही प्राप्त हुई।

चीन और पाकिस्तान के अलग-अलग विरोध और आक्रमणों को झेलना एक और बात थी, अब उनके इकट्ठे हमले का ख़तरा एकदम सामने है, और यह निश्चय ही एक अद्भुत संकट उत्पन्न करता है। दोनों ही देशों के समर्थक भारत में ही देशद्रोही के रूप में वर्तमान हैं। ये दोनों ही तत्व भारतीय जनता को भ्रम में डालने के लिए कुछ मूल्यों की बात करते हैं। चीन साम्यवाद की, साम्राज्यवाद के विरोध की और शोषकों से पीड़ित जनता की मुक्ति की बात करता है तो पाकिस्तान इस्लाम की, स्वतंत्र मतगणना की, न्याय और सत्य की दुहाई देता है। और इनके सम्मिलित प्रचार का फल यह होता है कि हम बिना किसी अपराध के शोषक, प्रतिक्रियावादी, साम्राज्यवादियों के पिट्ठू तथा उग्र हिंदू सांप्रदायिकता के पोषक, जनमत की अवहेलना करने वाले स्वार्थशील अवसरवादी के रूप में विश्वमत के सामने कटघरे में खड़े कर दिये जाते हैं।

इस भयंकर संकट का सामना करने के लिए क्या किया जा सकता है? अब तक हमारे देश के नेता जिस बात पर सबसे अधिक ज़ोर देते रहे हैं, वह है विश्वमत को अपने अनुकूल बनाना। विश्वमत की न्यायप्रियता और सत्याभिनिवेशी प्रवृत्ति में हमारी बड़ी आस्था है। हमारा बौद्धिक पिछले पचास वर्षों से अंतर्राष्ट्रीयता में घनघोर विश्वास करता रहा है। यह विश्वास रवींद्रनाथ को नोबेल पुरस्कार दिये जाने तथा भारतीय संस्कृति और धर्म में यूरोपीय अभिरुचि के कारण निरंतर पुष्ट होता रहा है। यह विश्व-मत हमारे लिए इतनी आकर्षक वस्तु इसलिए नहीं रहा है कि हम सचमुच किसी उदार अंतर्राष्ट्रीयतावाद के सभी पहलुओं को खूब अच्छी तरह समझ कर उसमें आस्थावान बने हैं, बल्कि इसलिए कि यूरोप और अमरीका में हमारी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रति एक विचित्र कुतूहल था। साथ ही वे अपनी भौतिक समृद्धि की अतिशयता से परेशान और मशीनी कोलाहल के दबाव से पीड़ित होकर हमारी आश्चर्यजनक संतोष-वृत्ति के मूल में छिपी किसी आध्यात्मिक शक्ति के प्रति हल्की जिज्ञासा का भाव दिखाते रहे हैं। इस कुतूहल को हम अपने प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति समझ कर न केवल बहुत संतुष्ट होते रहे; बल्कि अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अपनी इस 'ब्राह्मी' वृत्ति का प्रदर्शन करने और अपने को जगद्गुरु समझने को गौरव की बात मानते रहे हैं। शुरू-शुरू में जब तक हम गुलाम या

स्वतंत्रता के बाद पराश्रित रहे, हमारे प्रति उनका यह कुतूहल किंचित् सहानुभूतिमय था। और ज्यों ही हम अपने स्वार्थ और उद्देश्य के लिए आग्रहशील होते हैं या सही अर्थों में अपने भाग्य-निर्णय के अपने अधिकारों का उपयोग करते हैं, वे सहानुभूति के बाहरी आवरण को चीर कर हमारे सामने अपने यथार्थ रूप में खड़े हो जाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीयता का हमारे देश में सीधा अर्थ यूरोप और अमरीका से संपर्क समझा जाता है। यूरोप में भी मुख्यतया इंग्लैंड के साथ। एशिया और अफ्रीका प्रायः हमारी अंतर्राष्ट्रीयता का अंग नहीं बनते। अंतर्राष्ट्रीयता का यह इतिहास हमारे देश में उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण से शुरू होता है। यूरोपीय संस्कृति एक ओर जहाँ हमारे सामने वैज्ञानिक और तकनीकी साधनों से संयुक्त हो कर नयी शक्ति और सामर्थ्य ले कर उदित हुई वहीं वह विजेता साम्राज्यवादी देशों से सम्बद्ध होने के कारण आक्रामक के अभिमान और महत्वाकांक्षा के भाव से दर्पस्फीत भी थी। १८५७ के राष्ट्रीय संग्राम की असफलता ने हमारे देश के मनोबल को पूरी तरह तोड़ दिया था। अपमान, जहालत निराशा, कुंठा की क़रीब-करीब ऐसी ही भावनाएँ जैसी आज व्याप्त हैं, उस समय भी थीं। उस दारुण स्थिति का फ़ायदा उठाते हुए अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति ने, राजनीतिक विजय के साथ ही साथ, मानसिक विजय का भी अभियान जारी किया। ईसाई मिशनरियों ने जहाँ एक ओर छापेखानों की सहायता से हमारी भाषाओं को विकसित करने का प्रयत्न किया, स्कूल, अस्पताल आदि खोल कर सामाजिक सेवा के माध्यम से जनता में अपने प्रति आदर का भाव फैलाया, वहीं इन कार्यों के माध्यम से उनका मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म और यूरोपीय सभ्यता का प्रचार-प्रसार भी रहा। मानसिक और वैचारिक विजय का उनका यह अभियान उस काल की एक बहुत बड़ी समस्या थी। और मेरा विश्वास है कि आज भी हम उस स्थिति का सही विश्लेषण करके लाभ उठा सकते हैं। उनकी सहायता से जो कुछ नया ज्ञान-विज्ञान हमें मिल रहा था, उससे विमुख होना शायद कूपमंडूकता होती, किन्तु इस ज्ञान-विज्ञान के साथ धर्म, संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में उनकी दासता स्वीकार कर लेना निश्चय ही आत्महत्या होती। तत्कालीन भारत के बौद्धिकों ने इस चुनौती को उसके सभी संदर्भों को दृष्टि में रख कर बड़े सही ढंग से स्वीकार किया। अति पश्चिमीकरण के समर्थक राममोहन राय का 'यूनिटैरियन कांग्रीगेशन' के माध्यम से बाइबिल को सर्वमान्य धर्मग्रंथ बनाने का प्रयत्न असफल हुआ। उनके सहयोगी अंग्रेज विलिएड एडम को ईसाइयों ने 'द्वितीय पापी एडम' तथा उनको नास्तिक (हीथेन) की उपाधि दी। राममोहन राय शुद्ध ईसाई धर्म पर प्रकाश डालते रहे जो उनकी दृष्टि से 'हिन्दुओं के ब्रह्मवाद का परिष्कृत रूप' है। इसी से प्रेरित हो कर उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। राममोहन राय का मुख्य उद्देश्य मध्यकालीन हिन्दू ढाँचे को परिवर्तित करके उसे आधुनिक गतिपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का रूप देना था, जिसे जिन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा, प्रेस आदि के माध्यम से आगे बढ़ाया। १८५७ की क्रांति की

असफलता के बाच यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति का आक्रमण कहीं ज़्यादा उग्र हुआ, जिससे भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा का कार्य रानाडे, दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद आदि ने पूरा किया। इन सभी बौद्धिकों का यह प्रयत्न रहा कि इस बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा का एकमात्र तरीक़ा है अपने समाज को पहले से अधिक संगठित, प्रगतिशील, लचीला और समर्थ बनाना, और चूँकि यह कार्य व्यापक शिक्षा, ज्ञान-प्रसार और वैज्ञानिक तरीकों के सही उपयोग के बिना नहीं हो सकता, इसलिए सभी ने पश्चिमी ज्ञान में अपनी आस्था को कभी भी धूमिल नहीं होने दिया। थियोसॉफ़ी आन्दोलन मूलतः यूरोपीय था किन्तु भारत से संबद्ध हो कर यह अधिक से अधिक 'हिन्दूकृत' होता गया। विवेकानंद ने उस समय 'अभय' का संदेश देते हुए गर्जना की—"हमारे देश को जिस वस्तु की सबसे अधिक जरूरत है वह है इस्पात के स्नायु और लोहे की मांसपेशियाँ, विराट इच्छा-शक्ति जिसे कोई डिगा न सके, जो सृष्टि के समूचे रहस्यों के मर्म को भेद सके, और जो अपने उद्देश्य को सभी तरह से पूरा कर सके, चाहे इसके लिए समुद्र की अतलांतक सीमाओं के नीचे जाना पड़े, या मृत्यु का आमने-सामने मुक़ाबला करना पड़े।" (लेक्चर्स फ्राम कोलंबो टु अल्मोरा)। देश की स्वतंत्रता, शक्ति और पौरुष का आह्वान करते हुए भी विवेकानंद संकुचित राष्ट्रीयता के शिकार नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा था—"मैं पूर्णतः स्वीकारता हूँ कि कोई व्यक्ति या राष्ट्र विश्व की दूसरी क़ौमों से कटकर जी नहीं सकता। और जहाँ कहीं भी इस तरह का प्रयत्न हुआ है, चाहे बड़प्पन की ग़लत धारणाओं के कारण, चाहे राजनीति या आत्म-पवित्रता की मिथ्या-भावना के कारण, इसका नतीजा हमेशा खतरनाक और ध्वंसकारक हुआ है।" उन्नसवीं सदी के उत्तरार्ध की इसी तर्कपूर्ण, संतुलित आत्मबल और आस्था से दीप्त बौद्धिकता ने हमें इस योग्य बनाया था कि हम १९४७ में अपनी स्वतंत्रता को उपलब्ध कर सके।

भारत की तत्कालीन संसक्त बौद्धिकता इतनी उदार, इतनी व्यापक और इतनी आत्मनिर्भर और आस्थावान थी कि विदेशी शासकों के लिए पराधीन जाति की यह वैचारिक शक्ति चिंता की वस्तु बन गयी। उन्होंने इस सचेत बौद्धिक समूह को साम, दाम, दंड, भेद—सभी तरीकों से अपने अधीन करने का प्रयत्न किया। कवि के प्रति किसी भी तरह के अनादर के भाव के बिना मैं कह सकता हूँ कि रवि बाबू को नोबेल पुरस्कार दिया जाना भी इसी प्रकार का एक कर्म था जो भारतीय बौद्धिकों को अंग्रेजों और उनके यूरोपीय बंधुओं की न्यायप्रियता के प्रति कृतज्ञता से अवनमित करने के उद्देश्य से किया गया था। वे अपने इस तरह के हजारों हजार कार्यों के द्वारा भारतीय बौद्धिक को उसके समाज से काटने के प्रयत्न में सफल हुए और यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि वीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का भारतीय बौद्धिक १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के बौद्धिकों की अपेक्षा, कमजोर, समझौताप्रिय, नमित और अंग्रेज-भक्त होता गया। उसमें भारतीय चिंतन का तेज नहीं रहा, आत्म-बल में कमी आयी और वह भारतीय वातावरण

से काफ़ी विच्छिन्न हो गया। परिणामतः जहाँ शॉपेनहावर, मैक्समूलर से लेकर इमर्सन तक के पाश्चात्य बौद्धिकों में भारतीय दर्शन और धर्म के प्रति जिज्ञासा रही, वहाँ बाद के यूरोपीय बौद्धिकों में भारत के प्रति सस्ता कुतूहल बढ़ा—सँपेरो के प्रति, योगियों और तांत्रिकों के प्रति, भिखारियों और मेलों के प्रति।

स्वतंत्रता के बाद तो भारतीय बौद्धिकों का इतिहास सिर्फ़ आत्म-बल के ह्रास का ही इतिहास है। स्वतंत्रता का सही अर्थ हमारे देश ने आज तक भी नहीं समझा। कारण शायद यह था कि हमें स्वतंत्रता की प्राप्ति में खूनी संघर्षों के भीतर से काफ़ी गुज़रना नहीं पड़ा। स्वतंत्रता के बाद विश्व-मत और अंतर्राष्ट्रीयता की चर्चाएँ नये सिरे से शुरू हुईं। हमने अपने को लोकतंत्र घोषित किया और इस घोषणा मात्र से आश्वस्त हो गये कि चूँकि हम लोकतंत्र हैं, इसलिए हमारी तरक़्क़ी और प्रगति के लिए विश्व के सभी समृद्ध लोकतंत्र स्वभावतः उत्तरदायी हैं। स्वतंत्रता के बाद के भारतीय इतिहास के अध्याय का सिर्फ़ एक ही शीर्षक हो सकता है—शर्मनाक भिक्षा-काल। इस 'भिक्षा-काल' की सबसे बड़ी याचक-मुद्रा का नाम है 'तटस्थता'। मैं सहअस्तित्व, तटस्थता, धर्म-निरपेक्षता आदि का सिर्फ़ प्रशंसक ही नहीं बल्कि उन्हें जीवित मूल्य मान कर उनके लिए सब कुछ सहने-भोगने का संकल्प भी रखता हूँ, किंतु मैं जिस 'तटस्थता' की बात कर रहा हूँ वह कोई मूल्य नहीं है। दोनों ही शिविर के देशों से अधिक से अधिक क़र्ज पाने की यह याचक मुद्रा है जो दाताओं के अपराधों और उत्पीड़नों से संत्रस्त मनुष्यता को सही समर्थन देने में हमेशा कतराती रही है। इसके प्रति मेरे मन में जुगुप्सा है। विदेशी सहायता के ख़तरनाक प्रभावों पर पिछले दिनों 'क ख ग' की ओर से एक चर्चा आयोजित हुई थी और उसमें मुख्य स्वर यही सुनायी पड़ा कि ऋणी और दाता, सहायता और भिखारी के साथ-साथ जब यह आधुनिकीकरण बनाम विकास का रूप जा मिला है तो सारे देश में एक प्रकार की हीन भावना विकसित हो गयी है। इस हीन भावना और अपराजेय विवशता की स्थिति में देश का मनोबल, संकल्प-शक्ति और उसका आत्म-बल भी विघटित हुआ है। ('कल्पना' में लक्ष्मीकांत वर्मा की रिपोर्ट, दिसम्बर, १९६५, पृष्ठ ६८) उस लम्बी परिचर्चा में बहुत सी बातें हैं, बहुत से प्रश्न हैं, मगर बहुमत स्पष्ट ही इस बात को स्वीकारता है कि सहायता ग्रहण करने की प्रवृत्ति ने हमारी वैचारिक स्वतंत्रता को बाधित और विचार-प्रणाली को असंतुलित बनाया है। कुछ अपवाद हैं ज़रूर जो सहायताओं के पीछे छिपे हुए दाता-दंशों से बचने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ या किसी दूसरी एजेंसी के माध्यम से सहायता-वितरण का सुझाव देते हैं। एक मत यह भी था कि गरीबी की समस्या को देशों की सीमाओं में सीमित करके नहीं सोचना चाहिए। और यदि अमरीका ने इस दृष्टि से सोचना बंद कर दिया है तो आवश्यक नहीं कि हम भी इस दृष्टि से सोचना बंद कर दें, अगर हमारी राष्ट्रीय स्थिति ऐसी है कि शायद संपूर्ण संसार की ओर से सोचने का सेहरा हमारे ही सर आने वाला

है—अमरीका और रूस ने यदि सोचना बंद कर दिया है तो हमें कलेजा चौड़ा करके यह स्वीकार कर लेना चाहिए। ('क ख ग', अंक ८, पृष्ठ ९८) प्रसन्नता है कि हमारे बौद्धिकों में अब भी कुछेक ऐसे हैं जो कलेजा चौड़ा करने का अभ्यास आज भी जायज मानते हैं। घुटन को तोड़ने का एक तरीका यह भी है; मगर इसके लिए भी आत्म-विश्वास का आधार पैदा करना होगा क्योंकि कलेजा चौड़ा करने से 'भूख' की समस्या हल नहीं होगी। और आज तो हमारी दयनीयता इस सीमा तक पहुँच गयी है कि अन्नदाता हमारी बुभुक्षा से चिंतित होने लगे हैं। अमरीका के कृषि-विभाग के अधिकारी श्री लेस्टर ब्राउन ने भारतीय खाद्यान्न की स्थिति पर अपनी गुप्त रिपोर्ट में लिखा—'इस समय भारत हमारी सारी गेहूँ-उपज का एक बटा पाँच ले रहा है, शेष चार बटें पाँच अमरीका और दूसरे जरूरतमंद देशों के लिए बचता है, १९६७-६८ तक भारत हमारे गेहूँ का एक बटा तीन खा रहा होगा और १९७०-७१ तक आधा गेहूँ इन्हें ही देना होगा।' (टाइम्स ऑफ इण्डिया, २५, नवंबर, १९६५) इस रिपोर्ट से अमरीका के सरकारी हलकों में ऐसी हौलदिली छायी कि भारत के लिए माहवारी कोटे की व्यवस्था कर दी गयी। किसी भी देश की बुभुक्षा का ऐसा कटु मजाक संसार के इतिहास में शायद ही कभी किया गया हो। और जहालत हमें पीनी है क्योंकि इससे बचने का कोई विकल्प कहीं नहीं सूझता। हमारी लाइलाज दयनीयता अब दाताओं के लिए गुस्से और खीझ का कारण होने लगी है। स्वतंत्रता के बाद इस दौर में हमने पश्चिम से बहुत कुछ सीखा; वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आभास तो आया ही। और वह लाभप्रद भी था। पर यह आयात इस कदर का रहा कि इसकी बाढ़ में अपने पैरों के नीचे की जमीन बह गयी।

पाश्चात्य बौद्धिक भारत में आ कर जब हमारी इस अपरंपार ग़रीबी, गंदगी, अशिक्षा, चीख-चिल्लाहट को देखता और सुनता है तो जॉन वेन की तरह सोचता है—"भारत के सबसे भाग्यशाली निवासी पक्षी हैं—क्योंकि उन्हें धरती की गंदगी, दीनता, जहालत से थोड़ा ऊपर हट कर साँस लेने की छुट्टी मिल जाती है। इन भारतीयों की असंख्य निराश, नामहीन, दीन आकृतियों के बीच आ कर हम पश्चिमी लोग अपनी मनुष्यता को घायल अनुभव करते हैं, जिनके लिए वैयक्तिकता सर्वोपरि मूल्य है।" जॉन वेन से उनके एक पत्रकार मित्र कहते हैं—यदि हमें दस वर्ष शांति से रहने दिया जाय, तो हम फिर खड़े हो सकते हैं। जॉन वेन विद्रूपता में हँसते हैं—'हुँह, वह देखो, वहाँ, तुम्हारे हिमालय के उस पार करोड़ों करोड़ मानव-चीटियाँ, सभी सैनिक यूनिफ़ार्म में, एक युद्धक उन्माद से बँधी हुई, पसीना बहाती और बंदूकें लिये आगे को बढ़तीं।....फिर वे इस सारी स्थिति के प्रति अन्यमनस्क भाव से सोचते हैं—तो क्या साम्यवाद ही इसका एकमात्र उत्तर है? (एसेज ऑन लिटरेचर एंड आइडियाज, पृष्ठ २५०) जॉन वेन अपनी बौद्धिकता में डूबे यह सब सोच ही रहे थे कि एक लँगड़ी, गंदी, बीमार, बुभुक्षित लड़की डंडे के सहारे

ठक्-ठक् कूदती उनके सामने हाथ फैलाकर खड़ी हो गयी। वे उससे डर कर आगे चले मगर, वह अपने पेट पर हाथ पीटती, 'साहब वांग् वांग्, साहब वांग् वांग्' चिल्लाती उनके पीछे चलती रही। और उस रात होटल के खूबसूरत कमरे में भी वह दृश्य उनकी स्मृति में अँटकता रहा और वे बेचारे सो न सके।

जॉन वेन की धारणाओं पर हिन्दुस्तान में बड़ी-बड़ी कड़ी समीक्षाएँ आयीं। मगर मैं इसे अनुचित मानता हूँ। जॉन वेन सम्पूर्ण पश्चिमी बौद्धिकता के प्रतिनिधि हैं। वे लेखक हैं, इसलिए अपनी बात को कूटनीतिक आवरण में छिपाना नहीं चाहते। बात साफ है कि पश्चिम भारत के प्रति उदासीन हो चुका है। हम उनके बारे में जो भी सोचें वे यह मानते हैं कि इनके प्रति सहानुभूति दिखाना और इनकी सहायता करना अपने अस्तित्व को खतरे में डालना और व्यर्थ का बोझ ओढ़ लेना है।

पाकिस्तान के साथ हमारी लड़ाई के दिनों जब पश्चिम ने सैनिक सहायता बन्द कर दी, तो पूरा देश जैसे क्रोध और गुस्से में लहर उठा। प्रदर्शन हुए, राष्ट्रकुल छोड़ने की बातें हुईं, और जाने क्या-क्या कहा गया, पर लड़ाई खत्म हुई, भूख मुँह बाये सामने खड़ी दिखी तो बस भींगी बिल्ली की तरह हम चुप होकर बैठ गये। पश्चिम से पूरी तरह निराश होकर भी हम इस बार उन्हें एकदम समझ चुके हैं, ऐसा नहीं कहा सकता। हममें से अधिकांश को शायद यह विश्वास है कि पाकिस्तान के साथ लड़ाई में ही ऐसा हुआ है, चीन से लड़ाई हुई नहीं कि पश्चिमी सहायता जोर-शोर से आने लगेगी। आयेगी, मगर इतनी ही कि अमरीका और ब्रिटेन एशिया और अफ्रीका के निष्पक्ष राष्ट्रों को यह दिखा सकें कि वे चीन के विरुद्ध निर्बल राष्ट्रों की सहायता करने का सद्कर्म हमेशा करते रहते हैं। मगर चीन के विरुद्ध हमारे संघर्ष में उनका असली मंतव्य कुछ और ही है। ब्रिटेन अपनी व्यापाराना आसक्तियों के कारण कभी-कभी खुल जाता है, मगर आज नहीं तो कल, अमरीका भी यह स्वीकार कर लेगा कि चीन के विरुद्ध सक्रिय रूप से सामने आने की जरूरत नहीं है। जॉने वेन की उदासीनता को आप एक नौजवान बौद्धिक की बात कह कर मत टालिए। पश्चिमी जगत के सबसे महान बौद्धिक बर्ट्रेंड रसेल इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि चीन के विरुद्ध क्षेत्रीय झगड़ों में अमरीका और ब्रिटेन को कम से कम हिस्सा लेना चाहिए। वे यह सब कुछ आणविक युद्ध से विश्व को बचाने के महत् उद्देश्य से कहते हैं। आणविक युद्ध से हानि किसकी होगी ? ज़ाहिर है कि गोरी सभ्यता की। बुभुक्षित पूरब बचा तो क्या, न बचा तो क्या। इसलिए यदि एशिया में किसी देश का कुछ हिस्सा चीन हड़प ले तो उसके लिए इतना परेशान होने की क्या ज़रूरत है। और फिर 'पूरब'? बुभुक्षितों का यह भूखंड, अपनी विशाल आबादी के रूप में सारी गोरी सभ्यता के लिए ख़तरा है। इसलिए वे कहते हैं—"चीन एक भविष्योन्मुखी शक्तिशाली राज्य है। उतना ही शक्तिशाली जितना अमरीका या रूस। यदि अभी नहीं है तो कुछ ही दशकों में होने वाला है। यदि चीन आक्रामक रहता है

तो विश्वशांति कभी स्थापित नहीं हो सकती। अमरीका, यूरोप और रूस भी पूरब के इस संभावित आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए अभी से जागरूक हों तो ज्यादा अच्छा है। सच्ची सुरक्षा शस्त्रीकरण में नहीं, सहनशीलता में और विश्व-शांति के प्रति अभीप्सा में ही दीखती है।" (कामन सेंस एंड न्यूक्लियर वार फेयर, पृष्ठ ६४) इसके लिए क्या किया जाना चाहिए ? इसका उत्तर इसी पुस्तक के 'टैरिटोरियल एडजेस्टमेंट' नामक लेख में दिया गया है। जिसका सारांश यह है कि जिन भू-भागों पर चीन दावा करता है, उन्हें उसे दे दिया जाना चाहिए। अपनी इसी धारणा के अनुरूप रसेल ने भारत-चीन-संघर्ष में चीन के दावों का समर्थन किया। नेहरू की सारी श्रद्धा रसेल को इस भूमिका में खड़ा होने से रोक न सकी। भारत पाकिस्तान युद्ध में भी उन्होंने पाकिस्तान का समर्थन किया। अतः हमें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि जॉन वेन से रसेल तक, पश्चिमी बौद्धिक जगत् हमारे प्रति क्या दृष्टिकोण रखता है।

ऐसी कड़वाहट और खीझ की स्थिति में हमारे बौद्धिक वर्ग पर दो प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। पहली संपूर्ण समर्पण और चापलूसी की, दूसरी किंकर्तव्यविमूढ़ता की। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि यह कितना अच्छा है कि हिंदी प्रदेशों में अच्छी अंग्रेज़ी लिखने वाले नहीं हैं। वरना वे भी नीरद चौधरी की तरह गिड़गिड़ा कर कहते कि हे प्रभु लोगो, आप हमसे इतना नाराज़ क्यों हैं। हम हिंदू भी तो यूरोपीय ही हैं। अंतर सिर्फ़ इतना है कि हम इस वाहियात देश में आपसे कुछ हजार साल पहले आये। आपने तो देखा ही कि तीन सौ सालों तक भारत में रहने से अंग्रेज़ जाति किस प्रकार भ्रष्ट हो गयी। फिर हम तो कई हज़ार साल की भ्रष्टता को ढो रहे हैं। इसलिए क्या हमें आप क्षमा नहीं कर सकते ? 'आन अंडरस्टैंडिंग द हिंदूज़' नामक अपने निबंध में वे सारी दलीलें और आँकड़े उपस्थित करके कहते हैं—"संक्षेप में सारांश यह कि हिंदू भ्रष्ट यूरोपीय ही है। उसकी भ्रष्टता क्रूर, दमघोंट वातावरण के कारण और उस धरती की असली आदिवासी संततियों के सही और काल्पनिक संघर्षों के बीच बढ़ती रही है। यदि इस तथ्य को ठीक से हृदयंगम कर लिया जाता है तो मेरा ख्याल है कि पश्चिमी लोग हिंदुओं की कड़ी आलोचना करना छोड़ देंगे और हिंदू को भी अपने अंग्रेज़ भाइयों के दर्प और अभिमानपूर्ण आचरण से उतनी खीझ न होगी।" (एनकाउंटर, जून, १९६५, पृष्ठ ३२)

दूसरी प्रतिक्रिया 'नान्यःपंथाः' (नोएक्ज़िट) वाली है। जिसमें यह मान लिया जाता है कि जो जैसा चल रहा है, चले हम क्या कर सकते हैं। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा लिखते है—"आज इस प्रकार के नपुंसक चिन्तन ने हमारे देश के बौद्धिक वर्ग से एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय दायित्व छीन लिया है और वह स्थापित करने की चेष्टा की है कि वर्तमान स्थितियों में हमें विकल्प की छूट नहीं है, यह चिन्तन-प्रक्रिया जवाहरलाल नेहरू से प्रारंभ होती है।" ('कल्पना', दिसंबर, '६५, पृष्ठ ७२) मैं लक्ष्मीकांत जी के इस निष्कर्ष से शत-प्रतिशत सहमत हूँ यद्यपि हर स्थिति की जिम्मेदारी मरे हुए जवाहरलाल जी पर

डाल कर संतुष्ट हो जाने वाली प्रवृत्ति का मैं सख्त विरोधी हूँ। यह भी एक प्रकार का पलायन ही है। क्या राजनीतिक, क्या लेखक, क्या दूसरे, सभी अपनी असफलता की गठरी नेहरू के सिर पर रख कर खुश हो लेते हैं। यह एक क्षणिक विश्राम के लिए समस्याओं को खूँटी पर टाँगने जैसा होता तो कोई हर्ज न था, पर नेहरू के सिर पर सारा दोष थोप कर पूर्णत: बरी हो जाना उचित नहीं है। नेहरू इस युग के दिग्भ्रमित बौद्धिक के प्रतिनिधि मात्र थे। दोष पूरे भारतीय बौद्धिक जगत् का है। यह हमें जान लेना चाहिए कि नवलेखन, 'नान्य: पंथा:' वाला नवलेखन भी, इस नेहरू-युग की देन है; अनिवार्य देन। नेहरू को गाली देने के पहले आत्म-परीक्षण की आवश्यकता है। नेहरू पर सब कुछ डाल कर संतुष्ट हो जाने से आगे के चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध होता है।

यह सही है कि समस्याएँ अनंत है, उन पर सोचने-विचारने पर निराशा, थकान, कुढ़न के अलावा कुछ हाथ नहीं आता, पर सोचना, सचेत होना खुद में एक बहुत बड़ा निदान है। पाकिस्तानी लड़ाई के बाद सारे देश की आत्मा से एक भाव उठा। लाचारी, विवशता, अपमान और शौर्य से उन्मथित जन-मानस का स्वर था—आत्म निर्भरता। क्या यह आत्म-निर्भरता बौद्धिक या साहित्यिक क्षेत्र में भी कोई अर्थ रखती हैं? यदि आत्म-निर्भरता का अर्थ दूसरों से सम्बन्ध-विच्छेद कर के अपनी सीमा में सिमट जाना है, तो साहित्य के लिए यह व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी होगी। आज का कोई भी जीवित साहित्य कूपमंडूकता को अपना गंतव्य नहीं बना सकता। पर यदि इस आत्म-निर्भरता का अर्थ अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्व का सचेत निर्वाह हो, तो मेरा ख्याल है कि आधुनिक परिवेश में यह एक विचारणीय वस्तु अवश्य है। आज का नवलेखन जिन अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों की अनुवर्तिता कर रहा है, यानी कुंठा, पराजय, आत्महत्या, विखराव, विसंगति, आत्म-रति और बीटनीक अराजकता आदि की, वे हमारे आधुनिक परिवेश से संबद्ध सिर्फ वहाँ होते हैं, जहाँ हमारा बौद्धिक यह मान लेता है कि यह देश और समाज ध्वस्त और विनष्ट होने के लिए अभिशप्त है। यह एक पराजय है। हारने के पहले, युद्ध के पूर्व, हथियार डाल देने की यह क्लीवता किसी भी बौद्धिक वर्ग के लिए शोभा की बात नहीं हो सकती। सच तो यह है कि हम मानसिक पराजय के दिवास्वप्न से उत्पन्न प्रेत से भयभीत हो कर स्वेद से लथपथ और शिथिल जैसे हो गये हैं। एक मिथ्या अनुचिंतना का उधार बोझ हमने अपनी आत्मा पर लाद लिया है और उसे ही आधुनिक भावबोध कह कर उसकी सुखद मृगमरीचिका में खोये-खोये पड़े हैं। आज का साहित्य अपनी धरती से विमुख है। हम इधर बड़े गौरव के साथ कहते सुने जाते हैं कि पॉकिस्तानी लड़ाई के जमाने में हिन्दू-मुसलमानों के बीच कोई झगड़ा-फसाद नहीं हुआ। धर्मनिरपेक्षता हमारा बहुत बड़ा राष्ट्रीय मूल्य है। हर सचेत व्यक्ति जानता है कि हिंदू और मुसलमानों में आज भी कोई मानसिक ऐक्य स्थापित नहीं हुआ है। पिछले दिनों राउरकेला, पूना, कलकत्ता, अलीगढ़, सागर, जबलपुर आदि में दंगे हुए। काशी हिन्दू

विश्वविद्यालय से 'हिन्दू' शब्द निकालने के प्रश्न पर प्रदर्शन हुए और सरकार पीछे हटने को मजबूर हुई। इन सबसे सिद्ध है कि समस्या ज्यों की त्यों है। क्या आज के नवलेखन में इस समस्या पर पिछले १८ वर्षों में कुछ लिखा गया है ? क्या स्वतंत्रता के बाद इन दोनों क़ौमों के अंतरावलंबन पर एक भी कहानी, उपन्यास या कविता—कुछ भी हिन्दी में कहीं है ? यहूदियों की समस्या पर यूरोप के आधुनिक से आधुनिक साहित्यकारों ने जिस संवेदना और गहराई के साथ लिखा है, क्या वह हमारे लिए विचारणीय नहीं है ? सार्त्र, काफ्का आदि की अनेक रचनाएँ इस समस्या को सही ऐतिहासिक संदर्भ प्रदान करती हैं। जिस अन्न-संकट की आज सर्वत्र चर्चा है, जिसके कारण हमारी स्थिति अंतर्राष्ट्रीय भिखारी की ही गयी है, उससे क्या हमारे साहित्यकार का कोई वास्ता नहीं है? नकली आधुनिकता के मोह में, जो काफ़ीहाउसों, बार या फिर कमरे की घुटन में सीमित हो गयी हैं, हम अपने देश के सबसे विशाल वर्ग के प्रति प्रायः हो उपेक्षावान होते जा रहे हैं। क्या यह सही नहीं है कि किसानों के जीवन के प्रति आधुनिक भाव-बोध के क्षेत्र में कोई आकर्षण नहीं है ? मेरा यह कहना नहीं है कि साहित्यकार के लिए इन समस्याओं पर स्थूल ढंग से कोई चीज़ लिखनी ही चाहिए। मेरा सिर्फ इतना ही कहना है कि इन समस्याओं को आधार बना कर विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक लेखक अपने निकटतम समसामयिक परिवेश के विषय में सचेत नहीं है। आधुनिक भावबोध के मिथ्या नारे ने हमारे चिन्तन को नाना रूपों में कुंठित किया है और उसे समाज से काट कर अलग कर दिया है। चीनी आक्रमण के दौरे में क्या नवलेखन के पुरोधा मौन रहने को ही शुद्ध साहित्यिक उत्तरदायित्व नहीं मानते थे ? मुझे कभी-कभी बड़ा अचंभा होता था कि वे लोग जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा ले कर हिन्दी में आये, चीनी आक्रमण को विचारणीय प्रश्न ही नहीं मानते। जाहिर है कि चीनी आक्रमण के सही रूप और उसके सूक्ष्म खतरों के प्रति जागरूकता की आशा उन प्रगतिशील लेखकों से नहीं की जा सकती थी जो मत-सम्बन्धों के कारण उसके विरोध में नहीं जा सकते। आशा सिर्फ व्यक्ति-स्वातंत्र्य को धुरी मानने वालों से थी, पर वे यों मौन रहे जैसे चीनी आक्रमण उनके व्यक्तिवादी साहित्य का अभिषेक करने के लिए आ रहा है। इस तरह के मौन चुप्पी और व्यक्तिवादी आत्मरति का परिणाम है कि नवलेखन की परिभाषा और उद्देश्य अब यह बताया जाने लगा है—"जो लेखक का मूल्य और मर्यादाओं का आकलन करता है, चाहे टूटते हुए ही मूल्य क्यों न हों, रह रवायती होता है, रूढ़िग्रस्त होता है, समय के पीछे होता है। नवलेखन नये मूल्यों और नयी मर्यादाओं के आग्रह से भी मुक्त होता है।....ऐसा साहित्य पूर्णतः असंबोधित होता है। साहित्य संबोधित सिर्फ वही होता है जिसमें किन्हीं मूल्यों और मर्यादाओं को आकलित किया गया हो। जो किन्हीं दायित्वों के प्रति समर्पित हो। नवलेखन इसीलिए संबोधित नहीं होता, और प्रतिश्रुत भी नहीं हो सकता।" ('क ख ग', ६, पृष्ठ ८३)। नवलेखन का

कोई दायित्व नहीं है। नवलेखन लादे हुए, बलात् आरोपित युद्ध के प्रतिरोध पर कुछ कहना नहीं चाहता। नवलेखन देश की जीवित समस्याओं पर सोचना नहीं चाहता, यथार्थ की ठोस जमीन पर खड़ा होना नहीं चाहता, तो फिर वह जीना क्यों चाहता है?

नवलेखन के संबंध में ये अतिरेकी धारणाएँ पश्चिम के अराजकतावादियों के वक्तव्यों का भारतीयकरण मात्र हैं। पश्चिम में ये धारणाएँ स्वयं इस छोर पर पहुँच गयी हैं कि लोगों को वहाँ संदेह होने लगा है कि पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति कुछ रोज़ और भी जी सकेगी क्या? इस संदर्भ में मैं पी० ए० सारोकिन की पुस्तक 'द क्राइसिस ऑफ़ आवर एज़' की चर्चा करना चाहूँगा। आधुनिक-युग-संकट को उन्होंने 'इंद्रियबोधपरक संस्कृति का संकट' (क्राइसिस ऑफ सेन्सेट कल्चर) कहा है। उन्होंने ग्रीक, रोम तथा शेष यूरोप की इतिहासव्यापी विभिन्न संस्कृतियों के विश्लेषण तथा उन कालों में घटित होने वाले युद्धों और उनके परिणामों आदि का अध्ययन कर के यह निष्कर्ष निकाला है कि इंद्रियबोधपरक संस्कृति युद्ध और खूनी क्रांतियों के लिए सर्वाधिक उर्वर भूमि है और पश्चिम में व्याप्त यह बीमार खोखली संस्कृति यदि शीघ्र नष्ट हो कर तर्कमूलक विचार-प्रधान संस्कृति (आइडियाश्नल कल्चर) में बदल नहीं जाती तो २०वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भयानक युद्धों और नरमेध का अध्याय बन जायगा। यह सर्वाधिक खूनी शताब्दी का सर्वाधिक खूनी संकट है। युद्ध, क्रांति, बिखराव, आत्महत्या, मानसिक रोग, ग़रीबी, अकाल, इस संकट के लक्षण और यही परिणाम हैं। इंद्रियबोधपरक कला सतही, शारीरिक सस्ते इंद्रियबोधों से प्रेरित और बीमार मन का प्रलाप है। इंद्रियबोधात्मक कला की दूसरी व्याधि यह है कि वह प्रायः स्नायविक उत्तेजना तक ही सीमित है। तीसरी व्याधि यह है कि यह कीटाणुग्रस्त व्यक्तियों के अस्वस्थ जीवन के अंकन को ही अपना ध्येय मानती है। यह मुख्यतया 'पैथोलॉजिकल' यानी कीटाणुविकृत कला है। चौथी व्याधि यह कि इसका मुख्य लक्ष्य असंतुलन और बिखराव पर केन्द्रित है। यह संस्कृति ध्वंस के कगार पर इसलिए है कि अपने विचित्र और सीमित क्षेत्र में भी सर्जन की शक्ति खो चुकी है। जिन परिस्थितियों ने राजनीति में कम्युनिस्टों और तानाशाहों को जन्म दिया है, उन्हीं ने कला के क्षेत्र में मूल्यमूढ़ आधुनिकतावादियों को।" (द क्राइसिस ऑफ़ द फ़ाइन आर्ट्स, पृष्ठ ३०-७९) मेरा ध्रुव विश्वास है कि यदि नवलेखन के क्षेत्र में इसी प्रकार मूल्यमूढ़ता और समसामयिक परिवेश से उदासीनता बनी रही तो उग्र साम्यवाद और क्रूर तानाशाही के लिए भारत से अधिक उर्वर क्षेत्र और शायद ही कहीं मिले। इस संकट से बचने का सारोकिन ने एक फ़ार्मूला भी दिया है। उनका कहना है कि इस रोग से मुक्ति बहुत आसान नहीं है, बचाव का एकमात्र पथ है—संकट (क्राइसिस)→अग्निस्नान (आरडोयल)→विरेचन (कैथारसिस)→अनुकूलता (चारिज़्मा)→उदय (रीसरेक्शन)।

इंद्रियबोधात्मक कला युद्ध की विभीषिका में पड़ेगी ही, क्योंकि वही उसका परिणाम

है। और ज्यों-ज्यों जनता इस विभीषिकाओं में अग्निस्नान करती जायगी, त्यों-त्यों इस खोखली मूल्यहीन संस्कृति की व्यर्थता उस पर स्पष्ट होती जायगी। इसके मोह का विरेचन होगा ही। और फिर जीवन की सही सर्जनात्मक शक्ति के लिए 'अनुकूलता' प्राप्त होगी और फिर एक विचारप्रधान सही संस्कृति का उदय होगा। अपने इस लंबे प्रबंध के अंत में सारोकिन चेतावनी के स्वर में कहते हैं—"जितना ही अधिक हम अपनी कुछ न सीखने की ज़िद पर अड़े रहेंगे, और जितना ही अधिक हम स्वतंत्र रूप से इच्छापूर्वक अपने को बदलने से इन्कार करेंगे, उतना ही अधिक पीड़ामय शोषण का दौर होगा, उतना ही क्रूर अग्निस्नान का अनुभव होगा, और उतनी ही निर्मम परिवर्तनकारी शक्ति की चपेट होगी। आशा है कि हमारी पीढ़ी समझ का परिचय देगी ताकि हम समय रहते उस पथ को चुन सकें जो हमें अनिवार्यतः मृत्यु की ओर नही, बल्कि मनुष्य की सर्जन-शक्ति के अनुद्घाटित क्षेत्रों की ओर ले जाता है।" (द क्राइसिस ऑफ़ आवर एज, पृष्ठ ३२६)।

ऐसी है स्थिति उस सभ्यता और संस्कृति की, जिसकी वैचारिक उपलब्धियों की अनुवर्तिता करने को ही हम अपना पुनीत ध्येय माने हुए हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से अचानक तीन-तीन बार जो हम युद्ध के निकट पहुँचे, उसका कारण क्या है। मुझे सिर्फ एक कारण दीखता है, वह है सर्वत्र व्याप्त असीम कायरता। क्या नवलेखन इसी कायरता की अनिवार्य उपज है? यह भी एक विचारणीय सवाल है। इसे नवलेखन ने कितना बढ़ाया या घटाया, यह भी एक अहम प्रश्न है। मैं श्री रघुबीर सहाय से पूर्णतः सहमत हूँ कि "आज सामूहिक कायरता मानवीय साहस के लिए, हमारे देश में, जितना बड़ा ख़तरा बन गयी है उतना हमारी जान में कभी न थी। वे स्पष्ट आग्रह करते हैं, यह संकट हर स्तर पर कला के, विज्ञान के हर कर्ता से कुछ तक़ाज़ा करता है। वह है सामूहिक कायरता के विरुद्ध व्यक्ति के साहस के प्रयोग का तक़ाज़ा। आज के संकट का सबसे तीखा एहसास तो यह है कि हम लेखक और बुद्धिजीवी देश की इस घुटन को तोड़ने में शामिल नहीं हो रहे है।" (आज के संकट में एक ख़ास आदमी की ज़िम्मेदारी, 'माध्यम', दिसम्बर १९६४, पृष्ठ ८५-८६) मेरा ख़याल है कि हमारा बौद्धिक या साहित्यकार इस दिशा में कुछ कर सकने का सामर्थ्य रखता है। और वह यदि अपने कर्तव्य और अधिकार को ठीक से समझे तो मुझे पूरा विश्वास है कि उसे जनता का सहयोग भी मिलेगा। यह चूँकि, राज्य, पार्टी, सेठाश्रय, गुट, आदि से अलग रह सकता है, इसलिए वह पूर्ण निर्भीकता के साथ सत्य को सत्य कह सकता है। उसका अपनी पूरी ताक़त और ईमानदारी से ऐसा कहना खुद में एक शक्ति है। कायरता से मुक्ति पाने का अर्थ भावुकतापूर्ण युद्धोन्माद नहीं है, बल्कि सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक, आंतरिक तथा बाहरी अन्यायों से संघर्ष करने की आवश्यकता है। सभी प्रकार के मिथ्या आदर्शों और आरोपित कृत्रिम मूल्यों से अलग रहते हुए,

यथार्थ की गहरी पकड़ और जीवन के प्रति अदम्य संसक्ति के द्वारा ही इस कायरता पर विजय पायी जा सकती है। ऐसा करके ही हम सचमुच कुछ 'नया' दे पायेंगे। नवलेखन की एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने एक ऐसा भाषा-माध्यय आयत्त कर लिया है जो सीधा, तीखा, सशक्त और सभी प्रकार की बनावटी और कृत्रिमताओं से रहित है। माध्यम की नवीनता आज उपलब्ध है, पर कथ्य की नवीनता अभी अनुपलब्ध है। कुंठा, नपुंसकता, कायरता, आत्महत्या आदि चीजें इस देश में बहुत पुरानी हो गयी हैं। निरंतर बाहरी आक्रमणों के सामने पिटते हुए देश की निराशा और हज़ारों-हज़ार की सामूहिक आत्महत्या के जौहर से पिछले इतिहास के पन्ने के पन्ने भरे हैं। मैं डॉ० लोहिया के इस कथन से सहमत हूँ कि "पिछले हज़ार बरस से हिंदुस्तानी नपुंसक रहा है" (भारत, चीन, और उत्तरी सीमाएँ, पृष्ठ २९६) इसलिए कायरता और नपुंसकता की निराशामय अभिव्यक्ति में क्या नवीनता आ सकती है? कायरता एक रूढ़ परम्परा बन गयी है जिसे हम हज़ारों बरसों से ढोते आ रहे हैं और इस परंपरा को तोड़ने का श्रेय नवलेखन के परंपरा-विरोधियों को नहीं, स्यालकोट और लाहौर क्षेत्रों में जूझते हमारे सैनिकों को प्राप्त है। उन्होंने अपने खून से जो नयी कविता लिखी, क्या उसके लिए देश में कहीं भी पाठकों का अभाव रहा है? यह है नयी कविता का अभयवाद!! नव सर्जनवाद!!

अंत में मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि आज के बौद्धिक का एकमात्र कर्तव्य यह है कि वह इस महान किन्तु संकटग्रस्त राष्ट्र के ईमानदार नागरिक की हैसियत से, अपने पास जो कुछ भी सर्जनशक्ति है, उसके माध्यम से, व्यापक सहयोग और परिश्रम का अवदान देते हुए, अपने व्यक्तिगत और समाज के प्रति समूहगत उत्तरदायित्व को निभाने के लिए सचेत रहे। वह अपने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा करते हुए, अपने कार्यों के लिए खुद जबाबदेह बनते हुए, जनता के इज़लास में खड़ा होकर अपने कर्तव्य के औचित्य की साक्षी दे सके। इस दिशा में उसका आत्म-विश्वास कभी डिगे नहीं, यही हमारी एक-मात्र कामना हो सकती है। ● ●

नान्यः पंथाः

सामने के दरवाजे से वह मटमैली चहारदीवारी दीखती है । यह इस पुराने मकान की पुरानी हद है । इस तरफ़ दालान में मैं हूँ, सामने उस तरफ़ आँवले के दो पेड़ और उनके बीच नीम की नयी छतनार गाछ । ऊपर साफ़ नीला आसमान है । डूबने के पहले के सूरज की मुलायम चिकनी रोशनी । दरवाजे के बाजू में टँके तिकोने आसमान में कुछ पंछी उड़ते हुए चले जाते हैं । वे कहीं से आ रहे हैं, कहीं जा रहे हैं । ऐसा ही रोज़ होता है । वे ही पेड़, वही आससान, वही हवा । फ़र्क सिर्फ पंछियों में होता है, उनके उड़ने ढंग या तरीके में नहीं । मैं भी वही हूँ । वही । कितना वही ? यह मैं खुद नहीं जानता, क्योंकि सोचने या चिन्ता करने का काम रंगों के घोल में कपड़ा डुबाने जैसा नहीं है कि डूबने के निशान शिनाख्त बन कर साक्षी दे सकें । इसलिए मैं यदि चाहूँ भी तो अपने तन-मन पर पड़ी रंगों की पर्तों को अलग कर के नहीं दिखा सकता । कुछ भी कहीं रँगा नहीं है, सब कुछ तो वही है, पर लगता है कि कहीं कुछ बदल गया है । कुछ हो रहा है, जो पकड़ में नहीं आता ।

यह कितने अफ़सोस की बात है कि मैं एक साहित्यकार हूँ, गांधी के देश का नागरिक; पर मैं युद्ध चाहता हूँ । युद्ध····युद्ध····युद्ध····

एक विदेशी पत्रकार ने बड़े व्यंग्य से लिखा कि हिन्दुस्तान के शहरों में, रेडियो से युद्ध के समाचार सुन कर लोग खुशी से तालियाँ बजाते हैं । उन्हें युद्ध का अर्थ नहीं मालूम । युद्ध का सही अर्थ यूरोप से पूछो, उस यूरोप से जिसके बीमार, जर्जर शरीर पर आज भी बारूदी लपटों के बदबूदार चकत्ते उभरे हुए हैं....।

किन्तु इस युद्ध ने जो बहुत से अवबोध हममें जगाये हैं, उनमें एक यह भी तो है कि लोकतंत्र के जन्मदाता, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की शपथ का ढिंढोरा पीटने वाले पश्चिमी अखबारों के संवाददाता असल में युद्ध की विभीषिका से उतने परेशान नहीं हैं, जितने इस बात से कि रातों-रात एक भारी-भरकम शरीर वाला गजराज अंकुश की अवहेलना कर इस तरह अचानक दहाड़ कैसे उठा ! और गोरे साहब लोग जो बगल में कैमरा लटकाये थर्मस में कॉफी भरे बड़ी उमंग से, हौदे पर उठँग कर, गर्वीली मुस्कराहट में खोये-खोये, शिकार के नाम पर घने जंगल में पिकनिक के लिए निकले थे, लुढ़क कर नीचे गिर गये । पहले तो महावत पर तमतमाये, तभी हाथी ने सूँड़ उठा कर फिर चिग्घाड़ ली, तो वे परेशान, भयभीत पेड़ के तने के पीछे दुबक कर फुसफुसाये—"पागल हो गया है शायद । देखो न कैसा सूँड़ उठा कर, धूल के गुबार फेंकता, गुरगुरा रहा है ।"

स्वतंत्र सत्ता के बोध का यह प्रथम गुरग्गुरावर्त कल्लोल सुन कर उन्हें पसीना छूटने लगा और वे वहाँ से भाग कर होटलों में लौट आये और सारे संसार में ढिंढोरा पीटने लगे कि भारत पागल हो गया है। युद्ध चाहता है। हाँ, हम युद्ध चाहते हैं। स्वतंत्र राष्ट्र का यह प्रथम गुरग्गुरावर्त कल्लोल हमें विश्वास दे....कि युद्ध के अलावा कोई विकल्प शेष नहीं है.... ।

युद्ध बुरा होता है, बेहद बुरा, इसे हम भी जानते हैं। उस दिन राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने कितनी संजीदगी से कहा था—"हम युद्ध नहीं चाहते, हम इस व्यर्थ के रक्तपात को रोकना चाहते हैं, जो हमारे दोनों देशों की तरुणाई के फूलों को मसल रहा है। हमें बर्बादी और ध्वंस से घृणा है। युद्ध कुटुम्बों को छिन्न-भिन्न करता है, मानव साधन और शक्तियों को ध्वस्त करता है और अनिवार्यतः हमारे बीच से नौजवानों को छीन लेता है। आत्मरक्षा के लिए आवश्यक युद्ध भी एक बुरी चीज़ है और मानवता के लिए ख़तरा है। यह किसी के लिए भी अच्छा नहीं होता; क्योंकि यह कड़वाहट, संदेह और भय को जन्म देता है तथा मानव-निर्माण के सारे प्रयत्नों को असफल बनाता है।"

युद्ध के दौरान इस बूढ़े दार्शनिक ने क्षत-विक्षत राष्ट्र के नाम तीन-तीन संदेश-प्रसारित किये। प्रत्येक बार मैंने अनुभव किया कि जोश को ग़लत दिशा में बहने से रोकने के लिए किसी ने ज्योति का रक्षा-कवच दे दिया है। प्रत्येक बार जैसे यह थरथराती हुई आवाज़, सीने में संपूर्ण मानवता की मंगल-कामना और उच्चता के भावों को समेट कर, गोलियों की बौछार और लपटों की लपेट से जूझते हमारे नौजवानों के शीश पर वरदहस्त रख कर कह रही है कि मामनुस्मर युद्ध च। स्मरण उसका जो हमारी मानवता की अखंड यात्रा का ध्रुव बिंदु रहा है—स्मरण स्वतंत्रता का, सत्य का, धर्मनिरपेक्षता का, न्याय का, मानव-नियति और विश्व-बंधुत्व का। किन्तु जहाँ ये भाव और आदर्श ही उन्मूलन के ख़तरे से घिरे हों, वहाँ बस एक ही रास्ता है, अंतिम स्वाभिमानपूर्ण मनुष्यत्व का रास्ता—युद्ध ! युद्ध ! ! युद्ध ! ! !

मैं जानता हूँ कि ऐसी निमग्नता के साथ युद्ध का समर्थन साहित्यकार के कर्म और धर्म के विपरीत है। मेरी आत्मा में ख़ुद अपने ही मानस से उत्पन्न इस क्षोभ के प्रति घृणा और ग्लानि का भाव जग पड़ता है। एक क्षण के लिए मैं अजीब उदासी की लहर में घिर जाता हूँ। सहज जीवन की शांति (भले ही वह शांति मुर्दनी का ही रूप हो) और एक उद्वेलित विदीर्णकारी स्थिति के बीच लटकती हुई हिचक मुझे दबोच लेती है। मेरी स्थिति उस रोगी की है जो 'ऑपरेशन' की मेज़ पर जाने के पहले एक अजीब मोहग्रस्त पशोपेश की हालत में होता है। रोग से छुटकारा 'ऑपरेशन' ही दिला सकता है; किन्तु 'ऑपरेशन' हमेशा ही एक कँपा देने वाली आशंका से जुड़ा होता है कि जाने इसमें अस्तित्व ही समाप्त न हो जाय।

२

किन्तु रोगी 'ऑपरेशन' की विभीषिका के डर से 'ऑपरेशन' की मेज़ से क्यों नहीं हट जाता ? क्योंकि उसे अपनी आत्मा और मन को तोड़ने वाली, तथा रह-रह कर असह्य पीड़ा और श्वासरोधक छटपटाहट में फूट पड़ने वाली बीमारी का पूरा एहसास होता है। 'ऑपरेशन' की मेज़ से घबराहट सिर्फ़ उन्हीं को होगी, जो सचमुच बीमारी को और उसकी असह्य पीड़ा को ठीक से समझते नहीं।

हर बीमारी आरंभिक दिनों में, शुरू के महीनों में चिंता, क्षोभ और घबराहट का कारण होती है। बीमार को लगता है कि अनजाने कहीं से आकर एक घिनौनी छाया उसके बदन से चिपक गयी है, वह उस अदृश्य को मुट्ठियों में भर-भर कर, नोच-नोच कर अपने से अलग कर देने के लिए पूरी कोशिश करता है। मानसिक विप्लव की यह स्थिति बीमार को जीने की अभीप्सा और रोग से मुक्ति पाने की इच्छा-शक्ति देती है, किंतु यदि बीमारी दूर न हो और रोग की यह अदृश्य छाया निरंतर गाढ़ी होती जाय तो धीरे-धीरे थका मन इससे समझौता कर लेता है और अपने को कातर शिशु की तरह इस घिनौनी छाया की गोद में सौंप देता है। मैं समूचे विश्व के कल्याण और मानवता के प्रति सदिच्छा की थोथी कल्पनाओं के मोह के वशीभूत होकर यह कामना कदापि नहीं कर सकता कि अपने बीमार देश को मौत की गोद में सौंप देने के 'वैष्णवी' कर्म का समर्थन करूँ। इसलिए मैं देश पर लादे हुए इस युद्ध के उत्तर में युद्ध का समर्थन करता हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि मेरा देश बीमारी के पूर्णतः वशीभूत नहीं हो गया है, कि मुझे लगता है कि उसकी मानसिक प्रक्रिया एकदम कातर या थकी नहीं है, कि वह अब भी अपने अस्तित्व के लिए चिंतित, क्षुब्ध और आंदोलित हो सकता है।

मनुष्य के कर्म का निर्णय, विश्वमत और न्याय—ये चीज़ें हमेशा ही बड़ी सूक्ष्म, आकर्षक, महत्वपूर्ण और आदरणीय प्रतीत होती हैं। इकाई इनसे जुड़ कर, इनका समर्थन पाकर अपने को सार्थक समझती है। किंतु सत्य और असत्य का निर्णय आधुनिक विश्व में निरंतर एक पेचीदा, कष्टसाध्य और अप्रीतिकर प्रक्रिया की चीज़ होता जा रहा है। आधुनिक जीवन का सबसे बड़ा लक्षण शायद यही है कि सत्य को बिना मिलावट के कहीं उपलब्ध कर पाना असंभव है। क्या यह सत्य नहीं है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है ? क्या यह सत्य नहीं है कि भारत में पाँच करोड़ से ऊपर मुसलमान रहते हैं और उन्हें भारतीय संविधान की ओर से प्रत्येक हक़ प्राप्त है, जो किसी भी दूसरे भारतीय नागरिक को मिले हैं। क्या यह सत्य नहीं है कि इस आदर्श की रक्षा के लिए अनेक बार सांप्रदायिक दंगों में हिंदू और मुसलमान दोनों को प्रियतर वस्तुओं का बलिदान करना पड़ा है, किंतु इस आदर्श की सार्थकता में कभी उनका विश्वास कम नहीं हुआ है। क्या यह सत्य नहीं है कि विश्वमत के प्रति श्रद्धा से प्रेरित होकर नेहरू ने कश्मीर पर प्रथम पाकिस्तानी आक्रमण के प्रश्न को न्याय पाने की इच्छा से सुरक्षा परिषद में रखा था। क्या यह सत्य नहीं है कि सुरक्षा परिषद ने हमेशा अमरीका और ब्रिटेन

जैसे स्वार्थसेवी राजनीतिक गुटबाज़ों के दबाव से कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान का यानी अन्याय का समर्थन किया है। क्या यह सत्य नहीं है कि साम्यवादी रूस ने हमेशा भारत को मित्रतापूर्ण समर्थन दिया और साम्यवादी चीन पाकिस्तान के साथ साँठ-गाँठ करके हमारे देश के अभिन्न प्रदेशों को बंदरबाँट के तराज़ू पर चढ़ाना चाहता है। क्या यह सत्य नहीं है कि चीन की इस पहल के कारण रूस का समर्थन पहले से अधिक राजनयिक और पेचीदा होता जा रहा है। क्या यह सत्य नहीं है कि संसार के बहुतेरे मुस्लिम राज्य भारत को हिंदू राष्ट्र मानते हुए पाकिस्तान का समर्थन करते हैं। क्या यह सही नहीं कि हम इतने कमज़ोर हैं कि ठीक से पेट-भर भोजन पा सकने की भी हमारी स्थिति नहीं है। क्या यह सही नहीं है कि देश में, भ्रष्टाचार, कुनबापरस्ती, घूसखोरी, कालाबाज़ार, भाषा-संघर्ष, सांप्रदायिकता और जातिवाद पहले से अधिक बढ़ा है। क्या यह सही नहीं है कि इन्हीं स्थितियों के कारण हर मौक़े पर हम विदेशी आक्रमण के समय अपमानपूर्ण शांति को स्वीकार करने के लिए विवश होते रहे हैं, ऐसी अवस्था में इस जर्जर, ग़रीब, बीमार देश के लिए करणीय क्या है? कौन सा रास्ता है, जो हमें शारीरिक बुभुक्षा, मानसिक ग्लानि, अपमान और दीनता तथा राजनीतिक द्विविधा और विश्वमत के अविश्वास और उपेक्षा से बचा सके? सिर्फ़ एक रास्ता है कि हम चुपचाप ढालुवें पर गिरती गाड़ी को देखते रहें, और उसके साथ ही पतन के गर्त में गिर कर चकनाचूर हो जायँ। जो कुछ भी इस देश के साथ घटे, घटने दें और हर स्थिति को, अपनी भवितव्यता मान कर उसी से समझौता कर लें। चीन हमला करे, हम पिट जायँ, पाकिस्तान कच्छ रण्ण पर चढ़ दौड़े, हम मौन रह जायँ—क्योंकि तभी हम विश्व के सामने गांधी के शांतिप्रिय देश के विश्व-कल्याणकामी नागरिक के रूप में व्यंग्यभरी मुस्कराहट और मूर्ख बनाने वाली शब्दावली में मौखिक प्रशंसा पाते रहेंगे। किंतु मुझे प्रसन्नता है कि हमारी जनता में इस प्रकार के 'बड़प्पन' को स्वीकार करने की असीम कातरता नहीं है। थोथे आदर्श, प्रेम और सत्याभास के जंगल में जो मार्ग खो गया है, उस पर चलते रहने की उसमें धीरता नहीं है, कर्तुमकर्तुम् की दमघोंट स्थिति में वह मरना नहीं चाहती। पिछले अट्ठारह वर्षों से भारतीय जीवन को आचार-संहिता लुप्त हो गयी थी, नाना प्रकार के निरर्थक नारों में हमारे जीवन का 'सद्ग्रंथ' खो गया था।

हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परइ नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद तें, लुप्त होहिं सद्ग्रंथ॥

आज देश ने कश्मीर प्रश्न को पाखंड विवाद के कीचड़ से निकाल लिया है। आज हमारी जनता अपनी आचार-संहिता, अपने 'सद्ग्रंथ' पर थोपे गये कीचड़ को अपने ख़ून से धो रही है। आज दीनता, जहालत, ग़रीबी, वैमनस्य, बेईमानी और कायरता के बंधन तड़तड़ा कर टूट गये हैं। यह नया विश्वास क्या नहीं कर सकता! इस अदम्य अभीप्सा को मैं तुच्छ कैसे मान लूँ। इस अपूर्व मानव-चेतना को व्यर्थ कहने की शक्ति

मेरे साहित्यकार में नहीं है। यह सब कुछ यदि क्षणिक भी है, तो भी यह मनुष्य का सर्वोत्तम काव्य है, मैं इसी कारण इसकी अभ्यर्थना करता हूँ। यह शक्ति जाग्रत हुई है। यह आध्यात्मिक अग्नि है। यह मनुष्य को, समाज को, देश को पूर्णतः बदल देती है। इसी कारण यह सबसे उसके सर्वोत्तम की माँग करती है। यह ढीला-ढाला शिथिल, यथावत् स्थिति से मोह करने वाले जीवन की विरोधी है। यह कायरता, निराशा, छल-कपट, अन्याय, कालाबाजार, भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, सबकी विरोधी है, क्योंकि यह चैतन्य का अंश है, जो कभी भी तामसिक धूम के आवरण में ढँका नहीं जा सकता। यह अग्नि शासन ने नहीं जलायी है। किसी पार्टी या दल का यह अनुष्ठान नहीं है। यह सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र के सामूहिक मानस-लोक से प्रस्फुटित हुई है। यह कभी धूमिल, कभी मंद, कभी अदृश्य भी हो सकती है, किन्तु यह कभी बुझ नहीं सकती और यदि इसे ठीक से पहचाना न गया और इसे मतलब साध कर पुनः दबाने की कोशिश की तो यह भस्मासुर का रूप भी ले सकती है। यह पूर्ण क्रांति की शुरुआत है। यह युद्ध संकल्प है, यज्ञ है; इसमें प्रत्येक अधिकारी को, शासक को, स्वार्थ के ऊपर उठना होगा। हमें समूह मानव के लिए स्वार्थी धारणाओं का बलिदान करना ही होगा।

भारतीय सैनिकों की शौर्य-गाथाओं से आज जन-गण उद्दृप्त है। बढ़िया और श्रेष्ठ युद्ध-सामग्री और हथियारों से लैस शत्रु-सेना छिन्न-भिन्न हो गयी है। कसूर और सियालकोट क्षेत्रों के टैंक-युद्ध द्वितीय महायुद्ध में रोमेल द्वारा संचालित बख्तरबंद सेनाओं के विकट युद्ध की याद दिला रहे हैं। अमरीकी अभेद्य पैटन टैंकों की धज्जियाँ उड़ गई हैं। यह सब कैसे हुआ? दिल्ली स्थित दूतावासों के सैनिक सलाहकार परेशान हैं। अमरीकी पैंटागन चिंतित हैं। यूरोपीय सैन्य संधि 'नाटो' से सम्बद्ध युद्ध-विशेषज्ञों की संस्था 'शेफ' आँकड़ों का परीक्षण कर के दाँतों तले उँगली दबा रही है। पश्चिमी जगत् की युद्ध-सामग्री-निर्माता वणिक्-संस्थायें चकित हैं। उनकी विश्वविख्यात युद्ध-सामग्री और अस्त्र-शस्त्रों का ऐसा घटिया विज्ञापन शायद ही कभी हुआ हो। सभी पूछते हैं कैसे ऐसा हुआ? क्या भारत ने किसी अद्भुत नये अज्ञात ढंग के क्षेप्यास्त्रों का आविष्कार किया है? क्या टैंक-तोड़क वजूका में अणु-शक्ति का अंश निहित है? जितने मुँह, उतनी अफ़वाहें। लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। भारत ने कोई अज्ञात शक्तिशाली हथियार नहीं बनाया है। ये टैंक किसी अद्भुत ध्वंसक अस्त्र से नहीं टूटे हैं न किसी करिश्मे से। ये टूटे हैं उसी चैतन्य शक्ति के द्वारा, जो अपमानित, पीड़ित, निराश और कातर जनमानस में अचानक फूट पड़ी है। मैं साहित्यकार हो कर इस चैतन्य शक्ति की उपेक्षा करना, अपने कर्तव्य की अवहेलना मानता हूँ।

भारत के प्रधान मंत्री ने कहा है—"जवान अपना खून दे रहे हैं, किसान पसीना दें।" प्रधान मंत्री के इन शब्दों के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ। किन्तु जिन्होंने ज्यादती की है। ज्यादती यह नहीं कि उन्होंने किसानों से पसीना माँगा है। ज्यादती यह कि उन्होंने

किसानों से ही खून और पसीना दोनो माँगा है। जवान सैनिक पोशाक में किसान ही तो हैं। अब्दुल हमीद या आशाराम त्यागी या भूपेंद्र सिंह या इनकी तरह के वे सैकड़ों, जिन्होंने सीना अड़ा कर तोपों के गोले झेले, कौन थे ? वह, जिसने बाप की आँसू भरी आँखों में झाँक कर कहा था कि बब्बू, देख लो, गोली कहीं पीठ पर नहीं लगी है, कौन था ? वह जो वैदौर की पहाड़ी को सर करचे पीर साहिबा की चोटी पर पहुँचने के लिए उतावला था, रणजीत सिंह दयाल, पगला कप्तान, कौन है ? ये सभी तो किसान हैं। हम इन्हीं से खून भी माँगते हैं, इन्हीं से पसीना भी। और यद्यपि आज हिसाब-किताब का समय नहीं है, फिर भी क्या देश की सरकार से पूछा जाय कि पिछले अट्ठारह वर्षों में आपने इन किसानों के लिए क्या किया ? क्या यह सही नहीं है कि पिछले अट्ठारह वर्षों में ये निरंतर प्रतीक्षा करते रहे कि उनके भी दिन लौटेंगे। एक न एक दिन शासक यह जानेंगे कि किसान भी भारत का ही एक दीन-हीन जन-समूह है, जिसकी भी कुछ आकांक्षाएँ और कामनाएँ होती हैं। किंतु वे प्यासे चातक की तरह स्वाती-घन की आशा लगाये ही रहे, उनकी धरती पर कभी कृपा की बूँदें नहीं गिरीं। अब्दुल हमीद का पूर्वी उत्तर प्रदेश आज भी पशुओं के गोबर से अन्न के दाने बीन कर खाता है और आप हैं कि अब्दुल हमीद की मृत्यु के बाद गाँव और सड़कों और स्कूलों के नाम बदल कर अपने कर्तव्य को पूरा हुआ मान कर संतुष्ट हो जाते हैं ? यदि वाकई हमें किसानों से खून और पसीना दोनों चाहिए, तो हमें इतना ख्याल तो करना ही होगा कि वे इन दोनों को दे सकने की स्थिति में तो रहें।

इस युद्ध के दौरान एक और बात देखने में आयी। दिल्ली की 'संज्ञा' ने एक साहित्यकार-गोष्ठी की, जिसमें इस बात पर विचार किया गया कि युद्ध से साहित्यकार का कोई संबंध होता है या नहीं। गोष्ठी में एक पक्ष यह भी उभरा कि युद्ध साहित्य विरोधी चीज़ है। सच्चा साहित्यकार हमेशा ही इस बात पर ध्यान देता है कि कला और सौंदर्य की रक्षा हो। इधर हिन्दी में भड़भड़िया काव्य बहुत लिखा जा रहा है। चूँकि इस तरह की स्थिति पर लिखा काव्य कभी महान् नहीं होता, इसलिए सच्चे और बड़े साहित्यकार इस तरह के कामों में दिलचस्पी नहीं लेते। चीनी हमले के दिनों में चित्रकार डी० सूजा से पूछा गया था कि इसकी आप पर क्या प्रतिक्रिया हुई तो उन्होंने कहा कि मैं तो सिर्फ एक ही युद्ध में दिलचस्पी लेता हूँ वह है चित्रफलक पर विभिन्न रंगों का युद्ध। बहरहाल डी० सूजा को दिलचस्पी का एक युद्ध तो मिला, किंतु हमारे बड़े और सच्चे साहित्यकार तो युद्ध नाम से ही कतरा गये और 'कला और सौंदर्य' की रक्षा के लिए मचलते रहे। युद्ध शब्द की भी क्या विडंबना है। प्रश्न यह है कि यदि किसी राष्ट्र पर कोई तानाशाही धर्मांध शासन बलात् युद्ध लादता है, तो उस देश के साहित्यकार को क्या करना चाहिए ? प्रश्न युद्ध का नहीं, युद्ध के प्रतिरोध का है, यदि फिर भी उत्तर है "कला और सौंदर्य"—तो कहना होगा कि पिछले वर्षों में साहित्य के क्षेत्र में जो चिंतन-मनन की प्रक्रिया चलती रही है, उसकी बुनियाद में ही

कहीं कोई गलती है। क्योंकि नवलेखन के क्षेत्र में पिछले दस वर्षों से जो स्थिति उभरी है, उसका तो अर्थ हम यही समझते थे कि अब हमारा साहित्यकार 'कल्पनाजीवी वर्गगत चरित्रों' की कोटि से हट कर जनता के एक सामान्य अंश के रूप में समाज की रोज़-मर्रा की ज़िंदगी को भोगने वाले एक सचेत साक्षी के रूप में तथा मिथ्या अमूर्त नारों और मिथकों के साँचों को छोड़ कर भोगे हुए मूल्य और सत्य के उपलब्धक और अभि-व्यक्ति-कर्त्ता के रूप में स्वीकृत हो चुका है। लेकिन आज भी यदि कोई आधुनिक सचेत साहित्यकार 'कला और सौंदर्य' की रक्षा की बात करता है, जो हमेशा ही व्यक्ति-मूल्य न हो कर 'अमूर्त नारे और ढाँचे मात्र' रहे, तो आश्चर्य होता है। लगता है कि हाथी-दाँत की मीनारें ढही नहीं थीं, आधुनिकता के कुहरे में छिप भर गयी थीं।

सच तो यह है कि पिछले तीन वर्षों में उपस्थिति होने वाले दो-दो युद्धों ने इस बात का काफी प्रमाण दिया है कि तथाकथित श्रेष्ठ आधुनिक साहित्य-धारा संकट के समय भारतीय जनता की मन:स्थिति का सही साक्ष्य देने में असमर्थ सिद्ध हुई है। क्या यह नवलेखन का दोष माना जाय कि वह वास्तविकता के अंकन में अक्षम रहा है। मुझे लगता है कि इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचने की आवश्यकता है कि हमारा आज का नवलेखन कहाँ तक आधुनिक भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व करता है? या तो हमारे बुद्धिजीवी, अर्थात् कवि-साहित्यकार जनता से बिल्कुल कट चुके हैं, या जनधारा उन्हें कगार के कूड़े-कचरे की तरह छोड़ कर आगे निकल गयी है। हम जिस प्रकार की 'नान्य: पंथा:' वाली निराश मन:स्थिति में जीवित हैं, और जिसका चित्रण हम साहित्य में भरपूर करते रहते हैं और जिससे उबरने का हमें कोई मार्ग नहीं सूझता, यदि वह सत्य है तो यह विराट टैंक-युद्ध अवश्य झूठ है। हमारे साहित्य में इधर एक और अद्भुत स्थिति उभरी है। निष्पक्ष विवेचन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि नयी कविता, नयी कहानी और उपन्यासों के क्षेत्र में ग्राम्य साहित्य का स्वर दब रहा है। यानी भार-तीय किसानों के जीवन के साक्षीभूत साहित्य का नवलेखन में करीब-करीब लोप सा हो रहा है। हमने आधुनिकता की, फ़ैशनजीवी तंग आधुनिकता की, ऐसी बंदिश मारी है कि सामाजिक यथार्थ से संवलित कृषक-साहित्य हमारे लिए उपेक्षणीय हो चुका है। संकट के समय जिस देश का प्रधान मंत्री किसानों से खून और पसीना दोनों माँगे, उस समूह के जीवन के प्रति आधुनिक साहित्यकार वर्ग उपेक्षाशील हो, यह भी इस बात का सूचक है कि नवलेखन की पद्धति समाज की वास्तविकता से दूर हट गयी है। यह कितने शर्म की बात है कि कम्युनिस्ट पत्रिका 'जनयुग' नवलेखन के साहित्यकारों पर आरोप लगाती है कि ये तानाशाही के समर्थक हैं [देखिए—जनयुग, ४ जुलाई ६५] और हम कुल महीने भर के भीतर अपनी बैलौस बाग्विदग्धता के द्वारा उस आरोप को सही होने का प्रमाणपत्र बाँटने लगते हैं। 'जनयुग' के उस अंक में साहित्यकारों के प्रति जिस निकृष्ट और अभद्र भाषा का प्रयोग किया गया था, और जिस प्रकार के अमानवीय

तेवर दिखाये गये हैं, वे और भी अधिक निंदनीय और कदर्थ्य हो गये होते यदि हम अपने व्यवहारों से भारतीय जीवन की वास्तविकता को ठीक से समझते हुए इस प्रतिरोध-युद्ध को उसके सही संदर्भ में देखते और तद्वत् आचरण करते। और कहीं ऐसा है, तब तो और भी आत्मघातक है कि चूँकि कम्युनिस्ट लेखक इस युद्ध के पक्ष में बहुत सक्रिय हैं, इसलिए उनसे कंधा से कंधा मिला कर चल नहीं सकते। इस हालत में यह एक स्वयंसिद्ध पराजय होगी कि हम सही ज़मीन पर कम्युनिस्टों को खड़ा देख, उनसे अपने को अलग करने के लिए गलत ज़मीन पर ग़लत क़दम रखने लगें।

जहाँ तक भड़भड़िया साहित्य की निकृष्टता का प्रश्न है इस पर विवाद उठाना जरूरी नहीं लगता। यदि हम साहित्य को शुद्ध अर्थों में बहुत सीमित मान लें तो उन्हें साहित्येतर भी कहा जा सकता है, पर क्या साहित्य को स्वयंसिद्ध सर्वोपरि मूल्य मानने वाले भी अतिवाद के शिकार नहीं होते। प्रेमचंद ने कहा था कि वे साहित्य को शस्त्र मानते हैं। हालाँकि उनका अभिप्राय कहीं ज्यादा सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण था, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भड़भड़िया साहित्य भी एक प्रकार का शस्त्र ही है, 'इंडियन मेड'। ऐसी रचनाएँ प्रायः ही उत्तम नहीं होतीं यह भी ठीक है। शाश्वत साहित्य की तुलना में ये क्षणजीवी होती हैं, यह भी ठीक है। किन्तु क्या लड़ाई के काम में आने वाले अस्त्र-शस्त्र शाश्वत होते हैं? और चूँकि ये क्षणजीवी होते हैं, इसलिए क्या फैजावाद की जनता से यह कहना उचित होगा कि वह अपनी रोजी में कटौती कर के टैंक खरीदने के लिए चंदा उगाहना बंद कर दें क्योंकि उसका खरीदा हुआ टैंक कसूर क्षेत्र में एक ही गोले से चकनाचूर हो जायगा, अथवा इलाहाबाद वालों से कहा जाय कि तुम जो चंदा बटोर कर 'नैट' खरीद रहे हो यह कितनी बेकार बात है क्योंकि किसी भी सेकेंड यह विमानभेदी तोप से ध्वस्त हो जायगा। इसलिए साहित्य को उच्च सिद्धांतों की किसी काल-कोठरी में कैद करने की जरूरत बिल्कुल नहीं है, जहाँ से वह निकल न पाये और मनुष्यता की सेवा में शुद्ध कलावादी कार्यों की अपेक्षा कुछ कम महत्त्वपूर्ण काम न कर सके। महत्त्व भी सापेक्ष शब्द मात्र ही है। शांतिकाल में लिखी जिन रचनाओं को हम बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं, वे सचमुच की श्रेष्ठ और शाश्वत कृतियाँ हैं? इनके बारे में भी हमें मुग़ालता नहीं होना चाहिए।

नियति का व्यंग्य भी कभी-कभी कितना तीखा होता है। ठीक मौके पर जब हमारे कलावादी आधुनिक लेखक युद्ध के बारे में शंका के दौर से गुजर रहे हैं, रूसी लेखक शोलोखोव को नोबेल पुरस्कार देने की घोषणा की गयी है। शोलोखोव का सारा साहित्य नाजी आक्रमण और युद्ध के विरोध में लड़ती जनता के धैर्य और साहस का दस्तावेज़ नहीं तो और क्या है!

● ●

राष्ट्रीय हीनभावना

●

जब ऐसी स्थिति आ जाए कि अच्छे-बुरे का फर्क करना मुश्किल हो जाए, किसी भी कर्म की सार्थकता-निरर्थकता पर सन्देह होने लगे, बुद्धि का ऐसा व्यापक 'कुन्दी-करण' हो जाए कि निन्दा-प्रशंसा का कोई असर ही न हो, समाज के नाना तन्तु सिकुड़ कर एक में ऐसे गडमगड्ड हो जाएँ कि कोई सूत्र कहीं से विलगाया ही न जा सके, तब समझ लेना चाहिए कि वह दमघोट स्थिति आ चुकी है जिसे अंग्रेजी में 'कोमा' कहते हैं। जाहिर है कि कोमा की हालत में पड़े व्यक्ति या समाज या वर्ग से कुछ भी कहना पूर्णतः असंगत और वाहियात है। पर आप वाहियात कार्य कराने पर तुले ही हैं तो यही सही।

आख़िरी कोशिश अभी बाक़ी है

इस स्थिति का मूल कारण यदि ढूँढ़ ही लिया जाता तो फिर यह नौबत ही क्यों आती। ख़ैर, दम घुटते वक्त बहुत घबराहट और परेशानी में भी उस स्थिति के कारणों की थोड़ी-बहुत छानबीन तो चलती ही रहती है। यों समझिए कि मुझे अक्सर ऐसा लगता है कि इस हालत का सबब स्थूल और भौतिक उतना नहीं जितना मनोवैज्ञानिक है। मैं यह नहीं कहता कि प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं। बहुत से हैं। जैसे राजनीतिक क्षेत्र में किसी होश-हवाश दुरुस्त बड़े व्यक्ति का अभाव। सामाजिक क्षेत्र में बने-बनाए मूल्यों का स्वयंसिद्ध खोखलापन और आर्थिक क्षेत्र में अफाट दरिद्रता और मामूली जरूरत की चीजों को भी न पा सकने की अश्लील विवशता। सभी क्षेत्रों में सिर्फ बात बिगड़ने की स्वाभाविकता और व्यक्तिगत सम्बन्धों के क्षेत्र में शाश्वत काक-चेष्टा और श्वान-वृत्तीय गुरगुराहट। यह सब होते हुए भी अक्सर मैं सोचता रहा हूँ कि इनके चपेट और चंगुल से छूटने की एक आखिरी कोशिश अब भी बाक़ी रह जाती है। वह कोशिश किसी बाहरी सहायता, जानकारी, धन-सम्पत्ति, विचार-धारा, मतवाद आदि का आयात करके नहीं की जा सकती। ये सब चीजें आती रही हैं और प्रचुर मात्रा में आई हैं, इसी कारण दवा के आधिक्य से एक किस्म का 'असरहीनतावाद' पैदा हो गया है। अब तो जरूरत सिर्फ आत्मविश्वास की है कि एक बार देह झाड़ कर समाज उठ जाए और कहे कि 'कोमा' की ऐसी की तैसी, हम खूब भले-चंगे हैं। संभाल लेंगे अपने को। चलो बाज आए आप की दवाओं से। मैं स्वीकार करता हूँ कि आज के भारतीय बौद्धिक के चित्त में एक भयानक क़िस्म की हीन-भावना जड़ जमा चुकी है। यह हीन-भावना है क्या चीज़? लगातार आत्मसम्मान पाने की कोशिश में असफल होने से उत्पन्न वह दयनीय स्थिति जो आदमी को मानसिक रूप से लुंज-पुंज बना कर रख देती

है । ऐसा आदमी इस भयानक सन्त्रास से बचने के लिए दो तरह के प्रयत्न करता है । एक तो यह कि अत्यन्त निकृष्ट उद्देश्यों को महत् उद्देश्य मान कर नकली तौर पर आत्मसम्मान पाने की संतुष्टि का बोध करे या फिर घनघोर निराशा की स्थिति में नक़ली विद्रोही का बाना धारण कर के प्रत्येक मूल्य या उद्देश्य के विरुद्ध गाली बकता रहे । ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ हमारे साहित्य में खूब खुल-खेल रही हैं और कहना न होगा कि ये दोनों ही विकल्प व्यक्ति और समाज को आत्मविडम्बना के गर्त में झोंकने से बाज नहीं आते ।

नकली इज्जत के लिए अपनी ही विडम्बना करने वाली पीढ़ी कभी सोचती ही नहीं कि आखिर इस गुड्डलिका-प्रवाह में बह जाने से उस के निजी व्यक्तित्व की कितनी क्षति होती है । ऐसे भी परिस्थितियों के कारण इस देश में साहित्य और साहित्यकार को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता । फिर यदि खुद साहित्यकार ही अपने को बीटनिक्स, हिप्पीज, भांड और 'जोकर' बना ले तो फिर क्या करना । नितान्त गर्हित, अश्लील, भद्दी, 'मारबिड', अमानवीय बातें, औरतों के अंगों को लेकर पाशविक मैथुन और दुर्गन्ध-पूर्ण श्वान-चेष्टाओं से भरी हुई बकवासें, मर्दानगी का परिचय नहीं देतीं । इस तरह की छिछोरी मनोवृत्ति का परिचय देने वाली ढेरों चीजें इस देश में साहित्येतर स्तर पर बहुत पहले से रही हैं । हाँ, वहाँ तब पौरुष जिन्दा था, नपुन्सकता को गर्व की चीज़ नहीं माना जाता था इसलिए इस तरह की सड़ान्ध नहीं थी । ऐसी नग्नता वहाँ गुह्य समाजों तक ही सीमित रही । साहित्य के स्तर पर प्रदर्शन की वस्तु कभी नहीं बनी । आधुनिकता का आन्दोलन पुराने सड़े हुए मूल्यों, विचारों, रूढ़ियों और परम्परा की जकड़बन्दियों के विरुद्ध खड़ा हुआ था । इस आन्दोलन में निश्चय ही देश में बौद्धिक चेतना का एक नया दौर शुरू किया किन्तु उसका अग्रिम विकास यदि हमें वस्तुपरक, बौद्धिक, तर्कमूलक भावुकताहीन, समसामयिक यथार्थ से पूर्णत: संसक्त और कर्मठ बनाने के स्थान पर उदासीन, परिवेश से कटा हुआ, आत्मकेन्द्रित, हीन भावनाग्रस्त, अमान-वीय और देशकाल से निरपेक्ष, विरक्त बनाए, तो नि:सन्देह चिन्ता की बात है ।

तमाशा यह है कि यह सब करने वाले हम अपने को काफी आधुनिक और उदार समझते हैं । भारतीय जीवन से सम्पृक्त व्यक्ति हमारे लिए विडम्बना की चीज बन गया है । हम उसे दकियानूस और पुराणपन्थी कह कर अपने मन की निराशा और खीझ को व्यक्त कर लेते हैं । साहित्य में अन्तरराष्ट्रीयतावाद एक ऐसे विराट मूल्य की तरह चर्चित होता है गोया इस से सम्बन्धित हुए बिना कोई गति ही नहीं । अपने को थोथी अन्तर-राष्ट्रीयता से जोड़ने की प्रवृत्ति भी हीन भावना की ही देन है ।

सचेत बौद्धिक आत्महत्या

हम हीन-भाव से इस कदर ग्रस्त हैं कि आत्मविश्वास के सुगबुगाते हुए अंकुर पर बौद्धिक सजगता की भारी-भारी चट्टानें दे मारते हैं; किन्तु ऐसी सचेत बौद्धिक आत्महत्या

शायद ही संसार के किसी देश में दिखाई पड़े। हिन्दुस्तान का औसत बुद्धजीवी शायद संसार का सब से बड़ा नकलची इन्सान है जो अपने मन और तन को विदेशी चीथड़ों से ढँक कर खुलेआम ऐंठता हुआ चलता है। मजे के समझदार लोगों ने, जो खुद अन्तर-राष्ट्रीयतावाद के प्रशंसक हैं, आधुनिक भी हैं, उन्हें किसी तरह दकियानूस भी नहीं कहा जा सकता, जिन्होंने बहुत-सा विदेश देखा है और बहुत से विदेशी बौद्धिकों से मिले-जुले हैं, स्पष्ट कहा कि दुनिया के किसी भी साहित्य में अन्तरराष्ट्रीयतावाद नहीं चलता। यह वैश्वभावना एक ऊँचा नारा जरूर है, मगर साहित्य तो अपने देश के मिट्टी-पानी से ही उपजता है, उसका कलेवर, रक्त, प्राण सभी देशी होता है। अलबत्ता उसकी आत्मा में वैश्व मानव का आलोक अपने आप उदित हो जाता है क्योंकि किसी सूक्ष्मतम स्तर पर देश-काल की भिन्नता से परे एक सर्वमान्य निरन्तरता भी होती है, एकमेवता भी होती है।

एक बार काशी में रायकृष्णदास जी के निवास पर वात्स्यायन जी से बातें हो रही थीं। अमेरिका से तुरन्त लौटे थे। बात आधुनिक चित्रकला पर चल रही थी। तभी अन्तरराष्ट्रीयता का प्रश्न उठा। वात्स्यायन जी बोले—"यह अन्तरराष्ट्रीयता बिल्कुल वायवी है। ऊपर से पूरी सावधानी रखी जाए तो भी क्या गारण्टी है कि पिछले दर-वाजे से अन्तरराष्ट्रीयता के नाम पर पेरिश या न्युयार्क नहीं घुसेंगे?" कुछ दिन पहले प्रसिद्ध कलाविद डब्ल्यू. बी. आर्चर काशी आए थे। मैंने उन से पूछा कि आधुनिक अमेरिकी चित्रकला कितनी आधुनिक है कितनी अमेरिकी? उन्होंने हँसते हुए कहा—"दोनों विरोधी कहाँ हैं। अधिकतर चित्रकार, अमेरिकी साहित्यकारों की तरह ही आंच-लिक जीवन के बीच से आधुनिकता की अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।"

पर अपने देश में अन्तरराष्ट्रीयतावाद के नाम पर ढेरों ऐसा लिखा जाता है जिसका भारत के वर्तमान जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा मत समझिए कि मैं बाहरी स्थूल यथार्थ का आग्रह कर रहा हूँ। मैं साहित्यिक यथार्थ की ही बात कर रहा हूँ। इस आरोप का उत्तर गुस्से में यों दिया जाता है—रेल भारतीय है कि पेन भारतीय है? हवाई जहाज भारतीय है, कि संसद-प्रणाली भारतीय है, कि लोक-तन्त्र भारतीय है? बोलिए क्या भारतीय है? कैसी मुसीबत है? लोग विज्ञान और कला का अन्तर ही नहीं समझते। विज्ञान सार्वजनिक होता है, कला व्यक्तिगत। संसार में कहीं भी किसी भी किसी भी देश में दो और दो चार ही होता है, पर दुनिया में कहीं दूसरे तुलसी या प्रेमचन्द नहीं होते। भौतिकी, भौमिकी, रसायन आदि तथा तकनीकी जानकारी के तथ्य सार्वभौम है, दुनिया में कहीं रूसी भौतिकी या अमेरिकी भौतिकी नहीं है, पर अमेरिकी और रूसी साहित्य किल्कुल अलग-अलग चीजें हैं।

हीनभावना का लम्बा इतिहास

हीनभावना का भी हमारे देश में एक लम्बा इतिहास है। १९वीं शताब्दी के

बौद्धिकों में भी, जो सभी तरह से भारत में आधुनिक विचारधारा के अग्रदूत कहे जा सकते हैं, एक वर्ग ऐसा था जो भारतीय सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य और विचार-धारा को बिल्कुल वाहियात और कूड़ा मानता था। 'इण्डियन सिविल सर्विस' के भ्रष्ट अंग्रेजों के इर्द-गिर्द चिपके वातावरण में आधुनिकता के सभी मूलभूत तत्वों को खोजने वाला यह वर्ग न सिर्फ ज्ञान-विज्ञान, विचार-दर्शन और धर्म-संस्कृति के क्षेत्र में ही खुले आयात का समर्थक था बल्कि रीति-रवाज, शादी-व्याह, खान-पान और वेशभूषा में भी उन्हीं का नकलची रहा। इस वर्ग के बौद्धिक उस समय, बावजूद इसके कि वे अंग्रेजों का पूर्ण सहयोग और समर्थन पाते रहे, देश को पूर्णतः क्लीव, हीन, विषण्ण और आत्म-दीन नहीं बना पाए क्योंकि एक ओर उन्हें विवेकानन्द, तिलक, दयानन्द, रवीन्द्र, एनी-बेसेन्ट, गांधी, मदनमोहन मालवीय और हजारों दूसरे भारतीयता के पोषक व्यक्तियों से लोहा लेना पड़ रहा था, दूसरी ओर स्वतन्त्रता-संग्रामं का जन-जागरण अंग्रेजों से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु, धारणा और पदार्थ की सचेत मीमांसा और आलोचना भी कर रहा था। शिकागो के धर्म-संसद का अधिवेशन-भवन विवेकानन्द के 'अकुतोभय' सन्देशों से मुखरित हो रहा था। हारे हुए देश के निराश जनों को विवेकानन्द के सन्देश नई शक्ति और स्फुरण दे रहे थे। स्वाभिमान को जगाने वाले इन कार्यों ने परतन्त्र भारत को हीनभा-वना का शिकार होने से बचा लिया। क्योंकि उस समय हम अपने ही हाथों अपने गले में फन्दा डालना बुद्धिमानी और आधुनिकता नहीं मानते थे।

उस समय की राजनीति बहुत स्पष्ट थी। भारतीय परम्परा के स्वस्थ तत्वों को आधु-निक विज्ञान के साथ जोड़ कर एक नए समाज की रचना के महत् उद्देश्य में किसी को अविश्वास न था। पण्डित नेहरू ने 'भारत की खोज' में स्पष्ट लिखा कि "स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत विश्वासपूर्वक प्रगति करेगा क्योंकि अतीत में उसकी जड़ें गहरी जमी हैं और वह उन्मुक्त मन से दूसरों से सीखना भी चाहता है। सच्ची संस्कृति दुनिया के हर कोने से प्रेरणा लेती है किन्तु यह हमेशा स्वदेशी और जनता की भाव नाओं पर आधारित होती है। कला और साहित्य, यदि निरन्तर विदेशी आदर्शों पर ध्यान दें, तो निष्प्राण हो जाते हैं। हमें जनता को सर्वदा दृष्टि में रखना है। जन-संस्कृति अतीत की प्रवृत्तियों का ही बढ़ाव और विकास होती है तथा जनता की नवीन आकांक्षाओं और और रचनात्मक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व भी करती है।" नेहरू को इस प्रसंग में इमर्सन की याद आती है जिसने सौ वर्ष पहले अमेरिकी बौद्धिकों को सावधान किया था कि यूरोपीय संस्कृति की नकल कर के वे नए अमेरिका का निर्माण नहीं कर सकते। नेहरू, इमर्सन के निबन्ध 'आत्मनिर्भरता' से लम्बा उद्धरण देकर इस अनुकरणधर्मी प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं। यह सब १९४४-४५ के नेहरू की बातें हैं। स्वतन्त्रता के बाद नेहरू के शासनकाल में ही भारत प्रबल रूप से हीनभावना से ग्रस्त हुआ। बाण्डुंग सम्मेलन की यादगारें भारतीय बौद्धिक के चित्त को बहुत दिनों तक आत्म-

सम्मानपूर्ण नहीं रख सकीं। विदेशी ऋण, जानकारी, रस्म-रिवाज और तौरतरीकों का आयात होता रहा। देश का आत्मसम्मान भिक्षापात्र के रूप में विदेशी राजधानियों में द्वार-द्वार घूमता रहा। १९६२ में नेहरू का मोहभंग हो गया। उन्होंने निःसंकोच स्वीकार किया कि वह अब तक 'वायवी दुनिया' में घूम रहे थे। शास्त्री जी ने आत्म-विश्वास और आत्मनिर्भरता का अभियान शुरू किया, पर बीच में चल बसे। और आज पुनः शासन उसी 'वायवी दुनिया' में लौट रहा है जिसके सुनहले स्वप्न भारतीय जन-गण को निरन्तर आत्महत्या के कगार की ओर खींच कर ले जाते रहे। ऐसी स्थिति में बौद्धिक वर्ग क्या करे ? सिर्फ मेषवत् अनुसरण या और कुछ ?

मैं जानता हूँ कि इन सब बातों के लिए नई पीढ़ी को ही दोष देना बेकार है। दोषी सभी हैं। खासतौर से वे जो जीवन के हर क्षेत्र में भाग्य-विधाता रहे। उन्होंने आज की नवयुवक पीढ़ी को वही बनने के लिए विवश किया जो वह आज है। इसलिए यदि नवयुवक पीढ़ी का लेखक यह पूछता है—

'क्यों बेची थीं उन्हों ने हमारी और आने वाली सैकड़ों पीढ़ियाँ तक की करोड़ों-करोड़ खुशहाल और ईमानदार सुबहें ?'

तो सिर्फ आत्मग्लानि से गर्दन झुका लेने से ही काम नहीं चलेगा।

सम्भवत इस प्रश्न पर, या आज के परिवेश से सम्बद्ध किसी भी प्रश्न पर, पीढ़ियों के बँटवारे के आधार पर सोचने से कुछ हासिल न होगा। इससे सिर्फ गाज-फेनोत्पादक क्रोध, धुक्काफजीहत, 'तू-तू मैं-मैं' के अतिरिक्त कुछ हाथ न आएगा। सोचना यह है कि क्या हम नई पीढ़ी के एक कवि के शब्दों में इस 'विशाल चकले' में सड़ जाने के लिए ही अभिशप्त हैं, यही हमारी नियति है, या इससे बाहर निकलने का भी कोई रास्ता है ? मेरा कहना सिर्फ इतना ही है कि यदि सड़ना ही नियति हो तो भी अभि-मान और आत्मसम्मान के साथ नकली मुखौटों से अलग होकर ही सड़ें क्योंकि तब सड़ने की एक अपनी निजी अस्तित्वमूलक सार्थकता का बोध होगा। मुझे तो लगता है कि यदि आज का भारतीय बौद्धिक अपने को बहुत कदर्थ न मान ले और एक बार पुनः जन-जीवन से सम्पृक्त होकर, हीनताभाव को झाड़ कर, सही दिशा का संधान करे तो इस 'नान्यः पन्थाः' वाली अफाट मुर्दनी के भीतर भी कुछ चिनगारियाँ मिल सकती हैं, और इससे शायद ही कोई इनकार करे कि अन्धकार और असीम जड़ता के बीच नन्हीं-नन्हीं चिनगारियों का भी कम महत्त्व नहीं होता।

● ●

प्रतिबद्धता बनाम समझदारी

बहुत पहले की बात है। काशी की एक संस्था, साहित्यिक संघ की एक सालाना गोष्ठी में डा० रामविलास शर्मा ने भाषण करते हुए कहा था, "प्रगतिवादी साहित्य को अक्सर प्रवृत्तिमूलक कह कर टालने की कोशिश की जाती है। हमें दूध से मतलब होना चाहिए कि वह अच्छा है या बुरा है, न कि उस खूँटे से जिसमें गाय बँधी है।" आज जब हिन्दी में प्रतिबद्धता की चर्चा बहुत ज़ोर पकड़ रही है, मुझे रह-रह कर डाक्टर साहब की बात याद आ जाती है। गाय के साथ फिर भी काफ़ी रियायत है। वह जिस किसी भी खूँटे में बँधी हो, दूध की क़द्र होती है। न तो वहाँ प्रश्न बबूल या आम का उठाया जाता है और न तो गाय के किसी धर्म या मतवाद का। आज से कुछ वर्ष पहले तक, जब साहित्य में व्यक्ति स्वातंत्र्य की अतिवादी चर्चा हुआ करती थी तो सभी लेखक साहित्यकार की स्वतंत्रता के प्रश्न पर माथापच्ची किया करते थे। उन दिनों यह एक फैशन था। आज सभी प्रतिबद्धता की बात करते हैं। लेखक के कहीं न कहीं बँधने के प्रश्न पर लोग चिन्तित हैं। मैं सोचता हूँ कि एकाएक यह परिवर्तन क्यों आ गया कि गायें 'खूँटा' खोजने लगीं, या कम से कम बँधने के बारे में इतनी दिलचस्पी से सोचने-बिचारने लगीं।

हिन्दी लेखक यों भी बहुत वीतराग और स्थितिप्रज्ञ हुआ करता है। उससे साहित्य के अलावा कहाँ क्या हो रहा है, इसमें दिलचस्पी कम ही होती है। मेरे एक साहित्यकार मित्र ने एक बार बड़े विश्वास और गर्व के साथ कहा था कि वे अखबार पढ़ना निहायत वाहियात और व्यर्थ का काम मानते हैं। चीनी आक्रमण के समय हिन्दी के अनेक साहित्यकार इस समस्या पर कुछ लिखना-पढ़ना बेज़ा बात समझते थे, क्योंकि उन्हें लगता था कि इसे साहित्यिक वातावरण में लपेटना शुद्ध साहित्य के आसन से खिसकना हो जाएगा। सेल्डन राडमन तब उनके दिमाग़ में शायद घूमता रहता था, जिसने कहा था, "अगर किसी के लिए संघर्ष से अस्पृश्य रहना एकदम आवश्यक है तो वह कलाकार के लिए।" मैं यह नहीं कहता कि इन समस्याओं पर लिखना-पढ़ना साहित्यकार का कर्तव्य होना ही चाहिए। मैं तो सिर्फ इस बात की ओर इशारा भर कर रहा हूँ कि हिन्दी के अधिकांश प्रबुद्ध साहित्यकार ज्वलन्त सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों से अलग रहना उचित समझते हैं। स्वतंत्रता के पहले इस देश के साहित्यकारों की स्थिति ऐसी नहीं थी। यद्यपि यह आज सार्वजनिक रूप से कहा जाता है कि छायावादी कवि व्यक्तिवादी, समाजभीरु, एकान्तखोजी और पलायनवादी थे, किन्तु उनके पूरे

साहित्य को उलटने-पलटने वाला हर पाठक जानता है कि शायद ही कोई ऐसा छाया-वादी हो जिसने राष्ट्रीय गौरव का ज्ञान न किया हो, बलिपंथी को अपनी श्रद्धांजलि न दी हो, विवेकानन्द के धार्मिक अभियान से गौरव का अनुभव न किया हो। 'हिमाद्रि तुंग शृंग' से स्वतंत्रता की पुकार न सुनी हो। वह कहीं सामाजिक यथार्थ की ओर ज्यादा रुझान रखने वाला हुआ, तो ग़रीबी, दीनता और शोषण जैसी समस्याएँ भी उसे कुरेदती रहीं और एक ज़माना आया कि यथार्थवाद की ओर ज्यादा झुकाव रखने वाले छायावादी लेखकों में से अधिकांश प्रगतिवाद के पथ पर निःसंकोच चल पड़े। आज की साहित्यिक स्थिति काफ़ी भिन्न है। जनगण निराश और कुंठित है। लेखकों में से भी अधिकांश इस स्थिति को अपरिवर्तनीय मान कर मौन हो गये हैं। प्रगतिवाद के ठीक बाद नवलेखन का जो दौर शुरू हुआ, उसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य का नारा काफी बुलन्द था, पर ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य स्वयं में एक ब्यक्तिगत और अनेक प्रकार से उलझा हुआ प्रश्न है और इसी कारण, इसके साथ वह जोश-खरोश नहीं हो सकता जो स्वतंत्रता-आन्दोलनों के साथ होता था। हिन्दी में नवलेखन की प्रेरणा पश्चिमी साहित्य से आयी, किन्तु प्रेरणा मात्र ही नहीं, बल्कि उसके विकास की ऐतिहासिक अवस्थाओं की नक़ल भी। इसी कारण यूरोपीय परिवेश से उत्पन्न और वहाँ के नवलेखन में चर्चित अनेक समस्याएँ और प्रवृत्तियाँ भी यहाँ स्वयमेव आती गयीं। परिणामतः हिन्दी नवलेखन आस्था-हीन, दिग्भ्रमित और अधिक से अधिक व्यक्ति-केन्द्रित होता गया। यह केन्द्रन भी व्यक्ति के स्वास्थ्य के चहुँओर उतना नहीं हुआ जितना उसके रुग्ण मन के इर्द-गिर्द। क्षुब्ध, बीमार, बुभुक्षित और बीट पीढ़ियों का जन्म इसी अतिवादी केन्द्रन का परिणाम है। मुझे कभी-कभी लगता है कि नवलेखन को इस ग़लत दिशा में मोड़ने का उत्तरदायित्व प्रकारान्तर से प्रगतिवादियों का भी है। प्रगतिवादियों ने यथार्थ की इतनी संकुचित और शिविरवादी सीमा निर्धारित कर दी कि उनके राजनीतिक मतवाद से आस्था न रखने वाले अनेक समाजवादी और यथार्थ-प्रेमी लेखक अलग होते गये। उनके शिकंजे में व्यक्ति-मानस घुटता गया। वे लोग जो अपने वातावरण या संस्कारों के कारण व्यक्तिवादी रूप में यथार्थवादी थे, इतने निराश हुए कि नवलेखन की अतिवादी, कुंठित और अति-केन्द्रन-प्रधान संकुचित सीमाओं में प्रतिक्रिया स्वरूप बँधते गये। बहरहाल, यह प्रक्रिया स्वातंत्र्योत्तर भारत में काफ़ी तेज़ गति से चली। साहित्य में पूर्णतया नवलेखन प्रतिष्ठित और चर्चित हुआ। शुरू-शुरू में इस धारा के प्रति आस्था रखने वालों में एक सचेतना थी कि वे नवलेखन के नाम पर समाज-विरोधी या मानव-विरोधी तत्त्वों को प्रश्रय न दें। नवलेखन चूँकि प्रगतिवादी शिविर-साहित्य के प्रतिरोध में जन्मा था, इसलिए स्वभावतः इसमें राजनीति से विरक्त लोगों का प्रवेश हुआ। राजनीति प्रगतिवाद के साथ अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ी हुई मानी जाती थी, फलतः प्रतिक्रिया में राजनीति से उदासीनता स्वाभाविक थी। किन्तु यह उदासीनता राजनीति के प्रति ही नहीं, मानव-नियति से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति भी बनती रही और बढ़ती गयी। पूर्ववर्ती

नवलेखन में व्यक्ति स्वातंत्र्य का अनेक संदर्भों से जुड़ा अर्थ था। वह लेखक को राजनीतिक निरंकुशशाही का विवश माध्यम न बनने देने का अभियान था। परवर्ती लेखन में यह धारणा भी शिथिल होती गयी। व्यक्ति स्वातंत्र्य का अर्थ अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन मान लिया गया। परवर्ती नवलेखन धीरे-धीरे अराजकतावाद के समानान्तर विकसित होने लगा। मूल्यों के स्थान पर मूल्य निरपेक्षता की बात होने लगी। सामाजिक मर्यादाएँ, जो नये से नये समाज के लिए भी, उसकी ऐतिहासिक परिणति के अनुसार आवश्यक होती हैं, त्याज्य और विगर्ह्य बनती गयीं। पिछले पाँच-सात वर्षों के भीतर साहित्य में निरंकुश, खोखले, वाक्-विद्रोही जनों की बाढ़ जैसी आ गयी। यह स्थिति नवलेखन के भीतर निहित उदासीनता का परिणाम थी। इसके लिए नवलेखन को निस्संकोच उत्तरदायी बनना ही चाहिए।

इस स्थिति में अचानक प्रतिबद्धता का प्रश्न उभर कर सामने आया। हर चीज़ की प्रतिक्रिया होती है। इतिहास चेतना में इसे पुनरावर्तन का सिद्धान्त कहते हैं। मूल्य-मूढ़ता और मूल्य-निरक्षेपता की इस स्थिति में प्रतिबद्धता का प्रश्न हिन्दी में नाना अर्थ, संभावनाएँ और भ्रांतियाँ ले कर खड़ा हुआ है। किन्तु इसके संदर्भ जो हों, इस परिस्थिति में इस प्रश्न का इस तरह उठना और चर्चित होना खुद में एक बड़ी बात है और काफी प्रीतिकर भी। बहुत से लोग इसे एकदम नया प्रश्न समझते हैं। नया है; क्योंकि इसमें युगानुरूप नये अर्थ संयुक्त हुए हैं, किन्तु यह प्रश्न उतना ही पुराना है जितना आदि कवि के मन में प्रतिबद्धता का प्रश्न। शोक श्लोक बन गया था, रघुवर की पुण्य कथा भी मिल गई थी। पर मार्ग दर्शक वह प्रतिबद्धता ही हुई जो सामान्य पक्षी के प्रति किए गए अत्याचार से उत्पन्न क्षोभ के कारण स्वतः श्लोक में बदल गई थी। तुलसी से अधिक प्रतिबद्ध और कौन होगा! पर आज का युग न तो वाल्मीकि का युग है और न तो तुलसी का। सच तो यह है कि वह प्रसाद और निराला का भी नहीं रहा। प्रतिबद्धता का प्रश्न देश-काल की सीमाएँ तोड़ कर समूची मानव-नियति का प्रश्न बन गया है। यह प्रश्न लेखक के समूचे अस्तित्व का प्रश्न है। इसकी उलझनें असीम हैं, इसके संदर्भ अनेकार्थी और दुरूह।

प्रतिबद्धता के प्रश्न को आधुनिक संदर्भों से जोड़ते हुए साहित्यिक भूमिका देने का का कार्य ज्याँ पाल सार्त्र ने किया। द्वितीय युद्ध में फ्रांस पर जर्मनी के आधिपत्य के दिनों में इस शब्द ने नयी अर्थवत्ता ग्रहण की। कलाकार को प्रायः ही संघर्षों आदि से अलग रहने वाला व्यक्ति समझा जाता था। द्वितीय महायुद्ध ने उनके सामने कई नयी समस्यायें उपस्थित कर दीं, जो अब तक के साहित्य के लिए अश्रुतपूर्व थीं। युद्ध ने एक और ध्वंस लीला, विघटन, मानवीय मूल्यों में ह्रास, अनास्था, निराशा आदि के भाव उत्पन्न किए तो दूसरी ओर मनुष्य को असहाय से असहाय प्राणी में बदल दिया। इस भयंकर, संहारक स्थिति में मनुष्य के सामने सिर्फ एक प्रश्न था और वह था उसका

अस्तित्व। सार्त्र ने इस अस्तित्व को सही रूप में 'पकड़ने' की कोशिश की ताकि संघर्ष को सही कोण और बिन्दु पर केन्द्रित किया जा सके। अपने एक उपन्यास में, जिसका अंग्रेजी में 'द एज आफ् रीजन' नाम से अनुवाद हुआ है, इस समस्या को उन्होंने पहली बार उठाया। उस उपन्यास का पहला दृश्य जुलाई १९३८ के फ्रांस की भूमिका पर खड़ा होता है। मैथ्यू उपन्यास का नायक जीवन के प्रवाह में इतना सीख गया है कि मानव अस्तित्व का असली अर्थ है स्वतन्त्रता, इसलिए वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए हर प्रकार के उलझावों, संघर्षों और समस्याओं से अलग रहना चाहता है। वह किसी भी परिस्थिति में फँस कर जोखम नहीं लेना चाहता जिससे उसकी स्वतंत्रता क्षतिग्रस्त हो। परिणामतः वह निरन्तर आत्म केन्द्रित और ऊबा-ऊबा-सा महसूस करता है। लेकिन वह नहीं जानता कि स्वतंत्रता का असली अर्थ उसे सुरक्षित रखने में नहीं, परीक्षित करने में है। इस निष्कर्ष के बाद भी मैथ्यू कही प्रतिबद्ध नहीं होता, क्योंकि वह यह भी जानता है कि 'एक निरा उद्देश्य रखने के खातिर अंध ढंग से प्रतिबद्ध होने का अर्थ ऐसे मत में आस्था रखना हो सकता है जो आत्मा के लिए पूर्णतः अरुचिकर और अस्वीकार्य हो।' लगता है, तब तक प्रतिबद्धता के प्रश्न पर सार्त्र ने कोई सटीक निर्णय नहीं लिया था। उन्हें तब तक ऐसा कुछ भी नहीं मिला था, जो उन्हें प्रतिबद्ध होने के लिए विवश करे। १९४५ में जर्मन आधिपत्य ने उनको एक नयी प्रतीति दी। यह प्रतीति थी मानवनियति की। मानव नियति के अनेक अर्थ हो सकते हैं। युद्ध के दिनों में जो एकदम तटस्थ थे, निर्दोष, निरपराध, अपने काम से काम रखनेवाले, क्या वे उससे बचे रहे? सार्त्र ने बड़ी पीड़ा के साथ लिखा है—"हमारा यह ध्रुव विश्वास है कि परिस्थिति से अलग रहना संभव नहीं। हम बच कर रह नहीं सकते। यदि हम पत्थर की तरह निश्चेष्ट और मूक ही हों, तो भी हमारी यह अकर्मता भी एक न एक कर्म मान ली जायेगी।" [सिचुएशन्स भाग २ पृष्ठ २६-२७] आदमी सब प्रकार से अपने युग की मानव नियति से आबद्ध है। और वह अपने अस्तित्व मात्र से एक भूमिका अदा करता है। उसका व्यक्तिगत कर्म दूसरों पर एक प्रतिक्रिया छोड़ता है और यदि वह अपना कर्तव्य नहीं करता, तो यह अकर्मता भी दूसरों पर प्रतिक्रिया छोड़ेगी ही। इसलिए आज के प्रत्येक व्यक्ति को यह जान कर कि प्रत्येक मनुष्य की नियति दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप में आबद्ध है, अपने उत्तरदायित्व का पालन करना चाहिए और इसीलिए, प्रतिबद्धता का सीधा अर्थ उत्तरदायित्वपूर्ण अस्तित्व है।

फ्रान्स में मूल्यों का तीव्र विघटन इस मात्रा में होने लगा कि लोगों को साहित्य के प्रयोजन में शंका होने लगी। वहाँ की राजनीति और सामाजिक परिस्थितियाँ बुद्धिजीवियों के मन में घोर उदासीनता और अकर्मण्यता जगाने का कारण बनीं। उन्हीं दिनों प्रतिबद्धता का प्रश्न खड़ा हुआ।

प्रतिबद्धता का प्रश्न किसके लिए? ज़ाहिर है कि यह प्रश्न उनके लिए उतना

महत्त्वपूर्ण नहीं है जो किसी निश्चित पार्टी, राजनीति या व्यवस्था से प्रतिबद्ध हैं। वहाँ प्रतिबद्धता सोचने-विचारने की चीज़ ही नहीं है। वे जिस राजनीतिक पार्टी के प्रति प्रतिबद्ध हैं, उसके ग़लत-सही सभी कर्मों की अन्ध स्वीकृति ही उनका धर्म बन जाती है। इसलिए उनके लिए न तो कहीं शंका की गुंजायश है और न तो उनकी आत्मा में प्रतिबद्धता के प्रति कोई सन्देह या मनोमंथन ही जगता है। वे पक्षधर होते हैं, प्रतिबद्ध नहीं। प्रतिबद्धता का प्रश्न सिर्फ उन लेखकों के लिए है जो लेखक के व्यक्ति-स्वातंत्र्य में पूर्ण आस्था रखते हैं और मानव नियति से संबंधित हर समस्या को वस्तुनिष्ठ ढंग से देखना चाहते हैं। जो किसी आरोपित आदेश को माथा झुका कर स्वीकार करने की अपेक्षा अपने विवेक के द्वारा निर्णय लेना ज्यादा उचित समझते हैं, प्रतिबद्धता का प्रश्न उन्हीं के लिए महत्त्व रखता है। ऐसे लेखकों के बारे में प्रायः यह आरोप होता है कि ये शून्य के प्रति प्रतिबद्ध होने का नाटक करते हैं, क्योंकि—"बड़ी-बड़ी सरकारी तथा ग़ैर सरकारी ऐजेन्सियों द्वारा प्रसारित रेडियो और अख़बारों की सूचना पर चलने वाले युग में यदि कोई अपने निजी विवेक का दम भरता है, तो वह कोरा दंभ है।" इस कथन से यह स्पष्ट है कि आज सत्य को सही रूप में पाना संभव नहीं है, क्योंकि निश्चित अभिप्राय से प्रेरित लोग इसे अपने स्वार्थानुकूल विकृत करते रहते हैं। स्थिति की ऐसी स्पष्ट व्याख्या करने के बाद भी इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए संघर्ष करने वालों के प्रयत्न को दंभ कहना सरासर अन्याय है। ग़लत सत्य को सहज रूप में स्वीकार कर लेने की अपेक्षा, उसे सही रूप में पाने के प्रयत्न की असफलता कहीं बेहतर है। साहित्यकार आरंभ से ही ऐसे तत्वों के खिलाफ़ जूझता रहा है और 'हिरण्मय आवरण से अपहित सत्य' को उद्घाटित करने का प्रयत्न सदा करता रहा है। इस प्रसंग में मैं "संदर्भ" मई १९६५ के अंक में प्रकाशित इगनाजियो साइलान के निबंधानुवाद की चर्चा करना चाहूँगा। साइलान एक प्रतिबद्ध लेखक है। चूँकि वह लेखक है, इसलिए पूर्णतः मानव है, और मानव होने के सारे उत्तरदायित्व को समझता है, और साइलान मानता है कि प्रतिबद्धता कोई विधि नहीं है। जो लोग ऐसा मानते हैं वे भयानक गलती करते हैं। ऐसा माननेवाले ही उन कवियों और लेखकों के संबंध में निन्दात्मक या प्रशंसात्मक निर्णय देते हैं जो राजनीति, सामाजिक समस्याओं पर न लिखकर प्यार, फल और सपनों पर लिखा करते हैं। ऐसे लोग दूसरी ग़लती यह करते हैं कि साहित्य में निहित आधारभूत लक्ष्यों का किसी दल, मत, राज्य के साथ तादात्म्य करना चाहते हैं। व्यक्तिगत कार्य पर आधारित प्रतिबद्धता [यानी स्वतः संचालित] संस्कृति, स्वतंत्रता और स्वायत्तता को आदर देती है। कोई ईसाई ईश्वर का तादात्म्य पोप के साथ स्थापित न करेगा। कोई सोवियत संघ के साथ समाजवाद का तादात्मीकरण नहीं कर सकता और न जनतंत्र के साथ अमरीका का। इस विचारोत्तेजक विश्लेषण के बाद साइलान का यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है, "वह लेखक जो प्रतिबद्ध है, जो प्रतिबद्धता के लिए व्यक्तिगत कर्म स्वीकार करता है, समाज का होता है, राज्य का

नहीं। उसे किसी रूढ़ आदेश को स्वीकार नहीं करना चाहिए, चाहे वह जदानोव की ओर से आता हो या मैकार्थी की ओर से। वह लेखक जो ईमानदारी से अपनी कार्य-चेतना से प्रतिबद्ध है और अपने प्रति सच्चा होने की इच्छा रखता है, अवश्य मानव की सेवा में या अपनी जाति के साथ रहे।"

इसलिए प्रतिबद्धता को मैं प्रत्येक लेखक के उत्तरदायित्व का आत्म-परीक्षण-भाव मानता हूँ। यह भाव हिन्दी के लेखकों में चर्चा का विषय बना, यह महत्त्वपूर्ण बात है। किन्तु यह जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ज़ोखम से भरा हुआ भी, क्योंकि अपनी आस्था और मान्यता पर दृढ़ रहना सतत् संघर्ष और जागरूकता की पीड़ाओं को स्वीकार करना है। दलों और शिविरों के इस युग में ऐसे लेखक को उपेक्षा और विरोध का हालाहल पदे-पदे पीना दुर्निवार होता है। यह उसकी अप्रतिहत आस्था और जिजीविषा ही होती है जो काली से काली रात में भी निस्तेज नहीं होती। भारत की परिस्थितियाँ पर्याप्त उलझावों से भरी हैं। नारे कुछ हैं, कर्म कुछ। सभी व्यक्ति मुखौटा डाले घूम रहे हैं। भाव और विचार भी नक़ाब से रहित नहीं हैं। ऐसी स्थिति में सद्यः स्वतंत्रता प्राप्त, परिवर्तन के दौर से गुज़रते, बाहर से आक्रान्त और भीतर से विदीर्ण इस नये राष्ट्र के साहित्यकारों के लिए प्रतिबद्धता का प्रश्न आत्मविश्वास और आस्था का प्रश्न है। निराशा सहज संभाव्य है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि "नया अंकुर निकल रहा है। बीज का कचरा ही विदीर्ण हो कर घटाटोप अन्धकार की तरह उसके सिर पर छा गया है। एक झटके के साथ यह किसी दिन दूर हो जाएगा—इसमें निराश होने की बात क्या ?" किन्तु, जब तक यह दूर नहीं होता, लेखक का अपनी प्रतिबद्धता पर ठीक से सोचते-विचारते रहना अत्यन्त आवश्यक है। हमें अपने और अपनी जनता के प्रति उदासीनता के भाव से मुक्ति पाना है। यदि किसी देश का बुद्धिजीवी वर्ग ही समाज की समस्याओं से उदासीन हो कर बैठ रहेगा, तो फिर सामान्य जन के लिए रास्ता ही क्या रहेगा। हमें खुद सचेत, जागरूक जीवन जीना चाहिए और अपने सह-जीवी पाठक को, जो हमारे समानान्तर ही जी रहा है, जीने की सही दिशा देनी चाहिए ताकि वह खुद अपनी ज़िन्दगी को व्यर्थ का भार न माने और सही अर्थवत्ता दे सके।

● ●

प्रश्न चिन्हों के जंगल में परिवार

•

घर के बाहर कुछ है, घर के भीतर कुछ। कहने को तो घर या परिवार समाज की एक इकाई है, उसीका अविच्छिन्न हिस्सा, पर यह हिस्सा आज मुख्य अंग का एक समन्वित भाग न होकर धारा के बीच का द्वीप बन गया है। परिणाम यह है कि मुख्य धारा इसे सींचने-सहलाने का काम कम, तोड़ने-काटने और ढाहने-छांटने का काम ज्यादा कर रही है। परिवार के बाहर आफिसों में, कैफे या होटलों में, सड़कों या बाग-बगीचों में, आप खुश हैं, प्रसन्न हैं, कहकहे लगा रहे हैं तो आप की हँसी-खुशी से परिवार भले अछूता रह जाये, और प्रायः रहता भी है, किन्तु जब आप बाहर की जगहों में परेशान होते हैं, घिर जाते हैं, लताड़ित-प्रताड़ित होते हैं, मायूस-उदास होते हैं तो परिवार अछूता नहीं रह पाता। आप की मनःस्थिति उसे पूर्णतः अपनी लपेट में ले लेती है। चाय के प्याले टूटने लगते हैं। बच्चों के गाल तमाचों से लाल हो जाते हैं। पत्नी सिकुड़-सिमटकर कोने में दुबक रहती है या कुछ स्वाभिमानी और तेज-तर्रार हुई तो महाभारत के शान्ति पर्वका दृश्य उपस्थित हो जाता है। यानी संक्षेप में यह कि परिवार, आप चाहें भी तो, एक स्वतन्त्र, स्वतः पूर्ण सुरक्षित और अलग-थलग की इकाई नहीं हो सकता। सच तो यह है कि परिवार सामाजिक घात-प्रतिघात यानी 'इण्टरेक्शन' का सबसे क्षुब्ध और बदसूरत क्षेत्र है। भले ही साज-सजावट और दिखावे की प्रवृत्ति परिवार को हमेशा ही दुनिया के सामने 'शो केश' में रचसंवार कर रखती रहे। बोउवा ने लिखा है कि "औरतें अपने इस 'इण्टीरियर' को जैसा कि घर या परिवार माना जाता है, हमेशा ही दूसरों के सामने प्रदर्शित करने में खुशी का अनुभव करती हैं।" किन्तु परिवार क्या सचमुच में 'इण्टीरियर' जैसी कोई चीज है? परिवार कटी हुई स्वतन्त्र इकाई बिलकुल नहीं है, क्योंकि वह निरन्तर समाज के दूसरे पक्षों के साथ अपने तयशुदा सम्पर्कों और सम्बन्धों से अनुशासित होता रहता है। चूंकि परिवार अपने सदस्यों के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक स्तरों का परिचायक भी होता है, इसी कारण वह हमेशा दूसरों की, बाहरी लोगों की, निन्दा-प्रशंसा पूर्ण दृष्टि के प्रभावों से आहत-व्याहत भी होता रहता है।

भारत में परिवारों का परम्परागत स्वरूप संयुक्त कुटुम्ब का रहा है। इसी कारण यहाँ बाप-बेटे के बीच संघर्ष का रूप उतना उग्र नहीं रहा, जितना सास-बहू के बीच संघर्ष का। संयुक्त परिवार का पुत्र बाप के अधिकारों का वारिस होने के कारण पितृव्यों और चचेरे भाइयों के बीच सम्मान और सौहार्द पाता था, इसीलिए वह बाप से न लड़कर, बल्कि उसके साथ जुड़कर संयुक्त कुटुम्ब के दूसरे हिस्सेदारों से टकराता रहता था।

यानी तब भारत में, संयुक्त कुटुम्बों के भीतर संघर्ष के क्षेत्र इतने विविध थे कि पुत्र के भीतर 'एडिपस ग्रन्थि' की प्रक्रियाएँ प्रायः दबी रह जाती थीं या अगर व्यक्त होती थीं, तो रूपान्तरित होकर, कोई भिन्न आकृति और हुलिया ग्रहण कर लेती थीं। सास-बहू के बीच संघर्ष का रूप अवश्य ही उग्र हुआ करता था। एक तो इसलिए कि बहू 'आउटसाइडर' होती थी, दूसरे सास के सामने वह उसकी प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उपस्थित होती थी। भारतीय माँ को पति की अपेक्षा पुत्र पर ज्यादा विश्वास और गर्व रहा है। लोक कथाओं को उपेक्षित माताएँ अपने पुत्रों के भविष्य के प्रति आशाएँ लगाकर दुख के बुरे से बुरे दिन काटती रही हैं। बहू का आगमन सास के लिए शंकाओं से भरा-भरा होता था, क्योंकि माताएँ सोचती थीं कि उम्र, रूप और यौवन में उनसे श्रेष्ठ यह प्रतिद्वन्द्वी उनके पुत्रों को, यानी उनकी आशालताओं को, छीन लेगी। एक कन्नड लोकगीत में कहा गया है—'माँ कितनी खुश है उसके आगमनपर, पर यह सोचकर कि वह उसके लाड़ले को छीन लेगी उसकी गोद से, हक्काबक्का होकर ताकती रह जाती है, आसमान की तरफ।'

परिणामतः मध्यकालीन साहित्य में और उससे कहीं अधिक लोक कथाओं में सास-बहू के झगड़े को बहुत महत्त्व दिया गया। आज भी यदा-कदा इस विषय पर एकाध उपन्यास या कहानियाँ दिख जाती हैं, प्रायः स्त्री-लेखकों द्वारा रचित। ऐसा शायद इसलिए कि अभी भी, पढ़ी-लिखी बहुओं के लिए भी अपने को 'सास' के साथ ऐडजस्ट कर पाना मुश्किल हो रहा है।

यह बताने की जरूरत नहीं कि आज भारतीय परिवार काफी बदल गया है। आज का परिवार न तो मनुस्मृति के नियमों पर चलता है और न मिताक्षरा के विधानों पर। आज के परिवार के सामने न तो रामायण आदर्श है और न महाभारत ही। सच तो यह है कि भारतीय परिवार भी, देश के ही समान, एक अजीब कशमकश, घुटन, अलगाव, दिशाहीनता, ईर्ष्या, कलह और 'तू-तू-मैं-मैं' के दौर से गुजर रहा है। संयुक्त परिवार टूट चुके हैं या टूट रहे हैं। बाबा-दादों, पिता-चाचोंवाले परिवार बहुत कम रह गये हैं। यह सही है कि अब भी ऐसे परिवारों की संख्या कम नहीं जहाँ बूढ़े दादा-दादी का शासन है, जहाँ पिता को पुत्रों से मिलने नहीं दिया जाता। पत्नी पति से बात नहीं कर पाती। बहुएँ चहारदीवारी के बाहर निकल नहीं पातीं। दायादिनों की लड़ाई और कलह से नींद हराम हो जाती है। सास-बहू में रोज चख-चख चलती रहती है। लड़कियों की शादी के लिए वर ढूँढ़ने में जूते के तल्ले घिस जाते हैं। खेत रेहन रखे जाते हैं। एक आदमी काम करता है, तो चार आदमी चारपाई तोड़ते रहते हैं। काहिली को सम्मान और शान समझा जाता है। स्त्रियाँ संयुक्त परिवार की सम्पत्ति को, चावल-दाल तक को, चोरी-चोरी बेच कर निजी सम्पत्ति बढ़ाती हैं। ये चोरियाँ अक्सर मामूली बातपर रोज-रोज लड़ने झगड़ने वाली दायादिनें मिल जुलकर सहकारी ढंग से करती रहती हैं।

परिवार खोखले होते जाते हैं। बच्चों की पढ़ाई और मामूली आवश्यकताओं के लिए भी साधन जुट नहीं पाता। एक अजीब तरह का स्याह पर्दा परिवार के मालिक के चेहरे पर झूलता रहता है। परिवार का हर सदस्य एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखता है। सभी के चेहरे खिचे-खिचे और कुढ़नसे भरे दिखायी पड़ते हैं। परिणामतः परिवार टूट रहे हैं। ये जितनी जल्दी टूट जायें, उतना ही अच्छा। यद्यपि इस देश में आज भी इस बात पर बहस जारी है कि क्या इस कृषि प्रधान देश के लिए संयुक्त परिवार वाली पद्धति ज्यादा अच्छी नहीं है? प्रेमचन्द ने इसी भावना से प्रेरित होकर 'बड़े घर की बेटी' लिखी थी। आनन्दी टूटते हुए परिवार को संभाल लेती है और पाठकों से लेखक विह्वल होकर कह उठता है—"बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।"

पर कहना न होगा कि यह यूटोपिया यथार्थ से काफी दूर है। संयुक्त परिवारों में आनन्दी का लोप हो चुका है। उसके स्थान पर अनानन्दियों की संख्या बढ़ रही है। सैमुअल बटलर के उपन्यास 'द वे ऑफ् आल फ्लेश' के पाठक जानते हैं कि माता-पिता की रूढ़िवादिता और सख्ती सन्तानों को किस कदर आत्म हत्या के कगार पर खड़ा कर देती है। बटलर ने निर्ममता के साथ कहा है—"परिवार के सम्बन्धों को टूटने न देकर उन्हें जैसे-जैसे कृत्रिम रूप से खींचते चलने की प्रवृत्ति ने जितनी क्षति पहुँचायी है, उतनी किसी और सामाजिक प्रवृत्ति ने नहीं। प्रभु यीशु ने कहा था कि बिना घर-परिवार छोड़े कोई सच्चा ईसाई नहीं बन सकता, किन्तु मध्यकालीन चर्च ने उनके कथन को झुठलाकर परिवार की सत्ता पर मुहर लगा दी और माता-पिता के निरंकुश अधिकारों के सामने समर्पण की भावना को धार्मिक कृत्य कहकर काफी प्रोत्साहन दिया।"

पिछले सात-आठ वर्षों में हिन्दी कहानी में पिता-पुत्र-द्वन्द्व के चित्रण की प्रवृत्ति बढ़ी है। प्राचीन परम्परा से पोषित सम्बन्धों में मात्र गाँठें ही नहीं पड़ी हैं, जैसा सन पचास के बाद की कहानियों में था, बल्कि अब वे उस सीमा को छूने लगी हैं, जहाँ रक्त पात होता है। खून के रिश्ते से और आशा भी क्या की जा सकती है? उषा प्रियम्बदा की 'वापसी', विजय चौहान की 'मुक्ति', ज्ञान रंजन की 'पिता', मनोहर श्याम जोशी की 'एक दुर्लभ व्यक्तित्व' आदि कहानियाँ इसका उदाहरण हैं। सन ५० के आस-पास कहानी के क्षेत्र में पारिवारिक व्यक्तियों के चित्रण की एक प्रवृत्ति चली थी। 'दादी माँ', 'गुलराके बाबा', देवाकी माँ' आदि कहानियों में पितृ वर्ग या आदरणीय बुजुर्ग का चित्रण एक भिन्न दृष्टिकोण से होता था। लेखक इन सामान्य चरित्रों के भीतर कुछ ऐसा खोज रहा था, जो स्वतन्त्र भारत की नयी आकांक्षा को बल दे। वह इन चरित्रों के माध्यम से असल में अपने को खोज रहा था, सामाजिक नक्शे में अपनी स्थिति का अन्वेषण कर रहा था। साठ के बाद की कहानियों में मोहभंग के स्वर की तीव्रता है। पितृवर्ग या बुजुर्ग व्यक्तियों ने, जिनके ऊपर स्वतन्त्र नन्हें देश को दिशा देने का भार था, अपने स्वार्थों और दकियानूसी विचारों, अधिकारों और सत्ता-मोह तथा

जैसे-तैसे कुर्सी से चिपके रहने की प्रवृत्ति के कारण नये लोगों के आगे के मार्ग रूँध दिये। देश को दिग्भ्रमित और खोखला कर दिया। परिणामतः इन कहानियों में बुजुर्गों के प्रति आक्रोश का भाव दिखायी पड़ता है।

आक्रोश और विद्रोह में अन्तर होता है। क्रुद्ध व्यक्ति प्रचलित प्रथा से चिढ़ा होता है, उसपर प्रहार करता है, किन्तु उसका क्रोध निष्फल और दिशाहीन होता है। नीत्शे ने ऐसे लोगों की प्रतिक्रिया को रिबेलियन (विद्रोह) न कहकर 'रेजेण्टीमेण्ट' (आक्रोश) कहा था। नीत्शे का यह विचित्र शब्द मैक्स शीलर को बहुत पसन्द आया और उन्होंने १९१२ में 'क्रुद्ध आदमी' नाम से एक बहुत महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखा, जिसकी यूरोपीय बौद्धिकों में खूब चर्चा हुई। फ्रान्स के बौद्धिकों ने इस निबन्ध की, नाज़ीवाद का समर्थक और अजनतान्त्रिक कहकर निन्दा भी की, पर शीलर की विवेक-शक्ति और सूक्ष्म विश्लेषण से कोई इनकार न कर सका। शीलर ने आक्रोश के तीन स्तर बताये थे। घृणा का भाव ईर्ष्या और आक्रामक रुख, व्यक्ति या समाज के आक्राम्य तत्वों के प्रति अपने मनोभावों को सक्रिय रूप में व्यक्त करने की क्षमता का अभाव, तथा निरन्तर अपने नपुंसक क्रोध को अनुभव करके बड़बड़ाते रहने की प्रवृत्ति। विद्रोही क्रोध करता है, पर अपनी नपुंसकता और लाचारी को वैचारिक जामा पहना कर सन्तुष्ट नहीं होता। आक्रोश मूल्यहीन होता है, जबकि विद्रोह मूल्य सम्बद्ध। विद्रोही निरर्थक मूल्यों से टकराता है और उन्हें तोड़कर नये मूल्य प्रतिष्ठापित करना चाहता है। क्रुद्ध व्यक्ति 'अंगूर खट्टे' कहकर अपनी कुढ़न व्यक्त करता रहता है, जबकि विद्रोही अंगूरों के बारे में प्रचलित स्वाद को ही ग़लत कहता है और उसकी जगह स्वाद का नया मानदण्ड रखना चाहता है।

उपर्युक्त हिन्दी कहानियों में, जिनमें पिता-पुत्र का द्वन्द्व दिखाया गया है, आक्रोश ही चित्रित हुआ है, विद्रोह नहीं। क्योंकि सारी नाराज़ी पिता के कुनबेसे हैं, जिसकी क्रूरता के अन्दर पुत्र पिसता रहता है, पर वही पुत्र अपना कुनबा बनाकर सन्तुष्ट हो जाता है। असल में यह एक अद्भुत माया चक्र है। अपने पिता के विरुद्ध बग़ावत का अधिकार चाहने वाला अपने भावी पुत्रों को यही अधिकार सौंपने को तैयार क्यों नहीं रहता?

जाहिर है कि इन परिस्थितियों में परिवार का सौहार्द और सौमनस्य निरन्तर टूट रहा है। पुत्र युवा होते ही, जहाँ अपने पैरों पर खड़ा होने के योग्य हुआ, अपनी स्त्री के साथ नया परिवार बसा लेता है।

इस तरह के मियाँ-बीवी वाले छोटे कुनबों की समस्याएँ और परेशानियाँ अलग तरह की हैं। ऊपर से देखने पर लगता है कि ऐसे छोटे-छोटे कुनबे बहुत अमन-चैन से रहते होंगे। दो हृदयों के बीच का प्रेम अपने और अपने बच्चों की जिन्दगी को रस से भर देता होगा। पर वस्तुतः ऐसी बात होती नहीं। आदमी का मन इतना सीधा नहीं

होता। एक से बँधकर रहना उनका स्वभाव नहीं होता, प्रयत्न होता है। और प्रयत्न हमेशा ही सफल हो, यह जरूरी नहीं। परिणामत: मियाँ-बीवी वाले छोटे कुनबों में अशान्ति का प्रवेश होता है। परिवार के भीतर एक नये किस्म का 'आउट साइडर' प्रवेश करता है। पति की प्रेमिका के रूप में या पत्नी के जार के रूप में।

एंगेल्स ने लिखा है कि "एकैक विवाह (मोनोगमी) ज्यों-ज्यों स्थिर व्यवस्था का रूप ले रहा है, दो विशेष प्रकार की सामाजिक आकृतियाँ उभरती हैं—पत्नी का प्रेमी यानी जार और पति की प्रेमिका यानी रखैल। एकैक विवाह की पद्धति और जातिगत विवाह की विवशता के कारण अवैध लैंगिक सम्बन्ध एक अनिवार्य सामाजिक प्रथा बनता जा रहा है। यह कानून से प्रतिबन्धित है, इसके लिए एक कड़ी से कड़ी सजा दी जाती है, किन्तु इसे ख़त्म करना असम्भव है।"

छोटे परिवार के लिए आदमी के सहज स्वभाव से उत्पन्न यह समस्या बहुत बड़े संकट का कारण बन जाती है। यह कोई माया रात्रि के बीच छद्मवेशधारी इन्द्र के साथ अहल्या के सम्बन्ध का प्रश्न नहीं है, जिसे नारी को पाषाणी बनाकर सुलझाया जा सके। यह तो तारा और चन्द्रमा के पुराकालीन सम्बन्धों से उत्पन्न सन्ततियों की विवशता है, जो आज भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' की कष्टदायक अनिवार्यता को ढोती जा रही हैं। घरे-बाहिरे, त्यागपत्र, सुनीता, कविकी पत्नी, इनाम, एकऔर जिन्दगी, कमजोर लड़की की कहानी, चश्मे, परिणय, सावित्री नम्बर दो, एक पति के नोट्स आदि कहानियों में पति-पत्नी के सम्बन्धों के खिचाव, या परस्पर कटकर एक नयी जिन्दगी की चाह, या अपनी एक छद्म जिन्दगी जीने की तमन्ना सर्वत्र दिखायी पड़ती है। यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि इन कहानियों में चित्रित जीवन नैतिक या अनैतिक है, उचित या अनुचित है। प्रश्न सिर्फ यह है कि इस पारिवारिक समस्या को लेखक किस दृष्टि से देखता है। हम इस प्रकार की स्थितियों से किस प्रकार टकराते हैं, और इनकी पीड़ा-व्यथा को भोगने वालों के प्रति हमारा मनोभाव किस प्रकार का बनता है।

इस तरह की समस्याएँ अब अपने देश के पारिवारिक जीवन में भी उठ रही हैं, भले ही इनकी संख्या अभी काफी कम हो। किन्तु ज्यों-ज्यों इस देश में औद्योगिक विकास होता जायेगा, आबादी का पढ़ा-लिखा अंश नगरों को केन्द्र मानकर उनके इर्द-गिर्द सिमटता आयेगा, इस तरह की समस्याएँ अनिवार्यतः बढ़ती जायेंगी। अभी तो इस देश में परिवार के सम्बन्ध में अध्ययन और विचारणाएँ सिर्फ परिवार-नियोजन तक ही सीमित हैं। सूक्ष्म समस्याओं के बारे में ध्यान देने का न तो हमारे पास अवसर है और न तो क्षमता ही। किन्तु हमारी निष्क्रियता के कारण विकासमान समाज की पारिवारिक समस्याएँ खत्म नहीं हो सकतीं। एंगेल्स की उठायी हुई समस्या से बचाव का तरीक़ा सिर्फ़ यह हो सकता है कि हम व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिर्फ नारे ही न लगायें,

बल्कि उसकी अच्छाइयों और बुराइयों को झेलने की शक्ति भी अर्जित करें। मालरो के "मैन्स फेट" की पति-पत्नी की तरह आपस में एक निर्णय लिया जाना चाहिए कि हम एक दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होंगे। वैसे इतने पर भी पूर्ण शान्ति की आशा नहीं करनी चाहिए। पत्नी 'मे' पति 'कियो' से बताती है कि वह एक मित्र के साथ सोयी थी। कियो को दुःख होता है। इसलिए नहीं कि वह पत्नी के इस कार्य को अनैतिक मानता है, बल्कि इसलिए कि कहीं वह आदमी यह न समझ ले कि उसने 'मे' को प्राप्त किया था। वह यह भी जानता है कि इतनी आसानी से कोई किसी को नहीं 'पा लेता', पर उसे दुनिया की गलत धारणाओं को सोच-सोच कर अपमान का अनुभव होता है। दुनिया में तो अक्सर लोग यही सोचते हैं कि किसी के साथ सोने का अर्थ है किसी को पा लेना। मालरो के इस चरित्र 'कियो' के मानसिक स्तर से भारतीय आधुनिक पतियों के मानसिक स्तरकी तुलना करने पर यह समझ में आ सकता है कि हमारे देश में आधुनिक परिवारों की सुख-शान्ति के लिए अभी कितनी लम्बी यात्रा तै करना बाक़ी है।

परिवार ध्वंस की प्रक्रिया और अकेलापन

इन सब परेशानियों से ऊबकर बहुत से भावुक लोग परिवार-प्रथा के ही विरुद्ध दिखायी पड़ते हैं। वे अपनी उत्पत्ति का इतिहास भूलकर नयी और भविष्यत् पीढ़ी के लिए परिवार-प्रथा के विरोध की सलाह देते हैं। अनेक लोग पारिवारिक झंझटों से बचने के लिए समलिंगी सम्बन्धों की हिमायत करते हैं। यह समस्या का समाधान नहीं, विकृतीकरण और पलायन है। गुहामानव से लेकर आज तक परिवार-संस्था किसी-न-किसी रूप में चलती आ रही है और मानवता के विकास के प्रत्येक चरण में वह उसे सहारा, शरण और शक्ति देने के लिए चलती रहेगी। आधुनिक मनुष्य को अकेलापन का अभिशाप ढोना ही होगा, यही उसकी नियति है, पर ऐसे मनुष्य के लिए भी परिवार की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। यह सही है कि फ्रैंज काफ का और वान गाग जैसे कलाकारों के निर्माण में परिवारों का कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं रहा, पर यह भी सही है कि मनपसन्द परिवार की भूख उनके अकेलेपन को नयी जिजीविषा देती रही।

आज परिवार संकट में है। वह निरन्तर ध्वंस और बरबादी की ओर तेजी से बढ़ रहा है। परिवार के अभिभावक अपनी सन्ततियों के पालन-पोषण और शिक्षण का उत्तरदायित्व स्वयं न उठाकर समूहों को सौंप रहे हैं। इस तरह नौकर, आया और स्कूली अध्यापकों द्वारा भावी पीढ़ी प्रचलित नारों, फैशनों और सामाजिक चाल-चलन से विवेकरहित ढंग से प्रभावित होने के लिए छोड़ दी जाती है। इसमें इन समूहों का कोई दोष नहीं, फिर भी इसके कारण समाज और देश में उस तरह के संस्कारी, पारिवारिक और मानवीय सम्बन्धों से पुष्ट व्यक्तियों का अभाव तो होगा ही, जो किसी भी

राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति होते हैं। परिवारों के प्रति हमारी उपेक्षा पूरे राष्ट्र को पतन के कगार पर खड़ी कर रही है, इसे नहीं भूलना चाहिए।

ईमानदारी और सत्य ही प्रेम और परिवार की मूल भित्ति हैं। जब तक उसका प्रत्येक सदस्य इस चीज़ को सही ढंग से नहीं समझ लेता, शान्ति सम्भव नहीं। ईमानदारीपूर्वक यदि परिवार के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व को आदर देते हुए उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा की जायेगी, तो वह व्यक्ति भी अपने को सुरक्षित और सार्थक समझकर परिवार के हितों के लिए स्वयं को समर्पित कर देगा। तभी सच्चे अर्थों में सुखी परिवार का जन्म होगा, जहाँ न 'एडिपस काम्प्लेक्स' से प्रेरित पुत्र पिता का रक्तपात करेगा, न पिता पुत्र के भविष्य को अन्धकारमय होने का अभिशाप देगा। वहाँ न तो पति-पत्नी के बीच महाभारत होगा और न तो अबोध बच्चे माता-पिता से उपेक्षित होकर नौकरों या मुहल्ले के गन्दे लोगों से जीवन का पाठ सीखेंगे। यह सब कुछ युटोपिया या कल्पना मात्र नहीं है। यह सत्य है और इसे यथार्थ में बदला जा सकता है, बशर्ते हम अपने उत्तरदायित्व को सही ढंग से निभायें और भार मानकर इससे बरी होने का प्रयत्न न करें।

● ●

राजनीतिक संत्रास, मोहभंग और नई प्रतिबद्धताएँ

●

"किसी भारतीय के लिए दो टूक 'हाँ या ना' में उत्तर देना कितना कठिन है, यह इंगलैंड के लोग अच्छी तरह जानते हैं।" न्यू स्टेट्समेन में प्रकाशित मेरवीं जोन्स की इस राय पर शायद ही किसी को नाइत्तफ़ाकी हो। हिन्दुस्तानी पुश्तैनी मुरव्वत-शिआर होता है वह जल्दी किसी का दिल दुखाना नहीं चाहता। उसके चलते उसे चाहे नाक़िस से-नाक़िस ज़िन्दगी हो क्यों न बितानी पड़े। हमारे देश की सत्ताधारी पार्टी ने इस मुरव्वती को अगर असीम और अटूट मान लिया था तो उसमें कोई बुनियादी गलती तो नहीं थी। वैसे बुनियादी बातों को ढोते रहने की कांग्रेस ने कभी क़सम भी नहीं खाई। उसकी इसी लोचदार पॉलिसी का नतीजा था कि वह तेज-से-तेज़ आंधी में अटल-अडिग बनी रही। उसने मान लिया था कि हिन्दुस्तान उसकी बपौती है, जागीर है, जिस पर वह जिस ढंग से चाहे शासन कर सकती है।

पिछले २० वर्षों का कांग्रेसी शासन भारतीय इतिहास में 'शर्मनाक भिक्षाकाल' के नाम से स्मरण किया जायेगा। इस अरसे में कांग्रेस ने देश को पथभ्रष्ट दिशाहारा और निराश-निरीह बनने के लिए मजबूर किया। जहालत, दीनता और अपमान को सहने का स्वभाव बनता गया। हर खतरे के सामने शुतुरमुर्ग को तरह सिर छिपाकर समस्याओं की टक्कर से बचने की कोशिश जारी रही। इस कोशिश की कांग्रेस यदि अपनी मजबूरी मान लेती तो उतना मलाल न होता। ऐसी नपुंसकताओं को वह डंके की चोट पर महान् आदर्शों के रूप में विज्ञापित करती रही। ऐन मोर्चे पर लताड़ित होकर पीछे हटकर मोर्चा बनाना हमारी राष्ट्रीय नीति बन गई। समस्याओं के टकराने की जहमत से बचने के लिए उसने 'यथावत् स्थिति' (स्टेटस-को) बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु, उसने कभी भी यह ख़याल नहीं किया कि 'यथावत् स्थिति' ज़िन्दगी का कि नहीं मृत्यु का लक्षण है और जो भी इस स्थिति से मोह करता है, आबद्ध होकर सकून पाता है, वह मृत्यु का ग्रास बनता है।

कांग्रेस मर गई। मुरव्वतपसन्द हिन्दुस्तानी को शायद अब भी विश्वास न हो। पिछले पचास वर्षों का हिन्दुस्तान कांग्रेस से इस कदर जुड़ा रहा है कि एक के बिना दूसरे को सोच पाना भी मुश्किल था। हिन्दुस्तान के प्रत्येक संकल्प, प्रयत्न और कर्म के पीछे एक ही बीज-मंत्र था, कांग्रेस। परम सत्य, परम साध्य और परम दैवत् कांग्रेस। इसकी शक्ति अपरिमेय थी, इसका कुहक असीम। इसकी अभंगुरता के मिथक थे। इसकी

अचूक सफलता की निजंधरी कथाएँ थी। यह चिरादिम मिश्र जन्तु की तरह विभिन्न जानवरों के अंगों से बना था। गधे का मुँह, शेर के जबड़े, हाथी के पैर, छिपकली की आँखें, और गिरगिट का रंग। इसे देखकर बिना समझे लोग बकने लगते थे—"अहो रूपं, अहो वीर्यं, अहो सत्वं, अहो द्युतिः।"

वही द्युतिमान आज धराशायी हो गया। लेकिन हमें विश्वास नहीं होता। दोपहर के समय तेज सूरज की रोशनी में यह घटना घटी है, पर अभी भी लोगों को यक़ीन नहीं आता। कभी-कभी मरा आदमी तक जी जाता है, फिर इतना बड़ा मायावी चाल-बाज जन्तु हमेशा के लिए मर गया, इस पर विश्वास करना सरल नहीं। यह कई बार मरा, पर हर बार किसी-न-किसी बहाने जी गया। मुसलमान और हरिजन वोटों को चाट-चाटकर यह विशाल अज़दहा जीवित रहा। इसकी मृत्यु से खुश होने वाले लोग भी एकान्त में इसके मायावी कारनामों को सोचकर काँप उठते हैं। काशी में चुनाव के परिणामों की चर्चा थी। सर्वत्र, सर्वथा चहल-पहल और खुशी। एक ग़रीब मजदूर को बेपनाह खुश देखकर उनका एक अनुभवी बुजुर्ग हमसफ़र बोला—"हँस लो, हँस लो, अभी क्या! जब लगाएगा डंडा, तब जान पड़ेगा। साँस नहीं आएगी, हाँ।" भोले नव-युवक मज़दूर के चेहरे से हँसी उड़ गई जैसे किसी ने उसके प्राणों की घुंडी ही मरोड़ दी हो। सच तो यह है कि काग़ज का शेर असली से कही ज़्यादा डरावना होता है।

यह भी अजब तरह का आतंक है, जिसमें मनुष्य को आतंक का बोध न हो, पर परिणाम उससे भी बुरे भोगने पड़ें। सभी जानते थे कि कांग्रेस न तो तानाशाही का नाम है न निरंकुशता का। पर भोगना सबको प्रकारान्तर से यही पड़ता था और है। कांग्रेस ने पिछले २० वर्षोंमें एक ऐसी मशीनरी का निर्माण किया जिसमें घुसकर सत्य असत्य हो जाता था। निर्दोष अपराधी और अपराधी निर्दोष बनकर बाहर आता था। न्यस्त अभिप्राय वाले लोगों का कांग्रेस ने इतना बड़ा गिरोह बना रखा है, ऊँची-ऊँची बातें करने के अभ्यस्त, जो कानून, लोकतन्त्र और राष्ट्रीय एकता का नाम लेकर उन्हीं की निरन्तर हत्या करते रहते हैं। भारतीय जनगण यह सब सहता रहा। उसे राष्ट्रीय स्वाभिमान की चिन्ता नहीं। विश्व-शांति के लिए कांग्रेस ने क्या किया और क्या नहीं किया इसे जानने की कोई दरकार नहीं। हमारी परराष्ट्रनीति उचित है या अनुचित, इस पर विचार करने की उसे फुरसत नहीं। विदेश से प्राप्त और स्वदेश में उत्पन्न धन-राशि किसकी जेब में जा रही है, इसे जानने की उसे कोई उत्कंठा नहीं। यानी प्रका-रान्तर से हमारी जनता अब भी जड़ भरत की तरह अचेत रहने में शांति पाती है; पर अचानक उसे लगा कि कांग्रेस अब उसके पेट पर लात मार रही है। मँहगी-से-मँहगी दो रोटी भी उसे मयस्सर नहीं हो सकती। भारतीय जनता अस्तित्व की इस अन्तिम अधम सीढ़ी पर उतरकर बेसब्र हो गई और उसने मुरव्वत के नकाब को चिथड़े-चिथड़े करके फ़ेंक दिया। भूख और अपमान की ज्वाला में झुलसते इस देश के क्रुद्ध हाथों में कांग्रेस

की गरदन आ गई और उसने पागल बन-मानुस की तरह झकझोरना शुरू किया। कांग्रेस का दम घुट गया और वह गिर गई।

नाभिनन्देत् मरणम्। शास्त्रकार कहते हैं कि किसी की मृत्यु का अभिनन्दन नहीं करना चाहिए। मैं मृत्युका अभिनन्दन नहीं कर रहा हूँ, जागरण का अभिनन्दन कर रहा हूँ। पर एक शंका भी रह-रहकर मनमें उठती है। क्या सचमुच जागरण आ गया। क्या वस्तुत: हम मोहभंग की स्थिति में आ गए हैं ? क्या हम सचमुच उस सत्य को जान गए हैं जिसे जान लेने पर आदमी मिथ्या मोह में नहीं पड़ता। 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव'। क्या अब मोह नहीं आएगा ? मुझे विश्वास नहीं होता। मैं साहित्यकारों की उस पीढ़ी का आदमी हूँ जो जागरण को कृतिम मानव-व्यापार मानते हैं। जनता १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण के समय भी जगी थी। उस वक्त भी हमें विश्वास नहीं हुआ कि यह सचमुच ही जग गई है। उस वक़्त भी हमने युद्ध पर साहित्य लिखना परम्परावादिता मान लिया। लोग कहते हैं कि इस बार १९६७ में जनता फिर जगी है। पर मुझे विश्वास नहीं होता, क्योंकि मैं साहित्यकार हूँ। स्वभावो हि अतिरिच्यते। हमारा भी और जनता का भी। यदि हम जनता को जागृत मान लेते हैं तो जाहिर है कि हमारा लिखा हुआ आधुनिक साहित्य आरोपित सिद्ध हो जाएगा। हमारे साहित्य में बड़ा विद्रोह है आजकल। लेकिन कोई भी ऐसा विद्रोह नहीं करता—अस्वीकृति का, जैसा हमारी जनता ने किया है। हमारा विद्रोह शुद्ध आंगिक है। अपने अंगों पर हम तरह-तरह के प्रयोग करते हैं। यानी हमारा विद्रोह सेक्समूलक है, क्योंकि वही मूल चीज़ है। एकहि साधे सब सधे। मूल सध जाये तो बाक़ी अपने-आप सध जाएगा।

श्री कृष्णमेनन की पराजय के समाचार से मुझे खुशी हुई थी। राहत की साँस आई। मुझे लगा कि एकदम से परिवर्तन नहीं आ गया। अब भी मानव-अस्तित्व को देखने की आधुनिक दृष्टि सही है। अतार्किकता, असंगति आदि अब भी जीवन्त प्रश्न हैं। मेनन जीत जाते तो मानना पड़ता कि ईमानदारी जीत जाती है, शक्तिशाली गिरोहों से अलग होकर भी अकेला आदमी अपनी योग्यता प्रमाणित कर सकता है। अथवा 'आउट साइडर' के लिए भी कहीं-न-कहीं एक स्थान होता है। यह सब-कुछ नहीं हुआ। मेनन की पराजय ने प्रमाणित कर दिया कि हमारा समाज अतर्क्य और असंगत है, उसके हर काम के पीछे एक सुसम्बद्धता और सार्थकता खोजना बेकार है।

'स्पेक्टेटर' में भारतीय चुनावों की समीक्षा करते हुए डिक विलसन ने व्यंग्य करते हुए लिखा है—"भारत किधर जा रहा है ?" लोग अक्सर पूछते हैं—दाहिने या बाएँ ! भारत न "अधिक दायें" जा रहा है न "अधिक बायें," बल्कि वह ज्यादा 'स्थानिक' हो रहा है, 'मोर लोकल'। अमेरिका खुश है कि उसका कर्ज़खोर भारत अब विश्व-मंच पर कोई शक्ति नहीं रखता। इंगलैंड को ज्यादा 'स्थानिक' होने से खतरा महसूस होता

है कि भारत कहीं टूट न जाय। गोया भारत की एकता उनके लिए बड़ी खुशी की चीज़ है। मैं भी खुश हूँ यह जानकर कि भारत स्थानिक हो रहा है। 'स्थानिक' होने के परिणामत: द्रविण मुन्नेत्र कझगम्, जनसंघ या स्वतंत्रों का ज़ोर बढ़े तो कोई हर्ज़ नहीं। हमें थोड़ा और स्थानिक होना चाहिए। हमें दुनिया-भर के अंदेशे से दुबले होने की आदत छोड़ देनी चाहिए। ऊपर के ओढ़े हुए नारे और काग़ज़ी मेनिफेस्टों को ताक पर रखकर मुल्क के लिए 'नून तेल लकड़ी' की फ़िक्र करनी चाहिए। सारी पैंतरेबाज़ी से छुट्टी लेकर दिल की बात अपनी देशी भाषाओं में करनी चाहिए। 'सफ़ेद हाथियों' यानी विदेश दीक्षित काबिलों से पनाह लेकर कम प्रसिद्ध खांटी हिन्दुस्तानी लोगों को महत्त्वपूर्ण काम सौंपने चाहिए। ऐसे ही लोग सेक्रेटेरियटों में मंत्री के रूप में पहुँचकर अंग्रेजी-दक्ष सेक्रेटरी से कह सकते हैं—"ऐ बाबू यह दस हजार की कालीन फर्श पर से हटवाइये। डेढ़ रुपया गज़ कुर्ता पहनने वाले मुझ जैसों से इस पर चला नहीं जायेगा।" सेक्रेटरी हल्के मुस्कराकर मेज़ पर फाइल रख देता है। खांटी हिन्दुस्तानी मंत्री फिर मुस्कराता है। फ़ाइल उलट-पलटकर देखता है—"ऐ बाबू, यह सब तो अंग्रेजी में है। कोई बेईमानी की बात तो नहीं है न ?" अंग्रेजी-दक्ष सेक्रेटरी घबराता है। "आप भी हुजूर कैसी बात करते हैं ?" खांटी आदमी फिर हँसता है—"बेईमानी की कोई बात नहीं तो इसे हिन्दी में क्यों नहीं लिखा ?" सेक्रेटरी को पसीना आने लगता है, वह टुकुर-टुकुर मुँह ताकता रह जाता है ?

सब कुछ मिलाकर, यह जागरण यदि जागरण है, तो भी अवरुद्ध ही है। क्योंकि यह अभी भी कांग्रेस की जगह लेने वाला नेतृत्व पैदा न कर सका। आजकल हिन्दुस्तान में संयुक्त मोर्चे की चर्चा है ? चुनाव के पहले उसके साथ एक विशेषण भी लगता था वामपंथी। अब चुनाव के बाद विशेषण हट गया है क्योंकि यह विशेषण गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के निर्माण में बाधक था। अब इसमें जनसंघी और स्वतंत्र भी हैं, और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट भी। नई-नई प्रतिबद्धताएँ सामने आ रही हैं। बड़ा जोश और उत्साह है। जहाँ-जहाँ गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं कीमतें गिर गईं। जहाँ-जहाँ कांग्रेसी सरकारों के चरण पड़े, कीमतें चढ़ने लगीं। मुझे अचम्भा होता है कि क्या सचमुच सदियों की सोई हिन्दुस्तानी जनता ऐसी जग गई है कि कांग्रेस को मारकर उसकी जगह लेने की योग्यता प्रमाणित न कर पाने के अपराध में विरोधियों को भी मार डालेगी ? ऐसा भय न होता तो 'हाय रे मयूर व्याल पुच्छ से जुड़े' का ऐसा नज़ारा सामने क्यों आता ? और विरोधी पार्टियों का घाघपना तो देखते ही बनता है। इस क़दर बिना वादविवाद के सत्ता हथियाने के मरहले तै करने जा रहे हैं, गोया ये सभी सहोदर भाई हैं। मुझे फिर परेशानी हो रही है। चीज़ सोचने में अच्छी लगती है, उत्साह भी देती है। पर ज्यादा उत्साह से डर भी लगता है। लोग कहते थे कि कांग्रेस खत्म होगी, तो देश टुकड़े-टुकड़े बँट जायगा। बड़ा बुरा हाल होगा। तब सुनकर अच्छा लगता था। नाश के लिए

अभिशप्त होने की धारणा आधुनिक चित्त को सहलाती थी। अब तो ऐसा लगता है कि विरोधी पार्टियाँ मिल-जुलकर गिरती गाड़ी को सम्भाल लेंगी। अभी कल तक ये एक-दूसरे की शत्रु थीं। आंध्र में दोनों कम्युनिस्ट पार्टियाँ अपनी शक्ति प्रमाणित करने के लिए बुरी तरह लड़ीं। यही हाल बंगाल का भी हुआ। उत्तर प्रदेश में जनसंघ संयुक्त मोर्चे में आने को तैयार नहीं हुआ। अब इन सबों के बीच दाँत-काटी रोटी की दोस्ती है। मतलब यह कि हिन्दुस्तानी लड़ने-झगड़ने के अलावा भी कुछ जानते हैं। वे हिन्दुस्तानी पहले हैं, और कुछ बाद में। यह सब उत्साहवर्धक है। मगर कहा न कि मेरा चित्त शंकालु है। मुझे उस समय बड़ी परेशानी होती है जब अच्छी चीज़ों के होने में परेशानी नहीं होती है! तभी पढ़ा कि मार्क्सवादी कम्युनिस्टों के नेता सुन्दरैया ने श्रीमती गौरी थामस को हुक्म दिया कि वे अपने पति टी० वी० थामस से मिलने के लिए गली पार न करें। पति-पत्नी तिरुवनन्तपुरम् की एक सँकरी गली में आमने-सामने स्थित 'रोज़ हाउस' और 'झंडू' नामक मकानों में अलग-अलग रहते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के बँटवारे ने मियाँ-बीबी को बाँट दिया है। ऐसे ही विश्लेष दुःख से पीड़ित होकर महाकवि वाल्मीकि ने रामायण लिखी थी। हाय रे क्रौंच मिथुन! यह सब पढ़कर मुझे अच्छा लगता है। अन्नादुरै कहते हैं कि संविधान की भाषा-सम्बन्धी धारा बदल जानी चाहिए ताकि हिन्दी दक्षिण में न घुसने पाए। लोकसभा में चौदह राष्ट्रभाषाओं में बोलने की स्वतन्त्रता हो ताकि बाइबिल की 'बाबुल की मीनार' वाली कहानी चरितार्थ हो।

इस वक्त देश में 'फरंकवाद' का बोलबाला है। बेड़ा देखा जरजरा ऊतर पड़े फरंक। सो लोग डूबती नावों से कूद-कूदकर दूसरी नावें पकड़ रहे हैं। राजनीति में सब चलता है। डूबती नाव वाले अपराधी और बेईमान हैं, पर उस पर से कूद जाने से ही कोई पाक-साफ़ कैसे हो गया, यह मेरी समझ में नहीं आता। सभी प्रान्तों में अब जन-कांग्रेसें बन गईं। और मजा ये कि इन्हीं के सदस्य गैर-कांग्रेसी संयुक्त मोर्चा वाली सरकारों के मुख्य मंत्री भी हो गये। ये नई प्रतिबद्धताएँ वातावरण को काफ़ी कुहरीला बना रही हैं। मगर लगता है कि इससे छुटकारा पाने का अभी कोई रास्ता नहीं है। अगले कुछ वर्ष ढुलमुल प्रतिबद्धताओं के ही वर्ष रहेंगे। इस चुनाव में जो कुछ भी नया और उत्साहप्रद घटा है, उसका कारण मतदाताओं की वह पीढ़ी है जो सन् '४७ के बाद पैदा हुई। उसी पीढ़ी से यह भी आशा की जा सकती है कि वह थोड़ा और अधिक जागरूक बनेगी तथा उसने जिस प्रकार राजनीतिक संत्रास को समाप्त किया, उसी प्रकार ढुलमुल प्रतिबद्धताओं को भी समाप्त करेगी ताकि, इस देश में सही अर्थों में समाजवादी लोकतन्त्र का निर्माण हो सके। हालाँकि मुझे पूरा अन्देशा है कि संविद की सरकारें, जो तिल-तंडुल न्याय से एकत्र सम्मिलित हैं, कोई नया खाका लेकर चलेंगी। इनके द्वारा समाजवाद आने से रहा। शायद यह खिचड़ी व्यवस्था समाजवाद में नारे को ही धूमिल बनाने का कारण बने। समाजवादी लोकतंत्र का नारा तो कांग्रेस भी लगाती थी।

पर वह कितना बड़ा फ़रेब था यह किसीसे छिपा नहीं है। कांग्रेस का स्थान लेने वाले संयुक्त मोर्चा में भी न तो सभी समाजवादी हैं न सभी लोकतांत्रिक। स्वार्थपूर्ण गठ-बन्धन के लिए उन्होंने अपनी असली प्रतिबद्धताएँ छिपा ली हैं। कांग्रेस का भ्रष्टाचार जिस प्रकार चुनौती था, विरोधी पार्टियों की नकली प्रतिबद्धताएँ भी उसी प्रकार एक चुनौती हैं। नक़ाब हटाने का यह कार्य भी नई पीढ़ी को ही करना है। नई पीढ़ी को कांग्रेस की पराजय से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि विरोधी पार्टियों पर ऐसा दबाव डालना चाहिए कि वे जल्दी-से-जल्दी अपनी असली प्रतिबद्धता के मुताबिक दक्षिण या वामपंथी विचारधारा के ऐसे सुगठित और शक्तिशाली दो दलों का निर्माण करें जो जनता के इच्छानुसार अलग-अलग कांग्रेस का रिक्त स्थान ग्रहण कर सकने की क्षमता रखते हों। दक्षिण-वाम का यह ध्रुवीकरण जितनी जल्दी घटित हो उतना ही अच्छा होगा। इसीलिए नई पीढ़ी को पहले की अपेक्षा अधिक विवेकवान और लोकतांत्रिक पद्धति के प्रति अपनी आस्था और निष्ठा में पहले से अधिक सावधान और अधिक अडिग होना पड़ेगा। तथास्तु।

● ●

नग्नता और कला

[सवाल घेराव का]

●

सवाल बहुत पुराना है। प्रत्येक वर्ष साहित्यिक क्षेत्रों में कोई न कोई ख़बर सुनाई पड़ ही जाती है कि अमुक लेखक की अमुक कृति अश्लील होने के कारण ज़ब्त कर ली गई। "लेडीज़ चैटरलीज़ लवर" पर जो तूफ़ान बरपा हुआ वह सभी को याद है। "लोलिता" उपन्यास पर किसी जमाने में इसी तरह का वादविवाद छिड़ा था।

असल में यह उतना ही संजीदा सवाल है जितना किसी लेखक का सरकार की नीतियों का विरोध करने पर जेल में बन्द किया जाना। सरकार की नीति का विरोधी लेखक अपने वरण की स्वतंत्रता का इस्तेमाल करते हुए दंडित होकर भी शहीदाना गौरव पा लेता है जैसा कि सिर्फ रूस के ही पास्तरनाक, डैनियल, सिन्यावस्की और अब साल्झेनित्सीन को मिल चुका है।

पर नग्नसाहित्य लिखने के अपराधी लेखक के साथ न तो पाठक की सहानुभूति होती है और न तो सरकार की। इसलिए नग्नता का सवाल दोहरे जोख़म से प्रश्नित होकर खड़ा होता है। नग्नता के विषय में लेखक की टकराहट सीधे समाज के उन ठीकेदारों से होती है जो नैतिकता के स्वयंभू मानदंड बन जाते हैं। पर एक खतरा दूसरी तरह का भी खड़ा होने लगा है। जिस तरह अपने अधिकारों को मनवाने के लिए छात्र या मजदूर अधिकारियों का घेराव करते हैं उसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी घेराव की प्रवृत्ति बढ़ रही है। जब राजनीति में घेराव चल सकता है तो कला के क्षेत्र में क्यों नहीं ? प्रश्न जायज़ है; पर क्या कला के क्षेत्र में दख़ल अन्दाज़ी करने वाले ऐसे लोग कभी यह सोचते हैं कि क्या वे इस हस्तक्षेप को उचित ठहराने वाली योग्यता भी रखते हैं ? कला राजनीति नहीं है। वहाँ दाँव पेंच और स्वार्थ सिद्धि के हथकंडे योग्यता माने जा सकते हैं; पर कला के क्षेत्र में ये ही चीजें बेईमानी कही जाती हैं। कला यदि रोजगार नहीं है तो वह समाज सापेक्ष्य होते हुए भी समाज का नियंत्रण करती है। उसे एक विशिष्ट प्रकार की सुसंस्कारिता और रुचि-प्रकर्ष प्रदान करती है, इसलिए उसके बारे में घेराव करके निर्णय लादने की कोशिश किसी भी समाज के लिए आत्मघाती ही सिद्ध होती है। फिल्मों में चुम्बन और नग्नता के प्रश्न पर मचने वाली हाय तोबा का निष्पक्ष विश्लेषण शायद हमें इस समस्या को समझने की सही दृष्टि दे सके।

क्यों कि सवाल सिर्फ फिल्मों का ही नहीं है। घूम फिर कर सवाल "सेक्स और कला" का है और इस बार खतरा शासन की ओर से नहीं, रूढ़िग्रस्त पाठकों और दर्शकों की "अति उत्साहिता" यानी "घेराव" से है।

खोसला समिति ने भारतीय चित्रपटों पर चुंबन और नग्नता के प्रति किंचित् ढील देनेवाले सुझाव क्या दिये, रूढ़िवादी भारतीय चित्त में लटकते बर्रे के छत्ते उधेड़ कर रख दिये। चारों तरफ भनभनाहट, चारो तरफ शरीफाना हायतोबा और अख़बारों के पाठकीय स्तंभो में गजब की गाज ढानेवाली आशंका और चुनौतियों का बाजार गर्म नजर आने लगा है।

यह एक मामूली-सा सुझाव है, यह एक मामूली-सी घटना है, पर उसके खिलाफ प्रतिक्रियाओं के पीछे बड़ी भारी तड़प, कशिश और दिमाग़ को झकझोरनेवाली दलीलों का अंबार दिखाई पड़ता है ।

नग्नता को ढंकने के चिकने रेशमी पारदर्शी पर्दों से इश्क रखनेवाली अभिनेत्रियों को अचानक 'भारतीयता' याद आने लगी है, जैसे शादी के बाद पतिगृह जानेवाली दुल-हिन को माँ याद आती है । कुछ फिल्मी नेता परेशान हैं ताकि इस मौक़े का पूरा लाभ उठा कर अपनी नैतिकता की पोशीदा किताब को जग जाहिर करा लें । एक दिन एक युवा समाजवादी छात्र मुझ से बोला, "हम खोसला का पुतला जलायेंगे । इस तरह की सांस्कृतिक हतक बर्दाश्त नहीं की जा सकती।" हतक जैसे आज ही शुरू हुई हो। अचानक नायक नायिका को पेड़ की आड़ में कर देना, कलियों पर बार-बार बनावटी ढंग से भौंरों को बिठाना, कागज़ी चाँद के चौगिर्द बादलों की लुका-छिपी और शयनकक्ष में नायक नायिकाओं को पहुँचा कर स्टेज पर अंधेरा कर देनेवाली घटनाएँ गोया हतक नहीं हैं । ऐसे अँधेरे को देख कर पब्लिक जैसी प्रतिक्रिया होहल्ला मचा कर करती है, वह सब क्या है ?

हमारे देश में बहुत से शब्दों के अर्थ में भारी अवमूल्यन हुआ है, पर उतना शायद ही किसी शब्द के अर्थ में हुआ हो जितना इस बेचारे सांस्कृतिक शब्द के अर्थ में। 'ये सांस्कृतिक आदमी हैं'—का सीधा अर्थ है कि इनकी लड़कियों से काफी जान-पहचान और रब्त-ज़ब्त है । सांस्कृतिक समारोहों का सीधा अर्थ दिलफरेब कारस्तानियों के लिए मौक़ा ढूँढ़ना होता है । इस मामले में सबसे दरिद्र क्षेत्र हिंदीवालों का हैं, जहाँ संस्कृति का अर्थ भंडैती के अलावा कुछ रहा ही नहीं। मेरा ख्याल है खोसला कमीशन के सुझावों पर सबसे जबर्दस्त हायतोबा और तू-तू-मैं-मैं इसी क्षेत्र में मचेगी ।

संस्कृति, नग्नता और चुंबन का त्रिभुज हमारे गले में मुर्दे के तौक की तरह झूल रहा है। क्या थी हमारी भारतीय संस्कृति ? नग्नता का मतलब क्या होता है ? और चुंबन—? राम भजिए, इस शब्द का शरीफ आदमी के द्वारा उच्चारण भी उसके चरित्र के विषय में नाना प्रकार की धारणाओं के लिए खुला परिमिट देने की तरह खतर-नाक है।

पर्दा हमारी संस्कृति का पर्याय हो गया है. तन पर पर्दा, मन पर पर्दा, विचार पर

पर्दा—यानी कि हम तेली के बैल की तरह मोटा अँटौतल बाँधे घूमने को ही संस्कृति मानते हैं। नाना प्रकार के मोटे लबादों में लिपटा बेडौल गोल-मटोल बबुआ हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी विरासत है, जिसके प्राणहीन शरीर को 'रामनाम सत्य है' के साथ उठाये घूमते रहना सांस्कृतिक कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य और लक्षण है। लड़कियों का चुस्त जांघकस, जिसे पहन कर सड़क पर गिरी अपनी पर्श तक उठाने की कोशिश भी उनके लिए खतरनाक है, फैशन है। लंबे लंबे केशों को घोंसले की तरह बना कर उसमें टमाटर या कटोरी बाँध कर सिर पर माउंट आबू बनाना फैशन है। सड़क पर चलती लड़की को देख कर अश्लील चेष्टाएँ करना, सीटी बजाना, सिनेमा के कुसंदर्भवान् गीत गाना फैशन है। ड्रेनपाइप, रंगीन भंडेहर-छाप कपड़ों के बुश्शर्ट पहनना फैशन है, पर कलात्मक नग्नता की बात पर चौचक मुक्केबाजी करने की तैयारी भारतीयता है। क्योंकि हमने यह मान लिया है कि नग्नता और कलात्मकता दोनों संस्कृति की संकरी गली में हर्गिज हर्गिज अँट नहीं सकतीं।

असल में ग़लती हमारी नहीं है। यह पिछले हजार वर्षों की गुलामी का परिणाम है कि हमारी भाषाओं के अनावृत सौंदर्य के लिए नग्नता के अलावा कोई दूसरा अर्थव्यंजक शब्द रहा ही नहीं। कालिदास को जल में बिहार करने वाली कुश की रानियों का 'अंभोविहाराकुलितोऽपि वेशः' परम मुग्धकारी लगता है। 'हृतांशुका' पार्वती अपनी लज्जा के कारण शिव की आंखें अपनी हथेलियों से ढँक लेती हैं, पर कालिदास 'हृतांशुका' को 'वस्त्रावृता' बना कर उनसे नग्नता ढंकाने का ढोंग नहीं कराते, दूसरी ओर नग्न होती अलका की कन्यकाएँ पतियों की आँखें न ढंक कर रत्नदीपों पर ही गुलाल डाल कर उनकी रोशनी मद्धिम कर देती हैं। और तो और कविवर कालिदास को वानीर लताओं से घिरे तटों के बीच बहती नदी भी 'विवृतजघना' स्त्री के समान प्रतीत होती है। इन वर्णनों में क्या है, नग्नता या कला? नग्नता अवश्य है, पर वह कला इसलिए बन गयी है कि पत्नी पति की आँखें मूँद कर अथवा गंधर्व-कन्या दीप पर गुलाल का पर्दा डाल कर यथार्थ को कला के अतींद्रिय जगत् में ले जाती है। नग्नता यथार्थ है, पर सम्मोहन उसको सौंदर्य से समन्वित कर देता है। शरीर की सीमा या तो सम्मोहन तोड़ता है या फिर मांसल रूप की विकृति। आप विकृति की हिमायत करेंगे, क्योंकि आधुनिकता का यही तकाज़ा है। मुझे संदेह नहीं, विश्वास है कि आप इस 'सम्मोहन' शब्द पर नाक-भौं सिकोड़ेंगे। यह एक रूमानी शब्द है। है न? फिर इसकी आड़ ले कर जिस अतींद्रिय जगत् की बात कही गयी है, वह अपने वायवी और काल्पनिक तत्त्वों का पूरा पर्दाफाश भी कर देता है। मुझे मालूम है आपकी यही राय होगी।

"कमरे के भीतर जहाँ मैं बैठा था, अनेक नग्न नारी चित्रों (न्यूड्स) को देख रहा था, वह दूरी जो हमें चित्रों से अलग करती थी, वह उतनी ही प्रभावशाली थी जितनी कि वे नग्न औरतें।" जियाकामेती के चित्रों पर विचार करते हुए सार्त्र ने जिस

दूरी की बात की है, वह कालिदास की मद्धिम रोशनी ही है। सार्त्र के शब्दों में "मैंने उन्हें अक्सर सांझ के धुंधलके में देखा है।" (एसेज़ इन ऐस्थिटिक्स) यह मद्धिम रोशनी, यह दूरी, यह सांझ का धुंधलका किस बात की ओर संकेत करता है ? जियाकामेती और उसकी नग्न रचना के बीच बीस डगों का अंतर वस्तुत: उसके एकाकीपन और परिस्थितियों के बीच जड़े अडोल अस्तित्व और सुंदर शरीरवाली स्त्रियों से प्यार पाने की निराशा के बीच का अन्तर है—यानी सीमाबद्ध और असीम के बीच संघर्ष का परिणाम। इसके मूल में कौन-सी कशिश है ? सम्मोहन, सिर्फ सम्मोहन ! यही सम्मोहन उसे अपने ही बनाये नग्नचित्रों से एक खास दूरी बनाये रखने के लिए मजबूर करता है।

एक बार 'फुटपाथ' नामक हिंदी चित्र दिखाया जा रहा था, उसमें नायिका स्नान करती हुई अंकित थी। तुरंत-तुरंत के धुले मुखमंडल के नीचे थोड़ा-सा अनावृत अंग झलका कि हाल के भीतर कई जन उठ कर खड़े हो गये। उन्हें भ्रम हुआ कि नीची कुर्सी पर बैठने के कारण वे 'थोड़े से' से के 'आगे' को शायद देख नहीं पा रहे हैं। उस समय हँसी आयी थी। क्या सचमुच यह हँसने की चीज है, या इसके पीछे भारतीय मानस में व्याप्त भयानक मरुभूमि का हाहाकार है ? क्या है ? इन मूर्ख जनों पर गुस्सा आना चाहिए या सहानुभूति ? प्रश्न शायद सामाजिक नैतिकता से जुड़ रहा है, और यह प्रश्न हमेशा ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए खतरे की घंटी है। चाहे वह कलाकार के लिए हो या फिर उसकी कला को देखनेवाले व्यक्ति के लिए। क्योंकि उच्च कला का सर्जक निर्माता या पारखी दर्शक या भोक्ता हमेशा ही व्यक्ति होता है, समूह या समाज नहीं।

भुवनेश्वर, खजुराहो की देवांगनाएँ, तितियन के न्यूड्स, इंग्रिस की 'ला सोर्स', गोया की 'माज़ा न्यूड' लार्ड लीटन की 'दि बाथ ऑफ साइकी', जी. एफ. वट्स की 'लव ऐंड लाइफ', जेम्स वांड की 'डीना ऐंड हर निंफ्स', वातिसेली की 'बर्थ ऑफ वीनस', माइकेल एंजेलो की 'आदम' आदि कृतियाँ नग्नता नहीं कला हैं, क्योंकि उनके पीछे मनुष्य का मांसल शरीर नहीं, उसकी आत्मा की छाया है या कम से कम एक ऐसा सम्मोहन है, जो उसे दिव्यता की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है जो शारीरिक सीमा को तोड़ने के बाद ही अनुभव किया जा सकता है।

आज भी न्यूड्स बनते हैं। पिकासो से उच्च कलाकार और कहां मिलेगा; किंतु पिकासो के एक नग्न और विकृत नारी चित्र को देख कर उनके प्रशंसक कला समीक्षक की 'लाचारी और हैरानी' भी कम विचारणीय नहीं है। "पर आप क्या इससे शादी करना चाहेंगे ?" उस विकृत नग्न नारी चित्र की ओर संकेत करते हुए लड़की ने अचानक कला-समीक्षक से पूछा। कला-समीक्षक चुप रह गया, इसलिए नहीं कि उसे पिकासो की कला की शक्ति या क्षमता में अविश्वास था, बल्कि इसलिए कि पिकासो की नग्न कला ने न सिर्फ उदात्त सौंदर्य को धूलिसात् किया था, बल्कि उसने उस चित्र में नारी शरीर के भीतर रहनेवाली मानवता को भी अलग कर दिया था। क्या यह 'उदात्तता'

और 'मानवता' फरेब नहीं हैं ? बुद्धि कहती है, हाँ हैं, हो चुकी हैं, पर मन इस आधुनिक नारी को पत्नी बनाने को तैयार नहीं होता। विकृति के माध्यम से मांसलता से परे जाने की, उसे अतिक्रांत (ट्रांसेडेंट) करने की शक्ति या हिम्मत सब में नहीं हो सकती। इसके लिए सचमुच की श्मशानी बौद्धिकता अपेक्षित है, । कला और बुद्धि का यह संघर्ष हमारे युग का अभिशाप है। इसमें समन्वय की जरूरत है। पर्दे डाल कर सत्य को छिपाना यदि गुनाह है, तो अमानवीय यथार्थ का वरण निश्चय ही एक असमंजस भरा व्यापार भी है। यानी कला आधुनिक से आधुनिक ही क्यों न हो, उसे मनुष्य होने के नाते हम मानवीय गुणों से समन्वित देख कर ही स्वीकारने को तैयार होगें । डिस्टार्शन किये नग्न चित्रवाली नारी के यथार्थ रूप की तल्खी की दाद दी जा सकती है, पर उसे अंकशायिनी नहीं बनाया जा सकता । अधिकांश ऐसा करने को तैयार नहीं होंगे ।

इसलिए नग्नता सम्मोहन का आधार बन कर हमारे पार्थिव चित्त को यदि अतींद्रिय जगत् में ले जाती है, उन्नयन की क्षमता, आकाश में उड़ने की शक्ति और मांसलता के पार की शुभ्र मनुष्यता के साक्षात्कार की शक्ति दे पाती है, तभी वह अपनायी जा सकती है । अन्यथा विकृति का पर्याय बन कर बुद्धि को धक्के दे सकती है, वह धूमावती बन कर हमारे हृदय में निवास नहीं कर सकती । धूमावती को अंकशायिनी बनाना सबके बस का काम नहीं है ।

आज भी ऑस्कर वाइल्ड का कथन उतना ही चुस्त दुरुस्त है कि कृति न तो श्लील होती है न अश्लील, वह या तो अच्छी बनी होती है या बुरी बनी होती है, बस ।

यानी प्रश्न नग्नता का नहीं अनावृत्त सौंदर्य के माध्यम से मानव सौंदर्य की अछूती आंतरिक ऊँचाइयों के प्रस्तुतीकरण का है, पर इसे सोचनेवाले कितने निर्माता और कलाकार हैं हमारे पास ? इसलिए खतरा सेंसर की उदारता से नहीं, निर्माताओं की अयोग्यता से ही ज्यादा है ।

वैसा ही उलझा प्रश्न चुंबन का है जिसे लेकर बहुत होहल्ला मचाया जा रहा है। जिस देश में निमित्तक, स्फुरितक, घट्टितक, सम, तिर्यक्, उद्भ्रांत, पीडितक, अंचित, मृदु, संपुटक, उत्तरोष्ठ, चलितक, प्रतिबोधक आदि आदि हजारों क़िस्म के चुंबनों की व्याख्या की जाती रही है, वहाँ चुंबन की चर्चा मात्र परेशानी का विषय बन गयी है। आज के ज़माने में कविवर दिनकर के ख़याल—

> **रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं तो और क्या है ।**
> **स्नेह का सौंदर्य को उपहार रस-चुंबन नहीं तो और क्या है ।।**

कितने गड़बड़ हो गये हैं । चरण चुंबन जहाँ की संस्कृति हो गयी है, वहाँ स्वाभाविक चुंबन का विरोध अस्वाभाविक क्यों माना जाये ।

प्रश्न है कि क्या जीवन में यह नहीं होता ? उत्तर होगा कि क्या जो कुछ जीवन में

होता है वह सब पब्लिक में करके दिखाया जाये। सब कुछ पब्लिक के सामने करके नहीं दिखाया जा सकता, यह बिल्कुल सही है। पर अभिनय को सत्य मान कर साधारणीकृत रस दशा के बोध के लिए जिस कला का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, उसे इतनी बंदिशों में बाँधना भी सांस्कृतिक हीनता का ही द्योतक है। ये बंदिशें अभिनय को विधि-निषेधों के चंगुल में जकड़ कर ऊल-जलूल और बेडौल तथा हास्यास्पद बना देती हैं। क्या यह सही नहीं है कि युद्ध भूमि में जाते हुए सैनिक का अपनी पत्नी को, सामाजिक रूढ़ियों से विवश होकर बिछुड़ते हुए प्रेमी प्रेमिका का एक दूसरे को, अपनी ईमानदारी के लिए जेल की सजा पानेवाले व्यक्ति का अपनी सहधर्मिणी को तथा गरीब हड़ताली मजदूर का घायल होकर अस्पताल जाते हुए अपनी बेबस पत्नी को दिया गया चुंबन हजारों हजार शब्दों में बोले हुए 'डायलाग्स' से कहीं ज्यादा प्रभावशाली होता है? असल में हमारी संस्कृति, भिन्न-भिन्न मनःस्थितियों और परिस्थितियों के बीच दिये जाने वाले चुंबनों के साथ अबोल आँखों में तैरती हुई गूढ़ार्थ व्यंजक छबियों को समझने की क्षमता ही खो चुकी है। और जब तक यह सब पहचानने की दृष्टि नहीं मिलती ऐसी ही हाय-तोबा मचा करेगी।

वस्तुतः खोसला कमीशन के सुझाव हमारी संस्कृति पर प्रहार नहीं, उसकी क्षमता के लिए चुनौती हैं, किन्तु इस चुनौती को बिना पूरी तैयारी और आत्मबल के स्वीकार करने का अर्थ अराजकता और शोहदापन को तरजीह देना ही हो जायेगा, इसलिए बहरहाल ये चीजें प्रयोगात्मक स्तर तक ही सीमित रखी जायें। इन्हें कला के स्तर पर प्रस्तुत करने वाले कलाकार और निर्माताओं को सामने आने की जरूरत है, (बशर्ते ऐसे कुछ हों तो) ताकि इन चीज़ों के बारे में फैले हुए बेहूदा भ्रम का परिहार हो सके।

● ●

अभिव्यक्ति का संकट

[माध्यम की तलाश का प्रश्न]

●

पुन: कुछ दिनों से नवलेखन के क्षेत्र में "अभिव्यक्ति के संकट" का प्रश्न उठाया जा रहा है। आखिर इस प्रश्न का मतलब क्या है ? क्या लेखकों को अपनी बात कहने में रुकावट या बाधा का बोध होने लगा है ? क्या लेखक जिस तरह की बात कहना चाहता है, उसके लिए हिन्दी भाषा सक्षम नहीं है ? या वह जो कुछ कह रहा है, उसे पाठक समझ नहीं पा रहा है ?

मैं समझता हूँ कि अभिव्यक्ति का संकट यदि कुछ है, या होता है, तो वह रचनाकार के भीतर चलने वाली रचना प्रक्रिया से सम्बद्ध होता है, और वह बहुत गहरा और सूक्ष्म होता है। अक्सर जिसे हम व्यक्त करना चाहते हैं, वह अभिव्यक्त होते ही "उस" से "इस" में बदल जाता है और एक जागरूक लेखक इस प्रक्रिया और परिणाम से बहुत परेशान होता है। वह सृजन के लम्बे दौर से गुजरने के बाद भी काफी असंतुष्ट और खिंचा-खिंचा सा रहता है। यहाँ संकट सार्वजनीन संकट होता है, जिससे हर रचनाकार को, जो अपने प्रति ईमानदार है, निपटना ही पड़ता है। यहाँ समस्या भाषा की उन सीमाओं को अतिक्रान्त करने की होती है जो एक ओर रचनाकार की अभिव्यक्ति का उपकरण बनती हैं, वहीं दूसरी ओर उसका आवरण भी बन जाती हैं। मुझे अक्सर गोष्ठियों में हैरानी हुई है जब "अभिव्यक्ति के संकट" के नाम पर उपर्युक्त रचना प्रक्रिया के स्वाभाविक संकट की जगह किसी और तरह के संकट की चर्चा सुनाई पड़ती है। उनके हिसाब से अभिव्यक्ति का संकट इसलिए है कि पुरानी पीढ़ी के लेखकों ने (यहाँ पुरानी का अर्थ उम्र-सापेक्ष्य है, यानी साठोत्तरी के लिए पचासोत्तरी पुरानी पीढ़ी है और पचासोत्तरी के लिए पचास के पहले का सब कुछ पुराना है) शब्दों का अपने ढंगसे इस्तेमाल करके उनके अर्थ को भोथर कर दिया है। ऐसा कहते साठोत्तरी लेखक बड़े रौब की मुद्रा बनाता है कि उसने बड़ी नूतन और बारीक बात खोज निकाली और जब उससे कहा जाता है कि भई, यही बात नई अर्थवत्ता के प्रसंग में अज्ञेय उठा चुके हैं, अथवा क्या यही प्रश्न कालिदास के सामने नहीं था जब उन्होंने "पुराणमित्येव" आदि-आदि कहा ? तब वह "एंगिल" बदलकर कहता है कि सवाल इस प्रचलित भाषा का है जो हमारे उलझे हुए एकदम ताजे यानी "अभूतपूर्व" विचारों को वहन करने में अक्षम है ?

इस स्थिति में मैं सोचता हूँ कि यदि यह संकट इतना स्थूल और बाहरी ही है, जैसा बताया जा रहा है, तो उसे स्थूलतर करके यह क्यों न कहा जाय कि भाई यह समस्या सीधे किसी और भाषा में सोचने और किसी दूसरी में लिखने के कारण उत्पन्न

हुई है, यानी अमूमन आधुनिक लेखक की समस्या अँग्रेजी के माध्यम से विदेशी साहित्य-आन्दोलनों से प्रभावित होकर उसे हिन्दी में उतारने की कोशिश का परिणाम है।

जब हम आज के साहित्य में भारतीय परिवेश के नदारद होने की बात करते हैं, तब भी प्रकारान्तर से इसी स्थूल संकट की ओर इशारा करते हैं। फिर क्यों न ज़रा विस्तार के साथ सीधे भाषा के प्रश्न पर ही विचार कर लिया जाय।

क्या हमारी बहुत सी समस्याओं की जड़ भाषा के मूल से ही तो लिपटी हुई नहीं है? भाषा वस्तुतः नवीन को अभिव्यक्त करने में सक्षम तभी होती है यदि उसके विकास की धारा कहीं से अवरुद्ध और आहत न होती हो। एक निबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "रुका हुआ चरण परम्परा है और उठा हुआ आधुनिकता।" यानी चलने के लिए, चलते रहने के लिए ज़रूरी है कि एक चरण मज़बूती से खड़ा रहे ताकि दूसरा उठ सके। परम्परा—दूसरे से दूसरे को दिए जाने वाले क्रमिक दाय की निरन्तर विकासमान प्रक्रिया है।

हिन्दी के साथ मजबूरी यह है कि ज्यों ही वह पनपने को हुई, ज्यों ही उसने राष्ट्र-व्यापी सांस्कृतिक जागरण के, जो १८५७ की क्रान्ति के बाद सम्पूर्ण देश में सुधार आंदोलनों के रूप में आया, माध्यम का उत्तर दायित्व उठाया था कि उसका गला दबाकर उसे गूँगी बनाने की साजिश की गई। उस पूरे षड्यंत्रपूर्ण वातावरण को समझे बिना हम अभिव्यक्ति संकट की ऐसी ही बातें करते रहेंगे?

अवरुद्ध जागरण और भाषा

भारत को स्वतन्त्र हुए बीसेक वर्ष गुजर गये; पर अभी तक हम इस योग्य भी नहीं हुए कि अपनी भाषा बोल सकें। भाषा विचार-विनिमय का एक मामूली माध्यम भर ही नही होती। भाषा प्रत्येक देश की आत्मा का वाङ्मयी कलेवर होती है। किसी देश की भाषा को जानकर हम उसकी अन्तरात्मा, उसकी नब्ज़, उसकी सोचने-विचारने और आचरण करने की क्षमता का पता लगा सकते है। भारत में आज दिन जारी भाषा आन्दोलनों, उनको कुचलने या गलत दिशा देने के सरकारी और अर्धसरकारी प्रयत्नों तथा राष्ट्रभाषा के चुनाव को लेकर ज़ारी थुक्का-फजीहत, तू-तू मैं-मैं की प्रवृत्ति का विश्लेषण करें तो निराश होकर कहना पड़ता है कि या तो भारत अभी भी एक राष्ट्र नहीं बन सका है और यदि बना है तो उसकी अन्तरात्मा या तो बन्धक रख दी गई है या मर चुकी है। अपनी भाषाओं के बारे में इस तरह की आत्मघाती उदासीनता पहले कभी नहीं थी। भारत के पिछले पाँच-दस हजार वर्षों का इतिहास इस बात की साक्षी देगा कि हम अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम की तलाश में आज की तरह के दिशा-हीन भटकाव के दौर से कभी नहीं गुज़रे। निकट अतीत में भाषा के प्रति हमारी जनता और नेतृवर्ग दोनों में इस तरह की अनवधानता कभी व्याप्त नहीं हुई। उन्नीसवीं शताब्दी का हमारा इतिहास भाषा के विषय में हमारी जागरूकता, चेतनता और निर्णय लेने की

क्षमताओं से अटूट चिन्तनों से इस तरह मुखर हैं कि उसके परिप्रेक्ष्य में आज की भाषा विषयक स्थितियाँ दारुण चिन्ता का कारण बन जाती हैं। भारतीय पुनर्जागरण के इतिहास का हर पृष्ठ इस बात के साक्ष्यों से भरा है कि विदेशी साम्राज्यवादी सत्ता से प्रत्येक क्षण जूझते हुए, लहू-लुहान होते हुए भी भारतीय जनगण ने कभी भी मूकता की स्थिति स्वीकार नहीं की। आश्चर्य तो तब होता है जब हम दुधमुँही हिन्दी में प्रकाशित अखबारों को वर्तानिया सल्तनत को प्रत्येक क्षण चुनौती भरे शब्दों में ललकारते हुए पाते हैं। उस समय आज की कोई भी नव्य भारतीय आर्यभाषा इस योग्य नहीं थी कि वह अंग्रेजी की अभिव्यक्ति-क्षमता से लोहा ले सके; किन्तु उस समय का एक भी समाचार पत्र ऐसा नहीं मिलेगा जो भारतीय आत्मा की गुहार और रणोन्मत्त अभिलाषा तथा अपने आत्म-गौरव और सुधारवादी प्रयत्नों को देशीय भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने में अपने को असमर्थ पाता रहा हो। भारत मित्र, उचित वक्ता, देवनागर, सारसुधानिधि, बनारस अखबार, नृसिंह आदि समाचार-पत्रों के अंक इस बात का प्रभूत प्रमाण देंगे कि भारतीय पुनर्जागरण भारतीय भाषाओं के भीतर से जितनी सशक्त अभिव्यक्ति पा रहा था, उतनी अंग्रेजी के माध्यम से नहीं।

अंग्रेजी निश्चय ही शासकीय भाषा के रूप में बलपूर्वक लादी जा रही थी। पुनर्जागरण आन्दोलन का एक बहुत बड़ा तबका अंग्रेज़ी-माध्यम के द्वारा अपने क्रिया-कलापों को अभिव्यक्त भी कर रहा था। राजाराममोहन राय की प्रेरणा से १८१६ ई० में डेबिड हेअर ने अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की और विदेशी शासकों के लिए अंग्रेजीदाँ बाबुओं के निर्माण का कार्य चल पड़ा। १८३४ में मेकाले के आने पर इस कार्य में तेज़ी आयी और १८४४ में लार्ड हार्डिंग ने अंग्रेजी पढ़े लोगों को नौकरियाँ बाँटने का ऐलान कर दिया। डेविड हेअर, मेकाले और हार्डिंग को शायद ही कभी स्वप्न में भी यह ख्याल आया हो कि डेढ़ सौ वर्षों बाद, स्वतन्त्र होने के बावजूद उनके द्वारा लगाई गई विषवेलि भारत वर्ष के गले में नागपाश की तरह लिपटी रहेगी। अब तो न सिर्फ यह गले में लिपटी है; बल्कि निरन्तर कसती जा रही है और हमारा नवोदित राष्ट्र साँस घुटने से तड़फड़ा रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय जागरण की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह अक्लमंद, समझदार और ईमानदार सचेत नेतृत्व से हमेशा सम्पन्न रहा। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी जानकारी के प्रति अधिक से अधिक रुझान रखते हुए भी अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति पूर्ण संचेतना का बोध उस वक्त के नेतृत्व का स्पष्ट गुण था। राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज में ही दीक्षित केशवचन्द्र सेन भाषा के मामले में राजा की राय से कतई सहमत न हो सके। ब्रह्मसमाज को एशियाई पृष्ठभूमि प्रदान करनेवाले इस व्यक्ति ने स्पष्ट शब्दों में देशी भाषाओं का पक्ष लिया और हिन्दी को राष्ट्र भाषा के लिए उपयुक्त ठहराया। उन्होंने लिखा था कि, "इस समय जितनी भी भाषायें प्रचलित हैं, उनमें हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो सर्वत्र प्रचलित है। इसे ही यदि भारत

की एकमात्र भाषा बनाएँ तो काम आसान हो सकता है। एक भाषा के बिना इस देश में एकता नहीं आ सकती।' (अमियचरण बनर्जी, स्टडीज इन बेंगाल रिनेसाँ, पृ० ९२) इसी प्रसङ्ग में केशवचन्द्र की "एशियाई परिवेश" पर जोर देनेवाली नीति पर भी आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। केशवचन्द्र ईसाइयत के विरोधी नहीं थे। वे कहते थे कि यह धर्म एशिया की देन है। वे सिर्फ उस ईसाइयत के विरोधी थे जो पश्चिमी परिवेश में विकृत होकर हमारे देश में लायी जा रही थी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि संसार के सभी महत्तम धर्म एशिया से जन्में और एशियाई भाषाओं में ही अभिव्यक्त हुए। आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व का वह व्यक्ति अच्छी तरह जानता था कि भारत की भौगोलिक स्थिति उसे किनके साथ जोड़ती है और उसे कहाँ जुड़ना चाहिये। पिछले बीस वर्षों में भारतीय राजनीति की परिधि से एशिया ख़ारिज हो गया है। परिणामत: दो-दो युद्धों के दौरान अपने ही महाद्वीप में हमारी स्थिति, असहाय, मित्रहीन, अकेलेपन की बनी रही। हम आस-पास की परिधि से बहुत दूर योरप और अमेरिका की ओर कातर दृष्टि से ताकते रहे। कोई भी हमारी सहायता करने नहीं आया। हम सिर्फ उन्हीं की ओर देखने के अभ्यासी हैं जो किसी कारण वश अंग्रेजी भाषाभाषी खेमे के अन्दर हैं। अंग्रेजी की हमारी योग्यता सिर्फ अरण्यरोदन बनकर रह जाती है और हमारे पड़ोसी हमारी उदासीनता के उत्तर में हर संकट में यदि मौन हो जाते हैं, तो उनका क्या दोष? इसी संदर्भ में लोहिया ने १९५२ में भारत की विदेश नीति और बौद्ध धर्म के निकट सम्बन्ध पर जोर दिया था, जिसे लोगों ने भावुकता कहकर टाल दिया। असल में भाषा का सवाल कोई अलग-थलग का निरपेक्ष मसला नहीं है। भाषा का सवाल राष्ट्र की आत्माभिव्यक्ति का सवाल है, इसलिए निरन्तर हमें इस सवाल को सम्पूर्ण भारतीय जीवन और अस्तित्व के सवालों के सन्दर्भ में ही देखना चाहिए। भाषा राष्ट्रीय शरीर की नब्ज़ है। इस देश का शरीर रोगाक्रांन्त और जर्जर है क्योंकि नब्ज़ में कहीं भी सम्वादिता, एकतान रागात्मिकता नहीं मिलती। देशी भाषाओं के प्रश्न पर हमारी निर्णय-भीरुता, उदासीनता, अन्यमनस्कता और परस्पर शत्रुता की भावना हमारे अस्तित्व के खतरे की सूचना देती हैं।

स्वराज्य के सही मन्त्र के प्रथम उद्घोष के पहले "स्वदेशी चिन्तन" का आग्रह लेकर दयानन्द का उदय हो चुका था। दयानन्द ने १८७५ ई० में आर्य समाज की स्थापना की। गुजराती भाषा-भाषी होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को वरीयता देकर भारतीय चित्त की सही पहचान का परिचय दिया था। उन्होंने हिन्दी को "आर्य भाषा" की प्रतिष्ठा दी जो उनके आन्दोलन की मुख्य भाषा बनी। उत्तर भारत के मानस पर दयानन्द का प्रभाव बहुत गहरा था। उन्होंने अपनी सभी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हिन्दी में लिखीं। दयानन्द के लिए हिन्दी या नागरी का क्या महत्त्व था, यह उनके कुछ पत्रों में बहुत ही स्पष्ट ढंग से ध्वनित हुआ है। दयानन्द के लिए 'स्वदेशी राज्य' और 'स्वभाषा'

पर्यायवाचक शब्द जैसे थे। उन्होंने लिखा—"कोई कितना भी करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" दयानन्द की दृष्टि में स्वदेशी राज्य की पहली शर्त है स्वभाषा यानी सर्वमान्य हिन्दी का व्यवहार। उनका दो विदेशी अध्यात्मविदों से उस अर्से में काफी पत्र-व्यवहार हुआ करता था। मदाम ब्लावत्स्की को एक पत्र में उन्होंने लिखा—"जिस पत्र का हमसे उत्तर चाहें उसको नागरी कराकर हमारे पास भेजा करें।" १३ जुलाई १८७९ में अल्काट को लिखा था—"मुझे खुशी हुई कि आपने नागरी पढ़ना शुरू कर दिया है।" [वैदिक संग्रहालय अजमेर में सुरक्षित, दयानन्द के पत्रों से] दुधमुही हिन्दी के एक लेखक का यह आत्म गौरव और विश्वास कितना उदात्त और प्रेरणाप्रद है। हिन्दी के बारे में वे कितने आग्रहशील और सावधान थे, इसका पता उनके एक दूसरे पत्र से लगता है जो उन्होंने ७ अक्टूबर १८७८ को श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखा—"अबकी बार भी वेदभाष्य के लिफाफे के ऊपर देवनागरी नहीं लिखी गयी, जो कोई अंग्रेजी ग्राम में पढ़ा न होगा तो अंक वहाँ कैसे पहुँचते होंगे और ग्रामों में देवनागरी पढ़े बहुत होते हैं। इसलिए अभी इसी पत्र के देखते ही देवनागरी जाननेवाला मुंशी रख लेवें नहीं तो किसी रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों के पते किसी देवनागरी वाले से नागरी में लिखाकर पास किया करें।" (पत्र और विज्ञापन) ऐसा था आग्रह दयानन्द का। और आज जब विद्यार्थी सूचनापटों और दफ्तरों के आगे के नामपटों को देवनागरी में कराने के लिए आन्दोलन करते हैं तो उन्हें जेल जाना पड़ता है अथवा गोली का निशाना बनना पड़ता है। परतन्त्र और स्वतन्त्र भारत के क्रियाकलापों का यह विराट अन्तर किसे पीड़ित नहीं करता? दयानन्द की पुस्तकों का पंजाबी में अनुवाद करने के इच्छुक एक सज्जन को उन्होंने लिखा—"भाई, मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाषा को सीखना अपना कर्तव्य मानेंगे, अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।" दयानन्द की आँखें तरसती ही रह गईं और उसके बाद की कई पीढ़ियाँ भी चक्षुहीन होकर वैसी ही तरस रही हैं।

यह कैसी विचित्र बात है कि आज से डेढ़ सौ वर्षों पूर्व का हमारा नेतृत्व विदेशी भाषा और उसके माध्यम से आने वाले घातक प्रभावों के प्रति जितना जागरुक था, हम स्वतन्त्र भारत के लोग और नेतागण उन सब बातों के प्रति उतना ही अधिक उदासीन और गुमराह बने रहे। राष्ट्रीय रंगमंच पर हिन्दी को पहली राजनीतिक स्वीकृति और प्रतिष्ठा तिलक दल या गरम दल की पहली सभा में मिली, जिसका स्मरण आचार्य नरेन्द्रदेव ने इन शब्दों में किया है—"इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि विपिनचन्द्रपाल और लोकमान्य भी हिन्दी में बोले। सारा कार्य हिन्दी में हुआ।" [आचार्य नरेन्द्रदेव के संस्मरण, संघर्ष, वर्ष २० सं० २६] उसी समय से नृसिंह का प्रकाशन

आरम्भ हुआ। यह तिलक दल का मुखपत्र था जिसके प्रथम अंक में "राष्ट्रभाषा" शीर्षक सम्पादकीय में कहा गया—"भिन्न-भिन्न प्रान्तों में परस्पर प्रेम और सहानुभूति के जो अंकुर उगे हैं वे विशेषत: विद्वन्मण्डली में ही परिविष्ट हैं। सर्व-साधारण को जगाने का काम विदेशी भाषा के माध्यम से कभी नहीं हो सकता। अब समय आ गया है कि सभी भारतवासी, विद्वान् हों अथवा मूर्ख, तन-मन-धन से स्वदेशोन्नति के लिए कमर कसकर खड़े हो जायें।" नृसिंह के पहले अंक का यह सम्पादकीय जिस बात पर जोर देना चाहता है, उसे हम पिछले बीस वर्षों से धो-पोंछ कर मिटा देने के लिए कमर कसकर पिले हुए हैं। नृसिंह का सम्पादक जानता है कि "पूर्ण स्वराज्य" का मन्त्र और "राष्ट्रभाषा" का प्रश्न अलग-अलग चीजें नहीं हैं, वह जानता है कि देश की उन्नति अंग्रेजी जानने वाले मुट्ठीभर विद्वानों से नहीं होगी, इसके लिए भारत की विशाल जनता का सहयोग चाहिये जो विदेशी भाषा के माध्यम से संभव नहीं; किन्तु इतने मोटे सत्य को स्वतन्त्र भारत की चार-चार संसदें भी समझ नहीं पायीं और विदेशी ऋण के कमरतोड़ भार से पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा दारिद्र्य की खेती और अकालों की पैदावार जारी रही। योजनाओं की विफलताओं पर सभी में मतैक्य है, पर उसके मूल कारण यानी जनता के असहयोग पर किसी की दृष्टि नहीं जाती। अंग्रेजी में बनी योजनाएँ और विचार जनता तक नहीं पहुँचेंगे। ऐसी स्थिति में यह पूछना अनुचित होगा कि क्या हम अब भी मानसिक दासता के शिकंजों में बँधे नहीं हैं ? इस मानसिक दासता से मुक्ति दिलाने के लिए ही लाला लाजपतराय ने राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना की। लोक-सेवक दल बनाया। इस संस्था के अधिकांश प्रकाशन हिन्दी में हुए।

भारतीय राजनीति में गांधी का नाम स्वदेशी आंदोलन का पर्याय हो चुका है। महात्मा गांधी शुरू से ही स्वदेशी भाषाओं के हिमायती रहे। उन्होंने १९३५ ई० में इन्दौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में कहा—"हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा मानते हैं। वही राष्ट्रीय भाषा होने के लायक है। वही भाषा राष्ट्रीय भाषा बन सकती है जिसे अधिसंख्यक लोग जानते बोलते हों और जो बोलने में सुगम हो। ऐसी भाषा हिन्दी ही है जिसे अन्य प्रान्तों ने भी स्वीकार कर लिया है।" राष्ट्रपिता गांधी के अनुसार १९३५ में सभी प्रान्तों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया था किन्तु १९६८ में हिन्दी को "जोड़कभाषा" मानने के लिए भी लोग तैयार नहीं हैं। गांधीजी ने १९०८ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना कराई। राजेन्द्र बाबू को उससे सम्बद्ध कराया। १९१० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पहले अधिवेशन में राजेन्द्र बाबू और टंडन जी जैसे कांग्रेसी नेता शरीक हुए। तब हिन्दी का प्रश्न राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अहम मुद्दा माना जाता था।

हर गलत काम को करते वक्त गांधी के नाम की माला जपने वाली और उनके आदमक़द चित्रों की आड़ लेकर जनता की आकांक्षाओं को नकारने वाली कांग्रेस यदि

हिन्दी के प्रश्न पर या प्रकारान्तर से सभी भारतीय भाषाओं के प्रश्न पर गिरगिट की तरह रंग बदलती है, तो इसमें क्या आश्चर्य ? भारतीय भाषाओं को उनका सही अधिकार दिलाने का काम खटाई में इसलिए पड़ा है कि हम पुनर्जागरण आन्दोलन के मूलभूत उद्देश्यों और उसके मार्ग में आने वाले खतरों से वाक़िफ नहीं रहे । हमें वह जान लेना चाहिए कि इस देश में पहले से ही अंग्रेजियत और पश्चिमी सभ्यता के अन्ध प्रेमियों की एक खासी मजबूत परम्परा रही है और यह बहुत ही प्रभावशाली तथा साधन सम्पन्न भी रही है । स्वतंत्रता के बाद "स्वदेशी विरोधी" इन व्यक्तियों को काफी ऊँचे-ऊँचे पदों पर बिठाया गया । सारे देश को बनाने-मिटाने का काम इनके हाथ में सौंप दिया गया । राजाराम मोहन राय, मेकाले, डेविड हेअर और अलक्जेण्डर डफ के ये मानस पुत्र आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त, संगठित और अपनी अंग्रेजीपरस्त नीतियों को लागू करने में समर्थ हैं । विश्व की निरतन्तर बदलती हुई राजनीतिक परिस्थतियाँ भी इनके हाथों को मजबूत करती हैं । शिविर विभक्त अन्तर्राष्ट्रीयता की हजारों एजेन्सियाँ इन राष्ट्र-द्रोही व्यक्तियों को नाना प्रकार से सहायता देती रहती हैं ताकि ये निरन्तर भारत को मजबूत और आत्मनिर्भर बनाने वाली योजनाओं से विमुख करते रहें ।

गांधी द्वारा स्वदेशी आन्दोलन छेड़े जाने के बहुत पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था—"जिसमें तुम्हारी भलाई हो, वैसी ही किताबें पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो, परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत करो ।" (भारतेन्दु युग पृ० ११२) आज हम ठीक इससे उल्टी दिशा में जा रहे हैं । हम वही किताबें पढ़ते हैं जिनसे आचरण भ्रष्ट होता है, वे ही खेल खेलते हैं जिससे सेहत खराब होती है और उन्हीं विदेशी वस्तुओं पर भरोसा करते हैं जो हमारे देश को हर संकट की घड़ी में धोखा देती है । रहा प्रश्न बातचीत का ? उसका तो सूत्र ही टूट चुका है । आज पूरा भारत असंवाद की स्थिति में है । कोई किसी की नहीं सुनता, कोई किसी से संवाद करने या विचार-विमर्श करने की स्थिति में नहीं है । एक देश के नागरिकों के बीच असंवाद की यह स्थिति बहुत बड़े खतरे की सूचना है । यह स्थिति अंग्रेजी ने पैदा की है । लोग समझते हैं कि हमारे बीच परस्पर संवाद का एकमात्र माध्यम अंग्रेजी है; पर बात ठीक उल्टी है। हमारे बीच भयावह खाई रचने और बिलगाव पैदा करने का कारण अंग्रेजी है । अंग्रेजी ने भारत की अधिकांश जनता और मुट्ठीभर नौकरी पेशा अंग्रेज परस्त भारत भाग्य विधाता लोगों के बीच, एक प्रान्त और दूसरे प्रान्त की जनता के बीच "असम्वाद और शंका" की ऊँची-ऊँची दीवालें खड़ी कर दी हैं । सुप्रसिद्ध शब्दार्थ विज्ञानी प्रोफेसर पोस्टगेट ने लिखा है कि "सारे मानवीय इतिहास में उन सवालों से बड़े ध्वंसात्मक और खतरनाक कोई दूसरे सवाल नहीं होते जो किसी भाषा के बोलने और सुनने वालों के बीच विद्यमान अर्थ और पदार्थ के सम्बन्ध—सूत्रों के टूट जाने से उत्पन्न होते हैं ।" सम्पूर्ण भारतीय जीवन को विश्रृंखलता, टूटन, उदासीनता और

आत्मघाती निर्णय भीरूता के मूल में सिर्फ एक बात है कि आज देश के एक हिस्से का भारतीय दूसरे हिस्से के भारतीय से अपनी भाषा में संवाद नहीं कर सकता। अपने स्वदेशी मानस से उत्पन्न शब्द और अर्थ आज हमारे लिए बेगाने और पराये हो गये हैं। देश के हृदय का एक टुकड़ा दूसरे टुकड़े से उधार ली हुई भाषा में कब तक बातचीत करता रहेगा ? इस प्रसंग में मुझे विनोबा की बात याद आती है। उन्होंने लिखा है कि "जब तक हम पश्चिम से शब्द लेते जायेंगे और अपने शब्दों की शक्ति नहीं पहचानेंगे तबतक हमारा चिन्तन इसी तरह गलत ढंग से जारी रहेगा।"

ऐसी भयावह स्थिति में देश का बाह्य और आन्तरिक सभी कुछ बन्धक होता चला जा रहा है। भारतीय प्रतिभाएँ अंग्रेजी के चर्वित ज्ञान का जूठन बटोर रही हैं। गेहूँ के कर्ज़ की अदायगी के रूपयों से सस्ती किताबें हमारे लाभ के लिये बड़ी शुभेच्छा के साथ वितरित की जा रही हैं। अंग्रेजी शिक्षा को सुधारने के लिये नये-नये शिक्षा-केन्द्र और ग्रीष्म विद्यालय चलाये जा रहे हैं। हिन्दी के विरोध में आन्दोलन करने वालों को गुप्त सहायताएँ दी जाती हैं। पश्चिमी सभ्यता के कृतदास विद्वानों और लेखकों को इनाम दिये जाते हैं, ताकि वे हिन्दी और भारतीय भाषाओं की नालायकी पर हजारों-हजार बकवास भरी बातें निरन्तर बोलते और लिखते चलें। इन्हीं महापुरुषों की कृपा से हिन्दी और तमिल में झगड़ा खड़ा कराया गया। इन्हीं की कृपा से हिन्दी क्षेत्र को राजस्थानी, मैथिली, मगही, भोजपुरी आदि में बाँटने की कारस्तानी होती है। ये ही भारतीय भाषाओं को अक्षमता की चर्चा करके शिक्षा के स्तर की सुरक्षा का राग अलापते हैं। हमारे देश की शिक्षा योजनायें भारतीय पुनर्निर्माण को दृष्टि में रख कर नहीं, इसे निरन्तर पश्चिमी जगत् के उपनिवेश के रूप में बनाये रखने की दुरभिसन्धि से प्रेरित होकर बनायी जाती हैं। यानी अंग्रेजी सिर्फ एक विदेशी भाषा का नाम ही नहीं है बल्कि वह हिन्दुस्तान को बेचने की तमाम कारगुजारियों और साजिशों का "कोडवर्ड" है। जिस देश का पवित्र-तम निर्वाचन विदेशी मुद्राओं से कलंकित होता है, वहाँ हिन्दी या भारतीय भाषाओं की मर्यादा की रक्षा की बात नक्कारखाने में तूती की आवाज़ ही सिद्ध होगी। इन बातों पर यत्र-तत्र काफी लिखा जा चुका है, जिसे मैं दुहराने की जरूरत नहीं समझता।

प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाय। केशवचन्द्र सेन, शारदाचरण मित्र, दयानन्द, तिलक, विपिन चन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, मालवीयजी, गांधीजी, राजेन्द्रप्रसाद और टंडनजी से लेकर राममनोहर लोहिया तक जिस सूरज की तरह साफ सत्य को मनवा न सके, उसे कारगर रूप से स्वीकृति दिलाने के लिये क्या किया जाय ? मेरा ख्याल है कि पिछले वर्ष की घटनाओं से निराश होने की जरूरत नहीं है। भाषा संशोधन विधेयक के पारित हो जाने से कुछ नहीं होगा। डा० लोहिया के सामने पिछले डेढ़ सौ वर्षों के भाषात्मक आन्दोलनों और संघर्षों का इतिहास मौजूद था। उनकी अस-

फलता से भी वे परिचित थे, पर वे निराश नहीं हुए। उन्होंने १९५६ में "प्रथम अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन" क्यों किया ? क्योंकि उन्हें विश्वास था कि अभी भी जनमत को जाग्रत किया जा सकता है, अभी भी भारतीय भाषाओं को उनका असली प्राप्य दिलाया जा सकता है। "जाग्रत जनमत" के अलावा इस समस्या के समाधान का और कोई विकल्प नहीं है। हमें पुनः स्वराज्य, स्वचिन्तन, स्वदेशी और स्वभाषा के मूलमंत्रों को जगाने की जरूरत है। भारतीय भाषाओं को एक-दूसरे के नज़दीक ले आने के लिये जो कुछ भी कर्त्तव्य है, वह होना चाहिये। राष्ट्रभाषा से सीधे सम्बन्ध होने के कारण हिन्दी वालों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है। एक ओर "अंग्रेजो हटाओ" के नारे को जीवन में उतारना है, पर साथ ही अपने को मध्ययुगीन कुण्ठाओं और कूपमंडूकता से मुक्त भी रखना है। दूसरी ओर भारतीय भाषाओं के प्रति अपनी मातृभाषा हिन्दी से भी अधिक आग्रह और आत्मीयता का परिचय देना है। यदि अगले पाँच वर्षों में हिन्दी भाषी क्षेत्र में दक्षिण की भाषायें बोलने-लिखनेवाले एक हजार व्यक्ति निकल आयें तो हम सहज ही हिन्दी को अखिल भारतीय साहित्य का एक मुखर दर्पण बना सकते हैं। योरोपीय साहित्य के जिस प्रकार की दर्पण-भाषा फ्रेंच बन गई है, वही स्थिति हिन्दी के लिए भी काम्य होनी चाहिए। हमारा एक और भी कर्त्तव्य है कि हम एशियाई और अफ्रीकी जनमानस को अपने नजदीक ले आएँ। "अंग्रेजी हटाओ" का एक परिणाम यह भी होना चाहिए कि विदेशी भाषा के रूप में हम इस तिरस्कृत महाद्वीपों की भाषाओं को अपनाएँ। तुर्की, अरबी, हिब्रू, फारसी, पश्तो, चीनी, जापानी, मलय, बाली, ख्मेर, इण्डोनेसी आदि एशियाई और स्वाहिली आदि अफ्रीकी भाषाओं के अध्ययन से हम अफ्रीकी, एशियाई जनमानस के और भी निकट जा सकते हैं। भाषा आन्दोलन के दिनों में मैंने एक सुझाव दिया था कि हिन्दी वाले तमिल दिवस मनायें। मेरा निवेदन है कि जनमत जाग्रत करने के लिए अंग्रेजी हटाओ सम्मेलनों का एक वार्षिक क्रम चलाया जाये और ये सम्मेलन बहरहाल हिन्दी क्षेत्रों में ही सीमित रहें तथा प्रति वर्ष इस सम्मेलन के अवसर पर हिन्दीतर किसी भारतीय भाषा का "प्रसारोत्सव" भी मनाया जाया करे। इस तरह हम हिन्दी क्षेत्र में जहाँ अंग्रेजी को हटाने का अभियान तीव्र करेंगे वहीं हिन्दी के अलावा दूसरी भारतीय भाषाओं के प्रति अपनी आत्मीयता का सक्रिय प्रमाण भी उपस्थित कर सकेंगे। मेरी दृष्टि में डा० लोहिया के प्रति हिन्दी वालों की यह सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी।

● ●

हिन्दी-आन्दोलन : सही पृष्ठभूमि

यह सही है कि हिन्दी आन्दोलन नवम्बर २८, १९६७ से शुरू हुआ। यह भी सही है कि आन्दोलन का बिगुल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों ने बजाया। यह भी सही है कि देखते-देखते यह आन्दोलन उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में आग की लपट की तरह फैल गया और हफ्ते-भर के भीतर सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश इसका क्षेत्र बन गया। यह भी सही है कि यह आन्दोलन धीरे-धीरे काफ़ी उग्र हुआ और इसमें थोड़ा-बहुत जोर-जुल्म भी चला। गोली चली। लाठियाँ चलीं। धर-पकड़ हुई। अश्रुगैस, संचार बन्दी, दफा १४४ और सशस्त्र पुलिस की गश्त का माहौल बढ़ा। आन्दोलन धीरे-धीरे उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा और बाद में हैदराबाद में फैल गया।

किन्तु इस आन्दोलनको राजभाषा (संशोधन) विधेयक के साथ जोड़ना इसे इसके सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से अलग करना होगा। हिन्दी आन्दोलन शुरू से ही स्वतन्त्रता के बुनियादी उसूलों के साथ जुड़ा रहा है। प्रकारान्तर से कहें तो यह कि स्वतन्त्रता संग्राम का सांस्कृतिक मोर्चा रहा है। "स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" के पुनीत मन्त्रकी मातृका हिन्दी है। हिन्दी यानी मातृभाषा। मातृभूमि ओर मातृभाषा एक ही शक्तिके दो विग्रह हैं। यही इसका प्राधानिक रहस्य है।

स्वतन्त्रता-संग्राम के आरम्भ से ही दो प्रकार की विचारधाराएँ इस देश में चलती रही हैं। एक नर्म समझौता परक उदार और दूसरी उग्र आत्म निर्भरतापरक स्वसापेक्ष्य। भाषाके मामले में भी दोनों दलों के विचारों में मूलभूत अन्तर था। यही सही है कि अँग्रेजी ने हमारे सामने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र खोले। यह भी सही है कि महात्मा गांधी कहा करते थे कि मैं अपने घर की खिड़कियाँ इस तरह खुली रखना चाहता हूँ कि उसमें विश्व की हवाएँ निरन्तर आती-जाती रहें; पर वे यह कभी भी नहीं चाहते थे कि विदेशी अन्धड़ ग़रीब का छप्पर ही उड़ा ले जाये। गांधी का हवाला देनेवाले सिर्फ़ पैंतरा बदल कर बात कर रहे हैं। उनकी आकांक्षा अग्रेज़ी को सर्वदा के लिए इस देश में बनाये रखने की है और उनका संगठन और इनकी परम्परा इतनी निर्बल नहीं है जितना हम समझ लेते हैं। असल में अग्रेज़ी बनाम भारतीय भाषा के संघर्ष की एक लम्बी कहानी है जिसे आज नये सिरे से परखने की जरूरत है, तभी हम अग्रेज़ी के हिमायतियों से सही ढंग से निबट सकते हैं।

अग्रेज़ीका समर्थन करने वाले वे लोग हैं जो स्वतन्त्रता का अर्थ "मुट्ठी-भर तथा

कथित पढ़े-लिखे लोगों का शासन" समझते हैं। अँगरेजी साम्राज्य की समूची शक्ति और सुरक्षा "इण्डियन सिविल सर्विस" में केन्द्रित रही है। 'इण्डियन सिविल सर्विस' हमारे देश में इतनी क्रूर, प्रदर्शनात्मक, घमण्डी, जन-निरपेक्ष्य और अँगरेज़ भक्त रही है कि खुद अँगरेजों को इसकी अतिवादी भक्ति और "श्वान चेष्टा" पर आश्चर्य होता रहा है। एक अँगरेज़ लेखक ने इसे 'मोस्ट टेनाशियस ट्रेड यूनियन ऑव द वर्ल्ड" यानी "विश्व का सबसे कठोर और जिद्दी अफ़सर संघ" कहा था। 'भारत की खोज' में नेहरू ने लिखा है—"ये भारत पर शासन करते, अपने को खुद ही भारत समझते और मानते कि जो उनके लिए हानिकारक है वह समूचे भारत के लिए हानिकारक है।" (डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २९१) इस सिविल सर्विस में बदकार अंगरेजों के अलावा उन भारतीयों को भी स्थान मिलने लगा जो देशद्रोही और स्वामिभक्त होते थे। नेहरू के ही शब्दों में "सिविल सर्विस ने अपने को एक ऐसी जाति में ढाल लिया जो इस जातिवादी देश में सबसे क्रूर और स्वकेन्द्रित जाति बन गयी।"

इसी समय भारत में छापाखाने और मुद्रण प्रतिष्ठान स्थापित हुए। शुरू-शुरू में मुद्रण की मशीनों को स्थापित करने में काफ़ी हिचक और संकोच का भाव रहा। वे डरते थे कि कहीं ये साधन उन्हीं के खिलाफ़ उपयोग में न लाये जायँ, पर धीरे-धीरे अंग्रेजी और अंग्रेजी-भक्त टुच्चे समूह की कर्तव्य परायणता पर उनका विश्वास बढ़ता गया और कलकत्ते और मद्रास में मुद्रण प्रतिष्ठान खोले गये। कहना न होगा कि बंगाली और मद्रासी उनके शासन के दो प्रमुख स्तम्भ रहे। और सारे भारत पर इन्हींकी मददसे उन्होंने अपना शासन दृढ़ और मजबूत किया। परिणामतः अँग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रचार इन्हीं दो प्रान्तोंमें विशेषतः बढ़ा और इन प्रान्तोंने 'इण्डियन सिविल सर्विस' के लिए योग्यतम अफ़सर प्रदान किए। इनका भारतीय शासन में प्रभाव बढ़ता गया और धीरे-धीरे इन्होंने अपने भाई-भतीजे और रिश्तेदारोंको, अपनी जमानत पर, स्वामिभक्ति का विश्वास दिला-दिलाकर अन्य सेवाओं और नौकरियों में भी भरना शुरू किया। हिन्दी का विरोध करने वालों में आज क्या इसी समूह के उत्तराधिकारियों और वारिसों की बहुलता नहीं है? क्या हिन्दी विरोध के पीछे वही पुरानी अंग्रेज-भक्ति नहीं है? हाँ, उसकी हुलिया और पोशाक ज़रूर बदल गयी है; पर अंग्रेज-परस्त आत्मा वही है।

अंग्रेजी के माध्यम से युरोपीय सभ्यता और संकृति का व्यापक प्रचार हमारे देश में होने लगा। अंग्रेज जाति युरोपीय पुनर्जागरण और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप एक प्रगतिशील आधुनिक जाति में बदल चुकी थी। उसका सम्पर्क मध्ययुगीन परिवेष में जीने वाले बल्कि मुमूर्षु भारत के लिए नई प्रेरणा और जागृति का कारण बना। किन्तु जो अंग्रेज़ भारत में आये वे भारतीय सामन्तों, सिविल सर्विस के अफ़सरों, व्यापारियों तथा दूसरे उच्चवर्ग के भारतीयों को देखा-देखी पिछले खेवे के मुग़लों-जैसा विलासिता-

पूर्ण जीवन व्यतीत करना शान की बात मानते रहे। वे वैसा करते भी क्यों न ? जब कि सही अर्थों में वे मुग़ल शासन के उत्तराधिकारी थे। इसलिए योरोपीय संस्कृति के जीवन्त-तत्त्वों का हमारे समाज पर उतना असर नहीं पड़ा जितना योरोपीय संस्कृति के नाम पर भ्रष्ट अँग्रेज़ अधिकारियों के कदर्थ जीवन और आचरण का। मैं मानता हूँ कि सिविल सर्विस के अँग्रेज़ अफ़सरों में भी अनेक बहुत बड़े विद्याव्यसनी, ईमानदार, जिज्ञासु ओर अच्छे स्वभाव के थे। ग्रियर्सन, विलियम जोन्स आदि को मैं नकारना नहीं चाहता। किन्तु ये दाल में नमक के समान थे। बिलकुल आपवादिक।

इस कुप्रभाव के विरुद्ध क्रान्ति होना स्वाभाविक था। १८५७ के बाद की धार्मिक क्रान्ति इसी की प्रतिक्रिया है। रामकृष्ण, विवेकानन्द, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द, एनी-बेसेण्ट आदि के प्रयत्नों से उत्पन्न भारतीय पुनर्जागरण युरोपीय अतिवादी संस्कृति के विरोध में उत्पन्न भारतीय मनीषा का आत्मविस्फुरण था, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं। इनमें से कुछेक ऐसे ज़रूर थे जो इस आन्दोलन का माध्यम अँग्रेज़ी ही रखना चाहते थे; पर अधिकांश भारतीय भाषाओं के समर्थक थे और जानते थे कि भारतीय संस्कृति की सही अभिव्यक्ति भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही हो सकती है। केशवचन्द्र सेन और दयानन्द तो निश्चय ही अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए कृतसंकल्प थे। हिन्दी आन्दोलन को सबसे बड़ी शक्ति और प्रेरणा स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके आर्य समाज से मिली। दयानन्दजी ने हिन्दी को आर्य भाषा कहा। उनके मन में अँग्रेज़ी के प्रति क्षोभ स्पष्ट था, अँग्रेज़ी म्लेच्छ भाषा थी और हिन्दी आर्य भाषा। कौन जानता था कि कालान्तर में 'आर्य भाषा' हिन्दी द्रविड़ भाषा-भाषियों के लिए आँख की किरकिरी सिद्ध होगी। दयानन्द के मन में आर्य-द्रविड़ का भेद नहीं था। सच तो यह है कि भारत के किसी भी काल के नेताओं, धर्म प्रचारकों अथवा बौद्धिकों के मन में द्रविड़-आर्य विभेद की कल्पना शायद ही कभी उठी। हिन्दू-मुसलमान के बीच भेद-भाव के अंकुर की तरह ही आर्य-द्रविड़ के बीच भी भेद-भाव के अंकुर अंग्रेज़ों ने ही बोये। क्योंकि वे हमेशा ऐसे व्यक्तियों की खोज में रहते थे जो एक ओर अपनी सभ्यता और संस्कृति का स्वाभिमान भूलकर उनके प्रति हमेशा समर्पित रहें, दूसरी ओर वे शासित जनता के बीच उनसे भिन्न धर्म या जाति का होने के कारण घुलमिल न सकें। इसी कारण भारतीयों के बीच तरह-तरह के भेद-भाव पैदा करना उनकी मनपसन्द राजनीति रही है। परेशानी होती है कि स्वतन्त्रता के बाद, अँगरेज़ों के चले जाने पर भी हम उनके द्वारा बोये गये भेद-भाव के बीजों को निरन्तर पोसते-पालते चले जा रहे हैं और पाकिस्तान बन जाने के बाद द्रविड़स्तान की कल्पना करने लगे हैं। मद्रास में द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम की राजनीति आर्य द्रविड़ भेद के चरम बिन्दु पर क़ायम है। वहाँ शिशु-कक्षा से ही बालकों को आर्य-द्रविड़ का भेद घुट्टी में पिलाया जा रहा है और इन्हें दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों के रूप में एक दूसरे से आमने-सामने

प्रतिस्पर्धा के भाव से खड़ा किया जा रहा है।

दक्षिण के लोग कभी द्रविड़ होंगे; पर आज सभी एक समन्वित भारतीय संस्कृति धारा में लीन हो चुके हैं। किन्तु यदि भारतीयता की समन्वित धारा से कटकर वे अलग ही रहना चाहते हैं, तो उन्हें ऐसा करने से कौन रोक सकता है। हिन्दी का विरोध इसी प्रकार की प्रवृत्ति की उपज है। भाषा-समस्या को वैधानिक तरीक़ों से शायद ही कभी सुलझाया जा सके। सवाल मन का है, और हमें यह कहने में संकोच नहीं कि तमिल भाषी जनता का मन शेष भारत के मन से काफ़ी दूर होता जा रहा है।

हिन्दी विरोधी आन्दोलन के पीछे एक दूसरी शक्ति भी कार्य कर रही है। अँग्रेज़ी साम्राज्य तो अवश्य समाप्त हो गया; किन्तु भारत से अँग्रेज़ी स्वार्थ और प्रभाव समाप्त नहीं हुआ। अंग्रेज राज्य सिर्फ़ एक भौतिक घटना नहीं थी, उसके माध्यम से सम्पूर्ण योरोपीय संस्कृति और ईसाइयत तथा नाना पश्चिमी मतवादों का इस देश में खुला आयात होता रहा है। भौतिक रूप से साम्राज्य से हाथ धो बैठने पर भी योरोपीय संस्कृति, सभ्यता, ईसाइयत और दूसरे मतवादों के ठीकेदार भारत पर अपना मानसिक साम्राज्य ज्यों का त्यों क़ायम रखने के लिए जीतोड़ प्रयत्न कर रहे हैं। गोरों की प्रभुता अब हमारे ऊपर दूसरे रूपों और तरीक़ों से स्थापित की जा रही है। इस अभियान के पीछे अमेरिकी धन और पश्चिम योरोपीय देशों के बौद्धिकों का व्यापक सहयोग है। वे अब खुद सामने आकर पहल नहीं करते; बल्कि भारत में अपने एजेण्टों के माध्यम से, जिन्हें उन्होंने आधुनिक विज्ञापन के तरीकों की सहायता से महान् बौद्धिक, विचारक और राजनेता आदि घोषित करा दिया है, योरोपीय सभ्यता के हानि कर रूप की प्रतिष्ठा करा रहे हैं। ऐसे लोगों में मैं सिर्फ़ नीरद चौधुरी का एक उदाहरण आपके सामने पेश करता हूँ। नीरद चौधुरी को हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोग एक मामूली 'टाइपराइटर' से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं देते; पर नीरद चौधुरी अमेरिका वग़ैरह देशों में भारत के महान् चिन्तक और क्रान्तिकारी लेखक माने जाते हैं। नीरद चौधुरी का क्रान्तिकारी चिंतन क्या है ? हम योरोपीय आर्यों की सन्तान हैं। नीरद चौधुरी कहते हैं कि "हिन्दू भ्रष्ट योरोपीय ही हैं। उसकी भ्रष्टता क्रूर दमघोंट वातावरण (भारतीय वातावरण) के कारण इस धरती की असली आदिवासी सन्ततियों के साथ संघर्ष के कारण बढ़ती रही है। इस तथ्य को यदि ठीक से हृदयंगम कर लिया जाये तो मेरा ख़याल है कि पश्चिम के लोग हिन्दुओं की कड़ी आलोचना करना छोड़ देंगे और हिन्दू को भी अपने अँग्रेज़ भाइयों के दर्प और स्वाभिमान पूर्ण आचरण से उतनी खीझ नहीं होगी" ("आन अण्डरस्टैंडिंग द हिन्दूज़, एनकाउण्टर, जून १९६५, पृ० ३२) क्या कहने हैं श्री नीरद चौधुरी के। अँग्रज़ों के ये भाई-बिरादर समूची हिन्दू जाति की भ्रष्टता ? के लिए शोषक अँग्रेज़ों से ही क्षमा माँगते हैं। इन्हीं श्री नीरद चौधुरी ने हिन्दी आन्दोलन के दरम्यान टाइम्स ऑफ इण्डिया में कई धारा वाहिक निबन्ध हिन्दी के विरोध में छपाये। उनकी मुख्य स्थापना यह थी कि हिन्दी गँवारू और अविकसित भाषा है। उसमें आज

तक रविठाकुर भी नहीं पैदा हो सके। हिन्दी को राजभाषा तभी बनाया जा सकता है जब कि पूरे भारत पर हिन्दी क्षेत्र का शासन हो और यह असभ्य असंस्कृत हिन्दी वालों के बूते के बाहर की बात है, इसलिए हिन्दी राज्य भाषा नहीं हो सकती। यानी हिन्दी वाले साम्राज्य बनाने के भी अयोग्य हैं तब भी गाली और यदि हिन्दी वाले साम्राज्य बनाने का तथाकथित प्रयत्न करें तब भी गाली। एक दूसरे नेता लेखक श्री फ्रैंक एंथनी साहब हैं जो निरन्तर हिन्दी साम्राज्यवाद का हौवा खड़ा करते हैं कि हिन्दी वाले सिर्फ अपने बहुमत के बल पर शेष भारत को दबाकर रखना चाहते हैं। दूसरी ओर वे कर्णी सिंह जैसे लोगों को उभारते भी हैं कि राजस्थानी को अलग भाषा बनाओ। यानी हिन्दी क्षेत्र के संगठन को तोड़ने के लिए भी लाखों चेष्टाएँ जारी हैं।

आँग्ल-अमेरिकी प्रभाव के लोग यदि हिन्दी का विरोध करते हैं तो बात समझ में आती है। नीरद चौधुरी, राजगोपालाचारी, फ्रैंक एंथनी, मीनू मसानी, रंगा, दाण्डेकर आदि के विरोध का सही अर्थ समझ लेना आसान है; पर जब वामपन्थी कम्यूनिस्ट हिन्दी का विरोध करते हैं, तब समस्या थोड़ी और सूक्ष्म विश्लेषण की दरकार रखती है। वामपन्थी कम्यूनिस्ट और दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावादियों—दोनों-ही के द्वारा हिन्दी का विरोध इस बात का सूचक है कि हिन्दी आन्दोलन मात्र भाषागत आन्दोलन नहीं है; बल्कि यह विशेष मूल्यों का प्रतीक हो गया है। वस्तुतः जो लोग भारतको निःशक्त, परमुखापेक्षी, निर्बल, निर्धन, कमज़ोर और पंगु देखना चाहते हैं, वे सभी हिन्दी आन्दोलन के विरोधी हैं। हिन्दी आन्दोलन आत्मनिर्भरता, भारतीयता, स्वतंत्रता, स्वावलम्बिता तथा स्वदेशी भावनाका आन्दोलन है। यह खाँटी भारतीय धरती से उत्पन्न हुआ है। यह अमेरिकी प्रभुत्व और चीनी विस्तारवाद दोनों के विरोध में पड़ता है, इसलिए वाम और दक्षिण के दोनों ही प्रतिक्रियावादी तत्त्व इसका खुलकर विरोध कर रहे हैं। यानी प्रकारान्तर में हिन्दी आन्दोलन भारतीय भाषाओं की मुक्ति का आन्दोलन है, जिसके पीछे स्वाभिमानी तरुण भारत की अनेकानेक सम्भावनाएँ तथा अपेक्षाएँ छिपी हुई हैं। इसीलिए इस आन्दोलन को हलके जोश से उत्पन्न क्षणिक आन्दोलन नहीं समझना चाहिए; बल्कि इसके भीतर सुषुप्त सैकड़ों दूरगामी तत्त्वों और पहलूओं को सही तरह से समझने की कोशिश करनी चाहिए। इस आन्दोलन का विरोध जातिवादी, विस्तारवादी, साम्राज्यवादी और डालर के बल पर राष्ट्रीय संग्रामोंको क्षत-विक्षत करनेवाली अन्तरराष्ट्रीय खुफिया संस्थाएँ कर रही हैं। इन सब पहलुओं को ध्यान में रख कर इस महत्तम आन्दोलन को आगे बढ़ाने और सफल बनाने की आवश्यकता है।

इस संक्षिप्त विश्लेषण से पता चल जायेगा कि हिन्दी का आन्दोलन उस पुनर्जागरण वाली क्रान्ति की ही देन है जिसने राष्ट्रीय कांग्रेस को जन्म दिया। हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता तो मिली; पर मानसिक स्वतन्त्रता अब भी प्राप्त नहीं हुई है। हमारी मानसिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन बीच में अवरुद्ध हो गया था। वह पुनरुज्जीवित हुआ है। उसे

अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाने का हमारा संकल्प कभी भी डगमगाना नहीं चाहिए। मानसिक स्वतन्त्रता की अवरुद्ध क्रान्ति को पूरा करना आज के हर नवयुवक का संकल्प होना चाहिए।

हिन्दी के प्रश्न अक्सर यह बात उठ जाती है—"आखिर देश की एकता का क्या होगा ?" एकता कोई चिड़िया नहीं है कि बाँध कर रखी जाये। आखिर इस प्रश्न पर विचार करने वाले यह क्यों नहीं सोचते यदि हिन्दी क्षेत्र वाले अँग्रेज़ी नहीं चाहते तो अँग्रेज़ी लादने से देश की एकता क्या होगी ? क्योंकि यह मानी हुई चीज है कि हिन्दी क्षेत्र ऐसा कुछ नहीं कर सकते जिससे देश की एकता पर खतरा आये ? देश की एकता हिन्दी क्षेत्र का जन्मसिद्ध उत्तरदायित्व हो जैसे ? एकता हिन्दी के अलावा और भी अनेक कारणों से टूट सकती है। जैसे निर्बल केन्द्रीय शासन, प्रान्तीययता का दुराग्रह, तथा स्वार्थ-भावनाओं और दलगत राजनीति के दबाव के कारण संविधान में अवसरवादी उलट-फेर से। हिन्दी बेचारी तो व्यर्थ का बहाना बना दी गयी है। देश की एकता सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक एका पर निर्भर करती है। यदि मद्रास सोचता है कि द्रविड संस्कृति आर्य संस्कृति से भिन्न है, राजनीतिक एका सम्भव नहीं, काँग्रेस और कषगम परस्पर विरोधी हैं, तो एकता अपने-आप टूट जायेगी। अँग्रेज़ी राजभाषा रहे तो भी ? दो परस्पर भिन्न भारतीय राज्यों को, संस्कृतियों को, जातियों को, राजनीति को क्या अँग्रेज़ी एकत्र मिलाये रख सकेगी ? और यदि रखे भी तो ऐसी झूठी एकता लेकर कोई क्या करेगा।

असल में प्रश्न एकता का नहीं प्रश्न अस्तित्व का है। देश को बचाये रखने का है। उपर्युक्त दोनों अतिवादी तत्त्वों दक्षिण और वाम के प्रतिक्रियावादियों से अपने को सुरक्षित रखने का है, और इसके लिए बहुत जरूरी है कि जल्दी से जल्दी भारतीय भाषाएँ अपना उचित और स्वाभाविक मातृ-आसन प्राप्त करें। हिन्दी वालों को इस महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए देश की मिथ्या एकता की परवाह करने की जरूरत नहीं। हम किसी पर हिन्दी लादना नहीं चाहते; पर हमारे ऊपर अँग्रेज़ी न लादी जाये। हम एकता के लिए किसी एक दक्षिणी भाषा को केन्द्रीय सेवाओं के लिए अनिवार्य रूप से सीखने को तैयार हो सकते हैं। हिन्दी-आन्दोलन लक्ष्य पर पहुँचे उसके लिए हम किसी भी प्रकार का प्रतिरोध झेलने और सहने को तैयार रहें, यही समय की एकमात्र माँग है। पिछले बीस वर्षों की निष्क्रियता ने ऐसे ही भारतीय भाषाओं के विकास को बहुत पीछे ठेल दिया है, अब उस निष्क्रियता के निर्मोक को उतार कर भारतीय भाषाओं को उनका सही प्राप्य दिलाने के लिए प्राण-प्रण से कोशिश होनी चाहिए।

मैं इस अवसर पर यह भी कह देना अपना कर्तव्य मानता हूँ कि हिन्दी को राजभाषा बनवाने के प्रयत्न का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि हम पुनः मध्ययुगीन खोल में लौट रहे हैं। हिन्दी भाषा-भाषियों को दुहरे-तिहरे उत्तरदायित्व के दौर से गुज़रना

है। विदेशी ज्ञान-विज्ञान से, आधुनिक विचारधाराओं से हमारा सम्बन्ध भी न टूटे, साथ ही भारत के दूसरे हिस्सों में चलने वाली साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधि से भी हम नावाकिफ़ न रहें। इसके लिए आवश्यक है कि हिन्दी-क्षेत्र में भाषाविषयक जिज्ञासा की एक नयी लहर उठे। हमारे बीच ऐसे अनेकानेक व्यक्ति उत्पन्न हों जो भारतीय भषाओं में आने वाले ज्ञान को हिन्दी में तत्काल प्रस्तुत करें तथा देश-विदेश की महान् भाषाओं के भंडार से अनमोल रत्न ले आकर हिन्दी का आँचल भरते रहें। तभी हम एक जागरूक आन्दोलन की सभी आवश्यकताएँ पूरी कर पायेंगे। हिन्दी वाले निम्न कोटि के बौद्धिक न रहें, हम किसी भी माने में दूसरों के सामने अपमानित न हों, इसके लिए आवश्यक है कि इस आन्दोलन को बौद्धिक पिपासा और जागरूकता के आन्दोलन में बदल दिया जाये। तथास्तु।

● ●

पुराना कवि : नया परिप्रेक्ष्य

[तुलसी मानस में संत्रास]

●

प्राय: ऐसा समझा जाता है कि संकट और सन्त्रास का अवबोध आधुनिक साहित्य की मूल प्रेरणा है। यह सही है कि अनेक प्राकृतिक-अप्राकृतिक कारणोंसे उत्पन्न साम्प्रतिक परिवेश में आज का मनुष्य अपने के पहले के मनुष्य की अपेक्षा अधिक सन्त्रस्त और संकटग्रस्त समझता है। आज का मनुष्य अपने को परम्परा से कटा हुआ, भविष्य के प्रति निराश और वर्तमान में निरर्थक जीवन और विसंगतियों से घिरा हुआ पाता है। ऐसा इसलिए हुआ है कि हमारा जीवन निरन्तर एक ऐसी प्रवृत्ति से आक्रान्त होता जा रहा है जिसे दार्शनिक परिभाषा में पदार्थीकरण (आब्जेक्टिफ़िकेशन) कह सकते हैं। आज का जगत् जीवन को पदार्थों के रूप में समझने का अभ्यासी होता जा रहा है। ज्ञाता ज्ञेय पदार्थों के सामने अपना महत्त्व खोता जा रहा है। बाह्य पारिभाषिक ज्ञान अन्त:ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जा रहा है। पदार्थ ज्ञान बहुत ऊपरी स्तर की चीज़ है, किन्तु जब वही जीवन का चरम लक्ष्य बन जाता है तो ज़ाहिर है कि मनुष्य के भीतर और बाहर के बीच एक अलंध्य खाई उपस्थित हो जाती है। ऐसी स्थिति में सभी प्रकार के आन्तरिक मूल्यों से रहित आधुनिक मनुष्य निरन्तर एक रिक्तता और सन्त्रास का अनुभव करता है। किन्तु सन्त्रास और संकट नयी चीज़ें नहीं हैं और न ही ये आज के मनुष्य तक सीमित हैं। इस तरह की स्थितियाँ मनुष्य के जीवन में हमेशा ही आती रही हैं, यद्यपि उनके कारण और परिणाम भिन्न तरह के होते रहे हैं।

संकट और सन्त्रास के ऐसे क्षण प्रत्येक युग के बौद्धिक के लिए चुनौती हुआ करते हैं। जिस व्यक्ति की संवेदना जितना ही अधिक तीव्र और बारीक से बारीक सूक्ष्म तत्वों को बाँधने में सक्षम होगी, वह उपस्थित सन्त्रास और संकट को उतनी ही गहराई से अवगत कर सकेगा। किन्तु यह अवगमन मात्र ही पर्याप्त नहीं होता। सन्त्रास और संकट की स्थितियाँ अपने क्रोड में मानवता के सम्मुख उपस्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म समस्याओं और उनके नाना कारणों को छिपाये रहती हैं। ऊपर से नितान्त व्यक्तिगत प्रतीत होने वाला संकट भी बहुत गहराई में कहीं न-कहीं समस्त मानवता के साथ जुड़ा होता है। इसलिए समर्थ बौद्धिक की पहचान इस बात में निहित है कि वह ऊपरसे नितान्त सामान्य-सी घटना जैसे प्रतीत होते संकट को किस प्रकार बृहत्तर मूल्यों के साथ जोड़ता है तथा उसके भीतर से गुज़रते हुए व्यक्ति के मानस में होने वाले परिवर्तनों को किस प्रकार ग्रहण करता है। आज का आधुनिक दार्शनिक यह स्वीकार करता है कि किसी मनुष्य

की चेतना जितना अधिक विकसित होगी, सन्त्रास और संकटका पीड़ा बोध उसके निकट उतना ही अधिक तीव्र होगा। और उस व्यक्ति को चाहे और कुछ दे या न दे—प्रायः नहीं ही देता—पर इतना सन्तोष तो दे ही जाता है कि उसने संकट को अबोध व्यक्ति की तरह समझ से परे मान कर नहीं, बल्कि ज्ञाता की सारी समझदारी और सार्थकता के साथ भोगा। यही समझदारी पीड़ा के बोध को विशिष्ट बना देती है और इसके भीतर से गुज़रने वाले व्यक्ति के जीवन को एक नयी भास्वरता दे जाती है।

मानस में सन्त्रास और संकट का चित्रण एकाधिक स्थानों पर हुआ है। रावण के अत्याचारों ने सम्पूर्ण जीवन को सन्त्रस्त कर दिया था। यह एक सामूहिक सन्त्रास है जिसके भीतर केवल मर्त्य ही नहीं देवमण्डल भी फँस गया था। तुलसी ने इस संकट और सन्त्रास को चित्रित किया, किन्तु यह चित्रण कवि की निजी संवेदना के पीड़ा-बोध से बहुत आर्द्र और तरल न हो सका। प्रथम तो यह कि इसका वर्णन उन्होंने बहुत संक्षिप्त और सरसरी तौर से कर दिया है, दूसरे यह कि पीड़ा व्यक्तिगत न होने के कारण ज्यादा पदार्थगत यानी 'आब्जेक्टिव' हो गयी है :

अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुविध त्रासइ देस निकासइ जो कह वेद पुराना॥

बालकाण्ड १८३

कवि के सामने मानवीय सन्त्रास का एक बहुत मार्मिक प्रसंग उपस्थित था। विदेशी मुसलमानी शासन-काल में उत्पन्न कवि को सामाजिक त्रास का कुछ अनुभव भी रहा होगा, किन्तु स्पष्ट ही कवि की संवेदना इस प्रसंग में डूब नहीं पायी। जैसा मैंने पहले ही निवेदन किया, ऐसा इसलिए हुआ कि पीड़ा का बोध समूहीकरण के कारण सान्द्र और घना नहीं हो सका। समूहीकरण व्यक्तिगत अस्तित्व की पीड़ा को पदार्थ में बदल देता है, उस पर परिभाषाओं का 'लेवुल' लगा देता है। आधुनिक युग में शासन के भ्रष्टाचार या अत्याचार से सभी पीड़ित हैं। इसका चित्रण दो प्रकार से हो सकता है। भारी सभाओं में विरोधी पार्टीका कोई नेता इसका चित्रण करता है और बड़े जोशीले ढंग से अन्याय के उदाहरण दे देकर इसके प्रतिवाद के लिए जनता का आह्वान करता है। दूसरी ओर, कोई कवि या कथाकार इस विषय पर लिखना चाहे तो उसके लिए अनिवार्य होगा कि वह अत्याचारों से पीड़ित किसी एक व्यक्ति के माध्यम से अपने मन की संवेदनाको व्यक्त करे और इस व्यक्तिगत पीड़ा को इस धरातल पर प्रस्तुत करे कि वह अपनी सांकेतिकता द्वारा इसे जन-जन की पीड़ा बना दे। पहले चित्रण में समूहीकरण और पदार्थीकरण का माध्यम अपनाया गया जो तथ्य तो है मगर सत्य नहीं बन सकता; क्योंकि वहाँ तथ्य मनुष्य के व्यक्तिगत मानस में डूबकर नहीं आया है। जब कि दूसरे चित्रण में, चाहे वह तथ्य न भी हो, सत्य प्रस्फुटित होता है क्योंकि वह व्यक्तिगत संवेदना से निरन्तर स्पन्दित

रहता है। इसी कारण मैंने कहा कि रावण के अत्याचार से उत्पन्न मानवीय पीड़ा का चित्रण करते समय तुलसी का कवि तटस्थ रह गया है।

सन्त्रास और संकट का दूसरा चित्रण अयोध्या काण्ड में आता है। राम-वन-गमन, दशरथ की मृत्यु और भरत के अयोध्या लौटने वाले प्रसंग में। यह पूरा प्रसंग तुलसी की सूक्ष्म संवेदना और उनके सचेत पीड़ा-बोध का अनुपम निदर्शन है। भरत-चरित्र की विशेषता उनकी राम के प्रति निष्ठा, ईमानदारी, भ्रातृ-प्रेम, मर्यादावादिता आदि में तो है, परन्तु इस चरित्र को जो रासायनिक प्रक्रिया कुन्दन में बदल देती है, उस पर लोगों का ध्यान प्रायः हो नहीं जाता। इस पूरे प्रसंग में भरत पीड़ा-सन्त्रास-संकट और आत्मविदीर्ण करने वाली जिस परिस्थिति के भीतर से गुज़रते हैं, वही उनके चरित्र को 'पदार्थ' से अलग करके आन्तरिक तेजोद्दीप्तता के सिंहासन पर आसीन कर देती है। भरत नियति के व्यंग्य के शिकार हो जाते हैं। नियति का यह आकस्मिक मोड़ उनके चरित्र को अग्निपरीक्षा में डाल देता है।

सन्त्रास और संकट अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार हमेशा ही आकस्मिक होते हैं। ये बिलकुल अतार्किक और विसंगत होते हैं। सार्त्र इसीको 'कांण्टिजेन्सी' कहता है। भरत को कुछ नहीं मालूम कि उन्हें इस तरह क्यों बुलाया गया। नियति और कांण्टि-जेन्सी के चंगुल में फँसे मनुष्य-मन की यह रहस्यात्मक विशेषता है कि होनी घटित होने के पहले, जब कि वह प्रकृति के भ्रूण में अपना रूप लेती रहती है, किसी छिद्र से, सुराख से अथवा अवचेतन की झिझरी से अपनी भयानक घटनीयता का कुछ आभास भी दे देती है :

देखहिं रात भयानक सपना, । जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥

यह शायद प्रकृति का 'सेफ्टी वाल्व' है जो रहस्य को पूर्णतः रहस्य रखते हुए भी मनुष्य के मन को आने वाले आघात को सहने योग्य बना देता है। सन्त्रास की दूसरी विशेषता यह होती है कि वह मनुष्य के परिवेश को, कहीं से कुछ भी बदले बिना, इस प्रकार के रंगों में रंग देता है कि उसके पूर्वनिर्धरित सभी अर्थ बदल जाते हैं। पीड़ा का यह प्रथम बोध पदार्थों को पदार्थ नहीं रहने देता; बल्कि पीड़ा-बोधक के मानस के रंगों में इन्हें डुबो देता है। अयोध्या के पशु-पक्षी, भवन, मार्ग वस्तुतः बदल गये थे, ऐसी बात नहीं, पर भरत के लिए उनका चिरपरिचित परिवेश एक भिन्न अर्थ लेकर सामने आया :

श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगर बिसेषि भयावन लागा ॥
हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दह दिसि लागु दवारी॥

पीड़ा की अतिशयता की हालत में स्नायु आघात से झनझना उठते हैं। उस समय परिवेशगत पदार्थों को देखकर लगता है कि जगत् मृगमरीचिका में चल रहा है। एक अजीब प्रकार का ईथरिक कम्प पैदा हो जाता है। क्या तुलसी इसी बात को 'दावानल' के

'इमेज' से व्यक्त करना नहीं चाहते? सन्त्रास निरन्तर अपनी अबोध रहस्यमयता के आवरण में घना हो रहा है। सचेतन व्यक्ति निरन्तर यह जानना चाहता है कि वह जो भोग रहा है वह क्या है? 'वह क्या है' की छटपटाहट उसके पीड़ा-बोध को और भी तीव्र करती है। नगर में प्रवेश करते समय भरत इस रहस्य को तोड़ने के लिए कितने उत्सुक रहे होंगे, पर :

> पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गवहिं जोहारहिं जाहिं।
> भरत कुशल पूँछि न सकहिं, भय विषाद मन माहिं।।

भरत जानते हैं कि 'कुशल' नहीं 'अकुशल' की बात है, पर बिना जाने 'कुशल' को अकुशल मान लेने की अधीरता उनके चरित्र का लक्षण नहीं है, इसलिए वे 'पुरजनों के मौन' को भी अबूझ ढंग से ही सह जाते हैं।

सन्त्रास और निराशा की इस स्याही के बीच माता की आरती की लौ उनके चेहरे पर कौन-सा चित्र बना गयी होगी, इसे तुलसी ने नहीं बताया, पर सहृदय उस चेहरे की कल्पना भलीभाँति कर सकते हैं।

और तब वह क्षण आता है जहाँ सन्त्रास और संकट अपनी रहस्यमयता के आवरण को उद्घाटित करता है। यह क्षण पीड़ा की भयानकता को अपनी सही स्थिति उन्मीलित करके कम कर देता है। मनुष्य 'होनी' को अपने अस्तित्व अर्थात् 'होने' का अंग मानकर सन्तोष कर लेता है। भरत को बताया गया कि पिताश्री दशरथ की मृत्यु हो गयी है। घनीभूत पीड़ा अचानक एक प्रणाली में नियमित होती जाती है। भरत रो पड़ते हैं। यही पीड़ा का विरेचन है। उस समय भरत को अपना अस्तित्व बिलकुल अनावृत दिखाई पड़ता है। सिर पर से परम्परा की छाया हट गयी है; क्योंकि पिता नहीं रहे। भरत अपने को निराधार और निरवलम्ब अनुभव करते हैं; क्योंकि पिता मरते समय उन्हें राम के हाथों सौंप नहीं गये। वर्तमान और भविष्य के प्रति भरत की यह निरवलंबिता उनके सन्त्रास का सही अर्थ व्यक्त करती है। यहाँतक यह सन्त्रास अतीन्द्रिय दुःख का कारण होते हुए भी भरत को पूर्वनिर्मित सम्बन्धों से विच्छिन्न (एलिनियेट) नहीं करता। वे इस पीड़ा को परिवार और राम से अपने को जोड़कर भलीभाँति सह सकते थे। किन्तु सन्त्रास का कारण जानने की उनकी स्वाभाविक चेतना इससे सन्तुष्ट नहीं होती। वे पिता की मृत्यु का भी कारण पूछते हैं और जिस क्षण उन्हें पता चलता है, वे हतचेत मौन-विद्ध-से ताकते रह जाते हैं :

> भरतहिं बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौन।
> हेत अपनपउ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन।।

सचेत व्यक्ति संकट और सन्त्रास का सारा अर्थ जानना चाहता है क्योंकि यह बुद्धिशील होने का स्वाभाविक परिणाम है और जो जितना ही अधिक सचेत होता है सन्त्रास

की पीड़ा का उसे उतना ही अधिक भोग भोगना पड़ता है; यानी सचेत होने की यही नियति है। इसी क्षण भरत का सन्त्रास उन्हें सभी सम्बन्धों से काटकर अकेला कर देता है। दशरथ की मृत्यु का दुःख वे राम के सहारे भुला सकते थे, पर राम-वन-गमन के लिए अपने को उत्तरदायी जानकर वे अचानक सभी अवलम्बों और सहारों से अलग कट गये। भरत की पीड़ा यहाँ से 'आउटसाइडर' की पीड़ा बन जाती है, जिसे अपने दुःख में कहीं कोई कूल-किनारा नहीं दीखता। अपने रहस्यवादी मौन में जड़ित जगत् और अपने को पूर्णतः निरपराध समझते हुए भी विषम सन्त्रास के भोक्ता भरत के बीच एक अभेद्य दीवार खड़ी हो जाती है। यही जीवन की निरर्थकता और विसंगति है जो अधिकतम सचेत और पूर्णतः ईमानदार व्यक्ति को ही अपना ग्रास बनाती है।

किन्तु भरत आनुनिक युग के 'आउटसाइडर' से भिन्न हैं। आधुनिक युग का 'आउट-साइडर' उपर्युक्त स्थिति से छुटकारा नहीं पा सकता। उसके सिर से परम्परा की छाया तो हट ही जाती है, भविष्य भी उसके सामने औंधे शून्य से अधिक कुछ नहीं होता। पुराने मूल्य ध्वस्त हो चुके हैं, पर नये मूल्य कभी भी उसका सहारा नहीं बनते। तुलसी के भरत के लिए सभी रास्ते बन्द थे, पर उस कुहाच्छन्न रात्रि में भी उनके सामने एक दीपक टिमटिमा रहा था, जिसकी वदान्यता पर उन्हें विश्वास था। यहाँ आकर भरत का 'आउटसाइडर' पुनः 'इनसाइड' में प्रवेश करता है। अयोध्या में ही एक व्यक्ति ऐसा भी था जो संकट और सन्त्रास को अपने तरह से भोग रहा था। भरत उस मनःस्थिति में सीधे वहीं पहुँचे और उन्होंने माता कौशल्या को देखा। कौशल्या की दशा भरत के लिए अपने दुःख को पुनः मूल्यांकित करने का कारण बनी। समतुल्य या अपने से अधिक दुःखी व्यक्ति की पीड़ा सन्त्रास में पड़े व्यक्ति को अपने दुःख को समझने की शक्ति देती है। आधुनिक युग का चरित ऐसी स्थिति में कुछ और ही आचरण करता। या तो वह इस पूरे सन्त्रास को सन्त्रास ही नहीं मानता और कैकयी की बुद्धि में अपनी बुद्धि का विलय करके खुश हो लेता या फिर सन्त्रास मानता तो 'नान्यः पन्थाः' वाली मनःस्थिति में आत्महत्या का वरण करता, उसके लिए दूसरा पथ न होता। पर तुलसी के भरत की निष्ठा इतनी दुर्बल न थी। कौशल्या ने एक पवित्र मनीषा की तरह उन्हें कर्मपथ पर प्रेरित किया :

> बन रघुपति सुरपति नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू ॥
> परिजन प्रजा सचिव सब अम्बा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलम्बा ॥
> लखि विधि बाम काल कठिनाई। धीरज धरहु मात बलि जाई ॥

सन्त्रास के सचेत और सच्चे भोक्ता के रूप में भरत की पीड़ा की थाह पाना वाक़ई दुस्तर है। एक ओर गुरु वशिष्ट राज्य-स्वीकार करने के लिए पिता की आज्ञा से टीका ग्रहण करना वेदसम्मत बता रहे हैं, दूसरी ओर माता कौशल्या राज्य से विमुख होने को

'कदराई' समझती हैं, ऐसी स्थिति में भरत को अपनी 'सचेतना' ही कष्टकर लगने लगती हैं :

मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनऊँ सचेतू ।।

जो 'सचेतना' इस विषम संकट के रहस्य को भेदकर कटु से कटु सत्य को स्वीकार करने में पीछे न हटी वही 'सचेतना' इस प्रकार की बातें सुनकर, जो भीतर और बाहर दोनों से उनके प्रति सदिच्छा ओर प्रेम के साथ कही गयी थीं, घबरा उठी। कितनी विसंगत, कितनी अर्थहीन हो जाती हैं यह दुनिया। भरत का सन्त्रास सहसा ही एक नयी 'दीनता' से भर जाता है। यह दीनता उनके प्रति व्यक्त सहज सहानुभूति के कारण पैदा हुई। इसी 'दीनता और आत्मग्लानि' के भाव ने उनके चरित्र को आगे के चौदह वर्षों तक अटूट सन्त्रास में डाले रखा :

राम मातु सुठि सरल चित, मो पर प्रेम विसेखि।
कहइँ सुभाय सनेह बस, मोरि दीनता देखि ।।

भरत ने कभी अपने उत्तरदायित्व से पलायन नहीं किया, अपने को सन्त्रास से मुक्ति दिलाने की इच्छा से कभी कोई ऐसी बात नहीं कही जो राजधर्म, लोकधर्म या समाजधर्म के विपरीत हो। सन्त्रास में टूटते, निरन्तर विदीर्ण होते उस व्यक्ति की यह एक अनुपम चरित्रवत्ता है कि उन्होंने अपने दुःख को न्यून बनाने के लिए, मनचाही बात मनवाने के लिए हठ भी नहीं किया। बुद्धि से विचार करने पर, तर्क से सोचने पर गुरु या माता की कही हुई बातें ग़लत हैं ऐसा वे नहीं समझते, पर अपने मन के भीतर जो 'परितोष' नहीं हो रहा, उसके लिए भरत क्या करें ? 'जी का यह परितोष' भरत को आजीवन कभी नहीं मिला। उन्होंने अपनी सच्चाई और निष्ठा के कारण अपने इस अमूल्य धन को खो दिया। एकबार को उन्होंने विनयपूर्वक अपने मन को परितोष देने के लिए गुरु और माता की आज्ञा को न मानकर वन में जाकर राम से मिलने का निश्चय किया। जो भी हूँ जैसा भी हूँ राम का 'अपना' तो हूँ, इसलिए भरत को विश्वास है कि राम उन्हें त्याग नहीं सकते, पर वे ही भरत जब राम के सम्मुख आये तो यह जानते हुए भी कि उनके हठ को सबसे अधिक दुलरानेवाला सामने है; कुछ बोल न सके। राम ने कहा :

सो विचार सहि संकटु भारी। करहू प्रजा परिवार सुखारी ।।
बाँटी विपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई ।।

राम ने उस संकट को समझा और एक बड़ी अवधि तक भोगी जानेवाली कठिनाई को भी, फिर भरत के लिए रास्ता क्या रहा ? उन्होंने प्रजा, परिवार और समाज को सुखारी बनाने के लिए अपने को पूर्णतया संकट और सन्त्रास को सौंप दिया। आरम्भ में जो संकट आकस्मिक था, 'काण्टिन्जेन्सी' था, वही बाद में भरत के द्वारा आत्मस्वीकृत

स्वयं के प्रति स्वयं कृत सन्त्रास का रूप ले लेता है। इसी कारण बाद का यह सन्त्रास सन्त्रास न रहकर भरत के लिए साधना बन जाता है। आज के चित्त को इस मोड़ में आदर्शवादिता लग सकती है, पर तुलसी से मूल्यहीनता की आशा करना ही अन्याय है।

रावण के द्वारा जन-जीवन पर लादे गये सन्त्रास और संकट तथा भरत के द्वारा स्वतः स्वीकृत सन्त्रास और संकट के इन दो उदाहरणों को लेकर भली-भाँति समझा जा सकता है कि इस प्रकार की परिस्थितियाँ मानव-नियति की दृष्टि से क्या महत्त्व रखती हैं। पहले प्रकार का सन्त्रास अप्राकृतिक और मनुष्य निर्मित हैं। रावण के अत्याचार प्रकृति या नियति की देन नहीं है, उनका कारण और कर्त्ता दोनों ही मनुष्य हैं, पर उसको भोगते समय मनुष्य और देवता दोनों किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। अपने से भिन्न किसी अदृश्य शक्ति को गुहारने के अलावा कोई चारा नहीं रहता। दूसरा संकट बिलकुल घटना संयोग है, नियति-जन्य है, उसे रोकना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है; किन्तु उसके बीच एक व्यक्ति का भोग किस प्रकार उसे नया अर्थ दे देता है और मनुष्य उसे अन्त में अपने नियन्त्रण में कर लेता है, साधना बना लेता है। तुलसी ने पहले प्रकार के सन्त्रास को चित्रित करने का अभिनिवेश नहीं दिखाया। उस युग को साहित्य-परिपाटी में शायद उसका उतना आकर्षण नहीं था। शायद तुलसी को मनःस्थिति उस समस्या से टकराना चाहती नहीं थी। अधुनिक साहित्य में खास तौर से योरोपीय साहित्य में, पहले प्रकार का सन्त्रास साहित्यकार के लिए ज़्यादा सटीक चुनौती प्रतीत होता है। दो महा-युद्धों की छाया से आक्रान्त योरप पहले प्रकार के सन्त्रास को समझने और विश्लेषित करने की बाध्यता स्वीकार करता है। नज़ियों के आक्रमणों से सन्त्रस्त्र फ़ान्स में इसी कारण समूह सन्त्रास पर ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियाँ लिखी गयीं।

आज का भारतीय जीवन भी निरन्तर समूह सन्त्रास की ओर अग्रसर हो रहा है। व्यक्तिगत और समूहगत दोनों ही तरह के संकट और सन्त्रास को समझने की परिपक्व दृष्टि आज के भारतीय के लिए एक अपरिहार्य अनिवार्यता हो गयी है। हमारे प्राचीन साहित्य में इस समस्या पर कम विचार नहीं हुआ है, उसे नये सन्दर्भों में परीक्षित और विश्लेषित करने की आवश्यकता है। ● ●

आज की राजनीति और नई संस्कृति

[लोहिया का सांस्कृतिक मानस]

●

राजनीतिकों और कलाकारों के बीच अक्सर खिचाव रहता है। साहित्यकारों के बीच राजनीतिक कुर्सीपसन्द मूर्ख के रूप में अभिहित होता है तो राजनीतिकों के बीच साहित्यकार दुनिया के यथार्थ से अनभिज्ञ भावुक उल्लू के रूप में जाना जाता है। इसी कारण दोनों प्रकार के जीवों के बीच संवाद की संभावना अक्सर कम रहा करती है। पर कभी-कभी राजनीतिकों के बीच ऐसे एकाध लोग भी उभर ही आते हैं जो इन दोनों अनिवार्य क्षेत्रों के बीच स्वयं को सेतु बना लेते हैं। ऐसा करके एक ओर जहाँ राजनीति और साहित्य-कला आदि का प्रीतिकर समन्वय संभव होता है, वहीं वह सेतु इस विलक्षण समन्वय की गहमागहमी के कारण स्वत: आकर्षण का केन्द्र भी बन जाता है।

लोहिया आधुनिक भारत के सर्वाधिक रंगीन और जीवन्त राजनेता थे। उनका विद्रोही, चुहलमय, विवादास्पद, व्यक्तित्व राजनीति के क्षेत्र में सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत था। उनके चिन्तन के प्रति भी इधर अद्यतन श्रद्धा और आकर्षण का भाव जग रहा था। पर राजनेता और चिन्तक लोहिया का सारा व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है यदि उससे उनके सांस्कृतिक मानस का संयोग न किया जाय। सच तो यह कि ऊपर से कटुतिक्त, विद्रोही, अनमनीय, अतिवादी और किंचित् रूखा-सूखा, असमझौता-वादी लगने वाले उनके कठोर व्यक्तित्व का सारा रहस्य उस मानस में छिपा था जो अपने युग का सर्वाधिक बेहतरीन, उदार, भावुक, परिष्कृत और ''स्वप्नरसमय'' मानस रहा।

भारतीय जनता की विशेषता रही है कि उसका प्रिय राजनेता वही होता रहा है जो राजनीति और संस्कृति को परस्पर समन्वित ढंग से जिये और दोनों के युगपत् सम्मिलन से ऐसे जीवन का आदर्श उपस्थित करे जिसमें राजनीति का दंश संस्कृति के मधु में तिरोहित हो जाय। नेहरू और गांधी के व्यक्तित्व में इसी प्रकार का समन्वय था। गांधी ऐसे राजनेता थे जिनके व्यक्तित्व में राजनीति और भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का समन्वय था। नेहरू अपने व्यक्तित्व में राजनीति के साथ मानवतावादी संस्कृति को समोये थे। लोहिया के व्यक्तित्व में राजनीति के साथ आधुनिक संस्कृति का समावेश था। गांधी के जीवन के साथ सम्बद्ध संस्कृति परम्परा से परिभाषित और उनके जीवन से अनुमोदित थी। नेहरू की संस्कृति नये युग के आदर्शों से अनुप्राणित थी, वे एक स्वप्नदर्शी वैज्ञानिक दृष्टि के रूमानी व्यक्तिथे। लोहिया के सामने उपस्थित भारतीय संस्कृति उस चौराहे पर खड़ी थी जहाँ परम्परा अतीत के कुहरे से खो गई थी, और नये युग के महनीय आदर्श पिछले दो दो विश्वयुद्धों में इस कदर क्षत-विक्षत हो गये थे

कि उन्हें पहचान पाना भी मुश्किल था। इसलिए लोहिया के सामने संस्कृति एक बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न बनकर खड़ी थी। लोहिया चाहते तो अपने को मात्र राजनीति तक सीमित करके इस प्रश्नचिह्नात्मक संस्कृति से पिंड छुड़ा लेते। तब भी वे एक प्रबुद्ध और और विद्रोही राजनेता के रूप में पूर्ण सम्मान के हक़दार होते, परन्तु तब उनके व्यक्तित्व में वह रंगीनी और स्वप्न रसमयता न रहती जो नव लेखन के रचनाकारों को उनकी ओर आकृष्ट करती है। नेहरू छायावादी लेखकों के प्रिय राजनेता थे तो लोहिया नव लेखन के। इस अन्तर को समझने के लिए लोहिया के सांस्कृतिक मानस का अध्ययन बहुत जरूरी है।

लोहिया ने संस्कृति के नाम पर भारत में जिस वातावरण को देखा और भोगा, उसे उन्होंने एक शब्द में नाम दिया 'कीचड़'। यह 'कीचड़' हजारों वर्षों की सड़ी हुई उस परम्परा ने पैदा किया है जिसके सभी जीवन्त तत्त्व या तो नष्ट हो गये हैं या भुला दिये गये हैं। आज की स्थिति नितान्त दारुण और असह्य है। सारा देश जहालत गरीबी, स्वार्थपरता में गर्क़ है। लोहिया के शब्दों में "मूल्यों का सारा निकष ही गड़-बड़ा दिया गया है। ऊँची जातियाँ सुसंस्कृत पर कपटी हैं, छोटी जातियाँ थमी हुई और बेजान हैं। देश में जिसे विद्वत्ता के नाम से पुकारा जाता है वह ज्ञान के सार की अपेक्षा सिर्फ बोली और व्याकरण की एक शैली है। शारीरिक काम करना भीख माँगने से ज्यादा लज्जास्पद समझा जाता है। साफ सीधी बात और बहादुरी के गुणों की बजाय चालबाजी, सामने 'जो हुकुम' और पीठ पीछे अवहेलना राज्य के सफल व्यक्तियों की निशानी हो जाती है"। (जाति प्रथा, पृ० ८५)। धर्म, राजनीति, व्यापार और प्रचार सभी मिलकर उस कीचड़ को सजा कर रखने की साजिश कर रहे हैं, जिसे संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है (जाति प्रथा पृ० ८) लोहिया का मुख्य उद्देश्य इस 'साजिश' का पर्दाफाश करना था। लोहिया न तो धर्म के विरोधी थे, न परम्परा के। वे सिर्फ इन तत्त्वों के नाम पर 'कीचड़' की अभ्यर्थना करने को तैयार नहीं थे। उन्हें भारतीय परम्परा से बेहद प्रेम था। वे हिन्दुस्तान के 'पुराने पौरुष' के प्रशंसक थे, इसलिए वे पूर्ण आधुनिकता के आग्रही थे, क्योंकि वे जानते थे कि बिना आधुनिक हुए 'पुराना पौरुष' लौटाया नहीं जा सकता। "हिन्दुस्तान को अपना पुराना पौरुष प्राप्त करना होगा, यानी दूसरे शब्दों में यह कहना हुआ कि उसे आधुनिक बनना होगा।" (जाति प्रथा पृ० ६)

हिन्दुस्तान को इस सांस्कृतिक जकड़बन्दी से मुक्ति दिलाने के उनके अभियान के दो मोर्चे थे शूद्र और नारी। इसी को वे प्रतीक रूप से सीता शम्बुक-धुरी भी कहते हैं। शूद्र हमारी सामाजिक स्थिति का बैरोमीटर है और नारी सम्पूर्ण अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का केन्द्र। शूद्र की मुक्ति जाति-प्रथा के ध्वंस में ही निहित है। लोहिया ने जाति प्रथा पर जैसा प्रहार किया, जैसे बौद्धिक चिन्तन की लहर जगायी वह भारत के इतिहास में

अभूतपूर्व घटना है। यों तो प्रत्येक युग के सांस्कृतिक नेता इस अश्लील प्रथा के विरुद्ध आवाज बुलन्द करते रहे हैं, पर लोहिया ने एक संगठित बौद्धिक मोर्चे का निर्माण किया। उनकी पुस्तक जातिप्रथा उनके इन कार्यों का थोड़ा बहुत संकेत देती है। इस अभियान में उन्हें क्या कुछ सहना और भोगना पड़ा, यह उन्हीं के शब्दों में संकेतित है "मुझे पूरा यक़ीन है कि मैंने जो कुछ लिखा हैं उसका और भी भयंकर बदला चुकाया जायेगा, चाहे वह लाज़िमी तौर पर प्रत्यक्ष और तत्कालीन भले ही न हो पर जब जवान मर्द और औरतें अपनी ईमानदारी के लिए बदनामी झेलते हैं तो उन्हें याद रखना चाहिए कि पानी फिर से निर्बन्ध बह सके इसलिए कीचड़ साफ़ करने की उन्हें कीमत चुकानी पड़ती है।" (जातिप्रथा, पृ० ८) इस पूर्ण आश्वस्ति के साथ लोहिया का निष्कर्ष सामने आता है—"भारत की आत्मा के इस पतन के लिए मुझे यकीन है "जाति और औरत" के दोनों कटघरे मुख्यत: जिम्मेदार हैं। इन कटघरों में इतनी शक्ति है कि साहसिकता और आनन्द की समूची क्षमता को खत्म कर देते हैं।" (वही, पृष्ठ १) उनकी यह पुस्तक और अनेक लेख, भाषण इन दो मोर्चों को सँभालने-सँवारने और चौकस रखने के लिए लिखे गए। इन दोनों ही समस्याओं पर उन्होंने अनेक दृष्टिकोणों से सोचा, विचार किया पर इस दिशा में लिखे उनके दो निबंध 'वशिष्ट और वाल्मीकि' तथा 'द्रोपदी और सावित्री" अपने ढंग के अनूठे निबंध है। पहला लेख उन्होंने दिसम्बर ५७ को जिला जेल लखनऊ उत्तर से प्रदेश के जेल मंत्री के नाम भेजा—"मातृहन्ता परशुराम से राष्ट्रहन्ता नेहरू तक कट्टर न्याय की वशिष्ठी परम्परा है। विश्वामित्र से विश्वेश्वरैया तक उदारता की बाल्मीकि परम्परा है।" यह वशिष्ठी परम्परा गिरोह-स्वार्थ और कट्टरता पर कायम है, यह स्त्री और शूद्र के शोषण और शिरच्छेदन पर आधारित है। "परम्परा, निजी स्वार्थ और गिरोह स्वार्थ से लथपथ सना मन वशिष्ठ ब्राह्मण का होता है वह परम्परा के लिए मरना-मारना जानता है। गिरोह स्वार्थ के लिए सब कुछ तज सकता है। लोहिया भारतीय राजनीति की सड़ांघ और सांस्कृतिक पतन की मुर्दनी से तिलमिला कर कहते हैं—"मेरा निश्चित मत है कि अब वही दल देश को सबल, सुखी और सच्चा बना सकेगा जिसमें औरत, शूद्र, हरिजन और मुसलमान का आधिक्य हो। सीता और शूद्रक की धुरी को थोड़ा और बढ़ाना होगा।" मै मानता हूँ कि इस निबन्ध में आक्रोश का स्वर ज्यादा तीव्र है, इस कारण कहीं कहीं भावुक आस्फालन भी दिखाई पड़ता है, पर इससे लोहिया के मन के उस मन्थन और पीड़ा का पूरा बोध तो हो ही जाता है जो इन दो समस्याओं के साथ पूरी तरह तादात्म्य स्थापित कर चुका था। उनके मन में देश की तीन चौथाई जन संख्या के प्रति, जो शूद्र और नारी की सम्मिलित संख्या है, कितनी अगाध ममता थी, कितनी हमदर्दी और सहानुभूति थी—"जब तक शूद्रों, हरिजनों और औरतों की सोयी हुई आत्मा का जगना देखकर उसी तरह खुशी न होगी जिस तरह किसान को बीज का अंकुर फूटते हुए देखकर होती है और उसी तरह जतन तथा मेहनत से उसे

फूलने-फलने और बढ़ाने की कोशिश न होगी तब कत हिन्दुस्तान में कोई भी वाद, किसी तरह की नयी जान, लायी न जा सकेगी।" (जाति प्रथा पृ० ११)

औरत की समस्या पर डा० लोहिया बहुत खुले हुए और साफ ढंग से सोचने वाले व्यक्ति थे। "हिन्दुस्तान आज विकृत हो गया है। यौन पवित्रता की लम्बी चौड़ी बातों के बावजूद यौन के सम्बन्ध में लोगों के विचार सड़े हुए हैं।" डा० लोहिया यौन सम्बन्धों को मिथ्या सामाजिक रूढ़ियों के बन्धनों में जकड़ रखने के सख्त विरोधी थे। "यौन आचरण में सिर्फ दो ही अक्षम्य अपराध हैं : बलात्कार और झूठ बोलना या वादों को तोड़ना।"

विषय बहुत नाज़ुक है, बहुत पेचीदा और उलझा हुआ। इसलिए इस पर विचार करने की योग्यता सिर्फ उसी व्यक्ति में मानी जा सकती है जो इनकी सारी पेचीदगियों को समझते हुए, रोग का निदान और उपचार दोनों कर सके। डा० लोहिया ने इस समस्या पर राजनेता के रूप में नहीं, युवक वर्ग के हमदम दोस्त की तरह, नई पीढ़ी के संरक्षक और मार्गदर्शक की तरह बहुत ही सुसंस्कृत, किन्तु खुले ढंग से विचार किया। वे जानते थे कि समस्या में इतना उलझाव इसलिए है कि भारतीय नारी परम्परा के रेशमी बन्धन में इस तरह जकड़ी है कि उसे बँधे रहने और निर्बंध होने, दोनों ही अवस्थाओं में तकलीफ होती है और जब तक नारी अपना आदर्श, उद्देश्य और तरीक़ा खुद न निश्चित करे, समस्या का समाधान अधूरा ही रहेगा। इसलिए उन्होंने एक बहुत ही दूरगामी अर्थगर्भित प्रश्न उछाला—"द्रौपदी या सावित्री ?" भारतीय नारी का आदर्श क्या होना चाहिए ? सती सावित्री महान् थी इसमें सन्देह नहीं, किन्तु आधुनिक भारत को, जिसकी सामाजिक सांस्कृतिक स्थितियाँ बहुत उलझी हैं, नारी अति शोषण से निर्जीव और बेजान हो चुकी है, वह पुरुष के पैरों के नीचे कुचल रही है, परम्परा और सामाजिक बन्धनों ने उसका मुख सिल दिया है, परिणामतः हमारी जनसंख्या का आधा भाग निष्क्रिय और निष्प्राण हो चुका है, किस आदर्श को अपनाना चाहिए, पति परायण सती सावित्री या समझदार, बहादुर, हिम्मतवाली, हाजिरजबाब द्रौपदी। स्पष्ट ही लोहिया का ज़ोर द्रौपदी पर है, उस द्रौपदी पर जो अत्याचारियों को कभी माफ न कर सकी। जो सत्य बात कहने में भीष्म के सामने भी संकुचित नहीं हुई, जो निराश पतियों को निरन्तर अपना हक़ पाने के लिए संघर्ष के लिए प्रेरित करती रही। जो जीवन के किसी भी क्षेत्र में पुरुषों से पीछे नहीं रही। लोहिया को द्रौपदी एक और कारण से बहुत आकृष्ट करती है, वह है उसका कृष्ण के साथ उसका सम्बन्ध। यह सम्बन्ध है 'सखा-सखी' का "जितने भी सम्बन्ध हैं, सबका इसमें समावेश है। एक मानी में यह कहना सही होगा, माँ बेटे, बाप-बेटे, भाई-बहन, प्रेमी-प्रेमिका सब सम्बन्धों को अगर किसी तरह से जोड़ दो, और उसका कोई निचोड़ निकालो तो संभवतः वह सखा-सखी वाला होगा। सखा-सखी का सम्बन्ध बहुत ही मुश्किल है, लेकिन इस क़िस्से को

पढ़कर लगता है कि बहुत अच्छा है। वह दिल को, दुनिया को, समाज को बहुत ही एक बनाने वाला सम्बन्ध है।" (जाति प्रथा पृ० १६३) कृष्ण और द्रौपदी के सम्बन्ध को वरीयता देने वाले लोहिया को कुछ कूढ़ मगज़ दकियानूस लोग तरह-तरह की उपाधियाँ भी देते हैं, परन्तु आधुनिक बुद्धि से सोचनेवाले किसी भी व्यक्ति को यह सम्बन्ध सहज स्वीकार्य होगा; क्योंकि आज के जटिल अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों वाले समाज में इससे बड़ा और कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता जो नारी और पुरुष के बीच समता, बराबरी और सामंजस्य को स्थापित कर सके। लोहिया पुरुष और नारी के बीच एक ऐसे सम्बन्ध की कल्पना करते थे जिसे हम 'मुक्त नियंत्रण' कह सकते हैं। इसके लिए उन्होंने एक मजेदार शब्द ढूँढ़ा 'चुलबुला कब्ज़ा'। यद्यपि यह शब्द उनका है; पर इसकी प्रेरणा उन्हें सिमोन द वोउवा के 'सेकण्ड सेक्स' से मिली। लोहिया यह मानते हैं कि—"चुलबुला कब्ज़ा असंभव है। निर्जीव कब्ज़ा बेमज़ा है। नर और नारी का स्नेहमय सम्बन्ध बराबरी की नींव पर हो सकता है। ऐसा सम्बन्ध किसी भी समाज अब तक नहीं जान पाया।" (रामायण और रामायण मेला, कुछ विचार ४२) फिर भी इस आधुनिक अनिवार्यता के लिए प्रयत्न तो करना ही होगा। लोहिया स्त्रियों के प्रति की गई अभद्रता और अत्याचार के सख्त विरोधी थे। वे सखा-सखी सम्बन्ध के हिमायती थे; किन्तु वे पुरुष के भीतर उस सामर्थ्य को भी आवश्यक मानते थे, जो हमेशा नारी की प्रतिष्ठा की रक्षा कर सके। "मैं समझता हूँ कि नारी अगर कहीं नर के बराबर हुई है, तो सिर्फ ब्रज में और कान्हा के पास। शायद इसीलिए आज भी हिन्दुस्तान की औरतें वृन्दावन में जमुना के किनारे एक पेड़ में रुमाल जितनी चूनड़ी बाँधने का अभिनय करती हैं। कौन औरत नहीं चाहेगी कन्हैया से अपनी चुनड़ी हरवाना, क्योंकि कौन औरत नहीं जानती कि दुष्ट जनों के द्वारा चीर-हरण के समय कृष्ण ही उनकी चुनड़ी अनन्त करेगा" (कृष्ण, पृ० १६)। इस सम्बन्ध की महत्ता, और उसका स्वारस्य किसी भी संस्कृति को गत्वर और जीवन्त बनाए रखने के लिए अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति की सड़ाँध और निष्प्राणता का बहुत बड़ा कारण है उसमें नारी शक्ति का असहयोग जो सामाजिक बन्धनों और अपनी व्यक्तिगत विवशता के कारण सांस्कृतिक विकास की अपनी भूमिका से अलग रह जाती है।

लोहिया मानते हैं कि हमारी संस्कृति द्विश्रृंखलात्मक है। एक श्रृंखला है इतिहास की, अभिजात विचारधारा की और दूसरी श्रृंखला है लोक जीवन की, लोकतात्विक धारणाओं की। "इतिहास की घटनाओं की एक लम्बी जंजीर होती है और उसको लेकर कोई सभ्यता और संस्कृति बना करती है। उनका दिमाग़ पर असर रहता है। लेकिन इससे अलग एक और जंजीर होती है, वह किस्से कहानियाँ वाली, हितोपदेश और पंचतंत्र वाली।" (मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व पृ० ३) इसी बात को एक दूसरे निबंध में और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—"इस समय संस्कृति के नाम

पर जो चीज़ चलती है वास्तव से वह संस्कृति नहीं है। भाषा, भोजन, भवन, और भूषा में भारत में २००० सालों से सामन्ती और लोकसंस्कृति रही है। सामन्ती और लोक का यह अन्तर अपनी संस्कृति में इतना गहरा है कि साँप के विष की तरह फैल रहा है। अपना देश अन्य देशों के मुकाबले में इतना कमजोर क्यों है? इसका कारण है कि फर्क पैदा हो गया है।" (एक संस्कृति २६ मई १९५८, ब्रह्मपुर का भाषण) लोक संस्कृति की हिमायत के पीछे शूद्र और नारी वाली समस्या को निरन्तर ध्यान में रखा गया है; क्योंकि आज की भारतीय लोकसंस्कृति तथा कथित निचली कही जाने वाली जातियाँ और औरतों के द्वारा ही पालित-पोषित हो रही है। ऊपर के वर्ग के लोग सामन्ती संस्कृति के भ्रष्ट रूप को विदेशी संस्कृति के फ़ैशन मूलक अनुकरणात्मक तत्त्वों से मिला जुलाकर खाल की तरह ओढ़े हुए हैं। यह निर्जीव संस्कृति नाना प्रकार के माध्यमों से बेहतर संस्कृति के रूप में प्रचारित-प्रसारित होती रही है और पढ़ा-लिखा वर्ग इसी के इर्द-गिर्द अपने घोंसले बनाता है। लोहिया को इस संस्कृति के प्रति द्वेष नहीं है, पर वे उसके आक्रमण से लोक संस्कृति को पिसती देखना नहीं चाहते। वे दोनों के जीवन्त तत्त्वों को मिला कर एक स्वस्थ और निरन्तर विकसमान आधुनिक संस्कृति के निर्माण का स्वप्न देखते थे।

लोक संस्कृति के प्रश्न पर बहुत से आधुनिक विद्वान् अतिरिक्त उत्साह व्यक्त करना हानिकर मानते हैं। लोक संस्कृति की, आवश्यकता से अधिक हिमायत उन तत्वों को बढ़ावा देती है जो समाज को पुरातनवादिता, अंधविश्वास और प्राचीन के चित्र-विचित्र अवशेषों के प्रति मोह-विद्ध बनाते हैं। किन्तु लोहिया जिस लोक संस्कृति की बात करते हैं वह लोक तत्वों के मोह और आसक्ति पर आधारित नहीं है। उनका ज़ोर अतीत की पुराकथाओं और लोक संस्कृति के तत्त्वों के सही विश्लेषण पर था, ताकि हम भारतीय मानस को ठीक ठीक समझ सकें। "किसी भी समय सारी दुनिया अपने अतीत का ही फल होती है। हिन्दुस्तान तो मुख्य रूप से अपने अतीत का ही फल है। किसी अन्य देश का वर्तमान जीवन अपने अतीत के सिद्धांतों, स्मृतियों और पुरा-कथाओं से उतना ओत-प्रोत नहीं है जितना हिन्दुस्तान का। समकालीन बातों से ज्यादा, लोग अतीत की इन बातों को लेकर हँसते, रोते और झगड़ते हैं, फिर भी कोई सही अध्ययन नहीं होता।" [खोज, वर्णमाला, विषमता और एकता, पृ० ६०]। किन्तु इसी के साथ-साथ वे निरन्तर भविष्योन्मुखी रहने की चेतावनी भी देते हैं। "दक्षिण बिहार की तरफ देखो, उत्तर बिहार की तरफ क्या देख रहे हो। पाटलिपुत्र और नालन्दा—वह जो होना था हो गया। इन्हें कभी फुरसत के मौके पर याद कर लिया करो। इति-हास के बोझ को हलका करो, भूगोल को ज्यादा देखो।" (उत्तर प्रदेश और बिहार के दौरे कुछ अनुभव, पृ० २९)

लोहिया के मन में आदिम जातियों, भूले हुए कबीलों और आज की शूद्र कही जाने

वाली अनेक जातियों के पुराने लोक सांस्कृतिक-इतिहास के प्रति बड़ी जिज्ञासा थी। इसी से प्रेरित होकर कभी वे शवरी, मेहर या मोहर, बघेरों, कड़प्पा आदि शब्दों का इतिहास ढूँढ़ते हैं, कभी चित्तौड़ चित्तूर, मथुरा-मदुरा, देहली-कड़प्पा के बीच गोटी विठाते हैं। क्योंकि उनका विश्वास था कि "हिन्दुस्तान का मामला इतना एक है कि मैं तो कई दफा दंग हो जाता हूँ कि यह क्या चीज़ है। जैसे कि कोई आदमी सोया हुआ हो, सपना देखे रहा हो, स्थल बदल रहे हों, जगहें बदल रही हों और चीजें वही की वही हो रही हों।" [कृष्णा और गोदावरी के इलाके में, पृ० १२] इसमें शक नहीं कि ऐसे स्थलों पर अनेक बार लोहिया का प्रयत्न हास्यास्पद जैसा लगता है, खास तौर से जब वे भारतीय वर्णमालाओं के बीच एकता और समता का निरूपण करते हुए अजोबो ग़रीब तर्क देते है, पर इन सारी बातों के पीछे भारतीय संस्कृति की एकता और लोकात्मक गरिमा के प्रति उस आदमी को अनन्य जिज्ञासा और श्रद्धा का पता तो चलता ही है।

यह सच है कि डा० लोहिया ने संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर बहुत सुगठित और विस्तृत विचार नहीं किया है। राजनीति को पूर्णतः समर्पित ऐसे व्यक्तियों को इन सब चीजों के लिए अवकाश भी कहाँ होता है ? पर उन्होंने अपने अनेक भाषणों में यत्र-तत्र ऐसे बहुत से विचार व्यक्त किये हैं जो सांस्कृतिक मानस का संकेत देते हैं। मै उनके यत्र-तत्र बिखरे विचारों को एक क्रम और भूमिका देने का प्रयत्न करूंगा।

प्राचीन भारतीय प्रतीक पुरुषों में लोहिया को कृष्ण सबसे अधिक आकृष्ट करते हैं। क्योंकि कृष्ण के व्यक्तित्व में उन्हें अपनी मन की उन्मुक्तता को एक आधार जैसा मिल जाता है। कृष्ण, राम या शिव या कोई दूसरा चरित्र उनके सामने सिर्फ इतिहास का पात्र बनकर नहीं, किसी न किसी विचारधारा का प्रतीक बनकर आता है "आखिर राम और कृष्ण हैं क्या ? आदमी के दिमाग़ के सगुण विचार ही तो, जो उसे कुछ चौड़ा दिल बनाते हैं।" (उत्तर प्रदेश और बिहार के दौर के कुछ अनुभव, पृ० २)

लोहिया को कृष्ण के भीतर बहुत सी चीजें दीखती हैं जैसे उनका प्रेम। यानी "कृष्ण तत्व महान् प्रेम का नाम है जो मन को प्रदत्त सीमाओं से उलांघता-उलांघता सबसे मिला देता है, किसी को अलग नहीं रखता।" (कृष्ण, पृ० २) बास लेनेवाले देवताओं से खाने वाले देवताओं तक की यात्रा ही कृष्ण लीला है (३) द्वापर का कृष्ण एक ऐसा देव है, जो निरन्तर मनुष्य बनने के लिए प्रयत्न करता रहा (४) जरासंध भौतिक वादी एकरूप एकत्व का इक्छुक था। कृष्ण आदर्शवादी बहुरूप एकत्व का निर्माता था।" लोहिया को आधुनिक भारत में आदर्शवाद और भौतिकवाद के बहुरूप एकत्व की आवश्यकता महसूस हुई थी, "पर अभी तक तो कृष्ण का प्रयास ही सर्वाधिक मननीय मालूम होता है। (पृ० ३) ये सारी बातें मिलजुल कर कृष्ण को एक ऐसे प्रतीक पुरुष की भूमिका में रखती हैं कि सहज ही वे लोहिया के आकर्षण केन्द्र हो जावें

हैं, किन्तु कृष्ण की जो खूबी लोहिया को बहुत भाती है वह है उनकी 'रसमय कर्तव्य की प्रवृत्ति।' आज का हमारा जीवन सड़ इसलिए रहा है कि कर्तव्य और रस अलग-अलग हो गये हैं। कर्तव्य नीरस भार हो गया है और रस निराधार बहाव वृत्ति। लोहिया इन दोनों के समन्वय के कायल थे। "क्या इस भूमि पर कभी रसमय कर्तव्य का उदय होगा ?" यही उनकी पुकार है। वे शोध की बात करेंगे तो रसमयता याद आयेगी, "दिमाग और शरीर की रसमयता से, ज्ञान के नए क्षेत्रों को उपयोग और सामान्य स्वास्थ्य में सुधार से राष्ट्र को लाभ पहुँचता है।" (भारतीय विश्वविद्यालयों में खोज कार्य, पृ० १) वे राजनीति की बात करेंगे तो, आर्थिक समस्याओं पर बात करेंगे तो सर्वत्र रसमय कर्तव्य का आग्रह सुनायी पड़ेगा। उनकी यह रसमयता विविध आयामी रसमयता है। शोध में लोक संस्कृति के पुरा कथाओं की नई व्याख्या की रस-मयता, राजनीति में व्यंग्य विनोद और चुहलबाजी की रसमयता, यात्रा की रसमयता, पुरातत्व और प्राचीन भग्नावशेषों को देखने की रसमयता; यानी उनकी बड़ी ही सुरुचि-पूर्ण उदारहृदयवाली स्वास्थ्य वर्धक रसमयता थी। कभी-कभी तो उनकी रसमयता पूर्ण प्रवृत्ति इतनी हृदयग्राही और सौन्दर्यात्मक हो जाती है कि आश्चर्य और सुख दोनों का अभूतपूर्व संयोग हो जाता है। उन्होंने एक बार चित्रकूट में रामायण मेले के अनुष्ठान की योजना बनायी। चित्रकूट में ही क्यों ? बनवासी राम ने चित्रकूट में अपनी प्रिया का शृंगार किया था। "एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषण राम बनाये।।" उसी शिला पर भरत मिलाप भी हुआ 'मेरा अरमान है कि उसी फटिक शिला पर कोई अद्भुत् रससंचार का आयोजन हो, जहाँ भरत मिलाप हुआ था। ऐसा प्राकृतिक रंगमंच मैंने दूसरा नहीं देखा।" (रामायण मेला पृ० ५०) इस प्रसंग से लोहिया के "रसमय कर्तव्य" की बड़ी सटीक व्याख्या हो जाती है। रावण बध के लिए निरंतर संघर्षरत राम, बनवासिनी प्रिया और भरत का भ्रातृत्व-कैसा समन्वय है, एक शिला पर।

संस्कृति की भी अपनी धारा होती है, पर क्या प्रत्येक धारा की भी अपनी कोई संस्कृति होती है ? लोहिया कहते हैं कि हर संस्कृति-समूह की, क्षेत्र की अपनी एक नदी होती है। जहाँ राम, कृष्ण, शिव आदि पुरातात्विक प्रतीक हैं, वहीं नदी प्राकृतिक और भौगोलिक प्रतीक है। "हर एक कौम की कोई न कोई अपनी एक नदी है। इसमें शक नहीं कि सभी हिन्दुस्तानियों की अपनी नदी गंगा है''''इस हिसाब से मैंने पूछा कि तुम तेलगू लोगों के मन में कौन सी नदी सबसे ज्यादा हिलोरें पैदा करती है, सभी चीजों में राजनीति में, इतिहास, में धर्म में, लड़के-लड़की के सम्बन्ध में, क्योंकि आप यह न समझ लेना कि नदियाँ उनसे कोई ताल्लुक नहीं रखती"। (कृष्ण और गोदावरी के इलाके में, पृ० १०) लोहिया का यह नदी-प्रेम संस्कृति के एक बहुत बड़े रहस्य को खोलता है। नदी के प्रवाह, विस्तार-सौंदर्य का प्रभाव तटवासी प्रान्तों की संस्कृति को पूर्णतः प्रभावित करता है, उनके मन और स्वभाव का निर्माण करता है। भारतीय

संस्कृति मूलतया नदी संस्कृति ही रही है। नदियों के नाम, रूप, पूजन, आदि की परम्पराएँ जाने संस्कृति के कितने तत्वों को अपने में समेटे हुए हैं। लोहिया की बात पढ़ कर वह प्राचीन आर्य पुरुष याद आ जाता है जो किसी भी प्रकार के पूजन के लिए प्रस्तुत जल को पवित्र बनाने के लिए इस ऋचा के द्वारा नदियों की प्रार्थनाएँ करता था—"इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या····" [ऋक् ०१०।७५।५]

और आज हमारी नदियाँ (संस्कृति) कीचड़ से पट गई हैं। लोहिया नारा देते हैं—"नदियाँ साफ करो।" जिस देश की अधिकांश सभ्यता नदियों के किनारे उपजी-पनपी जिसके अधिकांश बड़े नगर नदियों के किनारे अवस्थित हैं, "एक दो करोड़ के बीच, रोजाना किसी न किसी नदी में नहाते हैं, पचास साठ लाख पानी पीते हैं, जिनके मन और क्रीड़ा में नदियों के सम्बन्ध हैं," (नदिया साफ करो) उन्हीं के देश में नदियाँ मैले से पट रही हैं। यह नारा देकर लोहिया ने नदी और तीर्थों की सफाई की ओर ध्यान आकृष्ट कराया। जाहिर है कि इन बातों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमारे स्वास्थ्य से है, किन्तु क्या ये आन्दोलन हमारी संस्कृति से सम्बद्ध नहीं हैं ? लोहिया धर्म कर्म को पंडों के हाथ में से निकाल कर जनता के मन के स्वास्थ्य के साथ जोड़ देना चाहते थे।

लोहिया का सांस्कृतिक मानस बहुत व्यापक और उदार था। उन्होंने निरन्तर चौड़ा दिल और उदार मानस की बात की। लोहिया यह मानते थे कि हमारे देश के प्राचीन महापुरुषों के किस्से, चाहे वे मर्यादित राम के हों, उन्मुक्त कृष्ण के हों या असीमित शिव के, राष्ट्र की आत्मा को विराट् और व्यापक बनाते हैं। ये हमारे देश के मानस की हँसी और सपने के साक्षी हैं। "हँसी और सपनों के बिना कोई देश महान् नहीं होता। हँसी और सपने, इनसे और कोई चीज बड़ी दुनिया में हुआ नहीं करती। जब कोई राष्ट्र सपने देखता है तो वह अपने आदर्शों में रंग भर भर कर क़िस्से बना लिया करता है।" (मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व पृ० ३) ऐसा था लोहिया का स्वप्न-हास-भरा मानस जो प्रत्येक व्यक्ति से समझदारी और उदारता की अपेक्षा करता था। उदारता और समझदारी सिर्फ इसलिए नहीं कि हमें निरन्तर किसी न किसी से संघर्ष करना है, बल्कि, आत्म निर्माण की दृष्टि से भी, ताकि हम एक बेहतर सांस्कृतिक मनुष्य बन सकें। उन्होंने मामूली हिन्दुस्तानी व्यक्ति के भीतर की उच्चता और समझदारी की ओर बराबर ध्यान आकृष्ट कराया। उनके भाषणों और लेखों में अनेक प्रसंग और उदाहरण मिलेंगे। इस दृष्टि से 'कृष्णा और गोदावरी के इलाके में' शीर्षक भाषण में उल्लिखित एक प्रसंग की ओर आप का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। एक माँ और बेटी बहुत प्रसन्न मन किसी मंदिर में दर्शन को जा रही थीं कि सहसा लड़की के हाथ से पूजा का नारियल गिरा और टूट गया। माँ हँसी, लड़की भी हँसी। "कितना गंभीर शास्त्र उनके दिमाग में पड़ा हुआ होगा।····हमारे सभी लोग उस माँ की तरह ही हो जाँय कि अगर नारियल गिर गया तो कोई बात नहीं। पानी जहाँ चढ़ना था चढ़ ही

गया। उठा लो उसको और हँसते हँसते फिर अपनी परिक्रमा करने लग जाओ" । (पृ० (१४-१५) संस्कृति को समझने वाला व्यक्ति मानव मन की इन भावनाओं को देखता है, उनसे अपनी शक्ति और प्रेरणा पाता है। वह संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने के लिए विदेशी विशेषज्ञों का दल नहीं बुलाता और न तो फैशन के रूप में उधार लेकर ओढ़ी हुई अनफिट चीज़ की प्रशंसा ही करता है। लोहिया भारतीय संस्कृति के प्राणतत्व को पहचानते थे और उसे ही वे जीवित और विकसित बनाने के लिए सतत् प्रयत्न करते रहे। उन्हें विदेशी नक़ल से सख्त नफ़रत थी। "राजनीतिक व्यक्ति चाहे गद्दी पर हों, चाहे बाहर अपने दिमाग़ से नक़ली योरोपीय हो गये हैं।" [नदियाँ साफ करो] सिर्फ़ राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, संस्कृति के सभी क्षेत्रों में उसी कदर की नक़लची मनोवृत्तियाँ छायी हुई हैं। इन नक़ली प्रेरणा स्रोतों से भारतीय संस्कृति को कुछ मिलने-जुलने वाला नहीं। सिर्फ मिथ्या इज्ज़त की कामना हमलोगों को आकाशबेलि की तरह जनता और उसकी लोकसंस्कृति से कटकर जीने लिए विवश कर रही है। लोहिया ने इस प्रवृत्ति पर भी करारा व्यंग किया। उनके ग्रंथ 'जातिप्रथा' में एक स्थान पर एक मजेदार प्रसंग है। एक बार जून-जुलाई में कुछ हरिजन युवक ऊनी कोट-पतलून पहनकर आए। लोहिया ने आश्चर्य से पूछा—"तुम लोगों को यह क्या हो गया है ? क्यों तुम इस तरह के कपड़े पहनते हो गरमी के दिनों में ?"—उन्होंने जबाब दिया—"अगर कहीं हम धोती-कुरता पहनने लगे तो हमारी इज्जत कौन करेगा ?" [जाति प्रथा, पृष्ठ १२१] कोट पतलून तो खैर प्रतीक है। सवाल हरिजनों का भी नहीं है। सवाल है मनोवृत्ति का। आजकल हमारे देश में यह "सुपठ हरिजन मनोवृत्ति" बड़ी तेज़ी से चालू है। शायद इसी मनोवृत्ति का तकाज़ा है, लोग खासतौर से आधुनिक बुद्धि-जीवी कहे जाने वाले लोग लोहिया का साहित्य कम पढ़ते हैं। शायद उन्हें भय है कि कहीं सार्त्र, कामू, काफ्का की जगह लोहिया पढ़ने लगें तो उनकी इज्ज़त कौन करेगा ?

इस संक्षिप्त विश्लेषण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि जिस लोहिया को बुजुर्ग और परम्परावादी लोग झगड़ालू, लोगों की पगड़ी उछालने वाला क्रुद्ध राजनेता (एंग्री पोलिटिशिएन) मानते थे, वे लोहिया संस्कृति के मामले में, जो किसी भी देश के इंसानों को सुसंस्कृत और शरीफ बनाने वाली प्रक्रिया का नाम है, कितने जागरूक थे। सिर्फ जागरूक नहीं, निरंतर अपने व्यक्तित्व को संस्कृति की आँच में हँसते हुए झोंक देनेवाले वे एक ऐसे हिम्मती, प्रयोगशील और समझदार व्यक्ति थे कि हजारों भारतीय किसानों मजदूरों और विद्यार्थियों के लिए उनका जीवन ही नई संस्कृति का प्रतीक हो गया था।

असल में आज के नये साहित्यकार के लिए लोहिया ही एक मात्र ऐसे राजनीतिक थे जिन्हें वह अपना हमदम अपना दोस्त और मार्ग दर्शक मान सकता था। लोहिया ने कभी भी साहित्य, संस्कृति कला, आदि के बारे में स्वतन्त्र रूप से कुछ विशेष नहीं कहा, पर राजनीति के क्षेत्र में ही किये गये उनके अनेक कार्य, नवलेखन या प्रकारान्तर से कहें तो आज के चिन्तन के सम्मुख उपस्थित अनेक समस्याओं के समाधान बन जाते हैं। ● ●

नवलेखन : परिवर्तन और सृजन

हमारी सामाजिक दशा ऐसी है जिससे शायद ही किसी को सन्तोष हो। इतना कूड़ा-कर्दम अतीत के गर्भ में भरा है कि खुलकर साँस लेना मुश्किल है। इस दमघोंट वातावरण को तोड़े बिना नजात नहीं। मोह-विद्ध भाव से जीने वाले इसे शायद ही तोड़ पायें। परिवर्तन की आकांक्षा सब में है। पर परिवर्तन कैसे ?

किसी बाहरी शक्ति से प्रेरित कोई घटना परिवर्तन ले आ सकती है। मगर वैसा परिवर्तन नियति के अन्ध-न्याय की नाईं हमारा सब-कुछ ध्वस्त भी कर सकता है। हम चाहते हैं कि ध्वस्त उतना ही हो जो निष्प्राण है, जड़ है, और जो मरे साँप की तरह हमारे पैरों को बाँध लेता है, हमारी गति को बाधित करता है। परिवर्तन में प्रगति की सम्भावना हमेशा गरमाहट देती है, उत्साह लाती है; मगर परिवर्तन की गति के हाथ से फिसल जाने की विवशता हमारा आत्मघात कर देती है, इसमें भी शक नहीं। पश्चिमी विचारधारा के प्रति हमारे मन का मोह इसी बात का सूचक है।

हम अपने वातावरण से इतना ऊबे हुए हैं कि हमें लगता है योरप की बातें शायद हमारी समस्याओं को सुलझा दें। उनसे कुछ गरमी आयी है, कुछ टकराहटें हुई हैं। कुछ मामलों में उन्होंने हमें संकोच की गुंजलक से मुक्त किया है। खोखले आदर्शों और मूल्यों आदि के प्रति हमारी अन्ध-श्रद्धा टूटी है। पहले से अधिक बेफ़िक्र होकर मूर्तियों को तोड़ देने का हमारा उत्साह बढ़ा है। अब किसी चीज़ के प्रति नफ़रत करते समय हमारे ही भीतर का संस्कार हमें बाँधता नहीं, रोकता नहीं।

किन्तु यह मूर्ति-भंजन, यह नफ़रत, यह विरोध, यह सम्बन्ध-विच्छेद—यह सभी तो नकारात्मक ही हैं। यह सभी तो कुछ-न-कुछ हटाकर एक रिक्तता को जनमाते हैं। और ज्यों-ज्यों हमारे चारों ओर रिक्तता बढ़ती है, पुराने का अभाव गाढ़ होता है, नये का अस्तित्व स्पर्श से दूर रहता है, त्यों-त्यों एक अजीब तरह की उदासी-भरी विवशता में हम डूबते जा रहे हैं। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए कि हम परिवर्तन की गति को अपने हिसाब से अनुकूलित करने के लिए सचेत नहीं हैं। परिवर्तन अभिप्रेत है, पर सृजन विस्मृत। सृजन ही मानवता है; सृजन के ही माध्यम से हर व्यक्ति अपने अस्तित्व का होना चरितार्थ करता है। इस सृजन के प्रति हमारी जागरूकता ही परिवर्तन के औचित्य की गारण्टी है। यदि हम इस सृजन के प्रति सही ढंग से प्रतिबद्ध होते तो शायद उदासी-भरी विवशता हमारा एकमेव प्राप्य नहीं होती।

रेलगाड़ी-मोटर और डाक-तार-टेलेफ़ोन की व्यवस्थाएँ, संसद्-लोकसभा और संविधान—सभी कुछ तो हमने पश्चिम से लिया। पर यह सृजन था। इन सबकी मूल आत्मा को हमने अपने वातावरण में अपनी तरह से जीने और विकसित होने का अवसर दिया। देश के इस छोर से उस छोर तक फैली रेल की पटरियाँ हमारी धरती से चिपकी हैं, हमारे पसीने में भोगी हैं, हमारे सुख-दुःख की साक्षी रही हैं; इन पर दौड़ता हुआ इंजन हमारी साँसों की गरमी से दौड़ता है और गरजता-पुकारता है। इसलिए यह सृजन है। इसलिए यह परिवर्तन अभिप्रेत है। किन्तु कॉकटेल, ट्विस्ट, ड्रेनपाइप पैण्ट्स, बीटलकट बाल, बीटनिक व्यापार आदि एक परिवर्तन की सूचना भले दें, सृजन-भाव से तो वे अछूते हैं। इसलिए ये व्यर्थ रूप से हमारी गति को बाँधते हैं, हमारी शक्ति को छीजने के लिए विवश करते हैं। यहाँ सृजन नहीं है, इसलिए परिवर्तन भी नहीं है।

भाव और बुद्धि के क्षेत्र में सृजन और मिथ्या परिवर्तन का अन्तर कर पाना बहुत आसान नहीं होता। हर व्यक्ति सरल और सहज से खुलेआम हाथ मिलाने के लिए उत्सुक है। कुछ नयी बातें आती हैं, फैलती हैं। नया हमेशा ही कुतूहल जगाता है; छिछले स्तर पर एक आदर भी। और चूँकि नये से सम्बद्ध होते ही उस व्यक्ति का अस्तित्व एक मिथ्या मूल्य से जुड़ जाता है, इसलिए देखादेखी नये के प्रति ललक बढ़ती जाती है। प्रशंसकों, सहवास-प्रेमियों, थकेपन के निराश लोगों की एक टोली बन जाती है और इस 'नये' की स्थापना, न्यास और पूजा घरीघण्ट के साथ चल पड़ती है। ऐसे विवेकवान् स्वभावतः कम होते हैं जो सचेष्ट रूप से मात्र परिवर्तन और सृजनोन्मुख परिवर्तन के बीच अन्तर कर सकें। धीरे-धीरे यह स्थिति सघन होती जाती है और इस 'नये' की रूढ़ि हमारे मन और हमारी बुद्धि को पूरी तरह जकड़ लेती है।

यह सब-कुछ इतना शीघ्र होता है कि इससे बचना, बरी रहना, या विवेक के साथ इसके भीतर से रास्ता खोज लेना लोगों के लिए व्यर्थ का कार्य लगने लगता है। वे इस तरह की बातों को सुनना नहीं चाहते, क्योंकि सुनने से मन का निर्मित सुख भाफ की तरह उड़ने लगता है। और फिर बच कर रहने वाला क्या कोई दूसरा रास्ता पा ही जाता है! 'हाँ हाँ ठीक है भई, माना यह फैशन है, नये की रूढ़ि है, यहाँ सृजन नहीं है, मात्र नकार है, मगर इससे हटकर हम जायें कहाँ? पीछे जा नहीं सकते, क्योंकि उधर मृत अतीत है। वर्तमान में आप रहने देना नहीं चाहते, क्योंकि यह नये की रूढ़ि से कीलित है—तब फिर किधर जायें? कोई दिशा? कोई रास्ता?'

मैं बार-बार सोचता रहा हूँ कि क्या मेरे पास कोई रास्ता है, कोई दिशा है। मैं मानता हूँ कि कोई स्पष्ट रास्ता मुझे नहीं सूझता। अभी तक कोई दिशा मुझे नहीं मिली है। पर स्थिति को सही ढंग से समझना क्या अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं है? अपनी स्वतन्त्रता का बोध रखते हुए इन दिशाहीन स्थितियों से टकराना क्या एक मूल्य नहीं है। बहरहाल यह टकराहट, वह 'कॅन्फ्रण्टेशन', ही अभी उपलब्ध दिशा है। यही मेरा मूल्य है।

नवलेखन आज करीब बीस वर्षों से जारी है। ये बीस वर्ष किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति के लिए कम नहीं होते। छायावाद का तो पूरा साहित्य ही बीस वर्षों की उपलब्धि है। पिछले बीस वर्षों में नवलेखन की जो कुछ गतिविधि रही, जो श्रम और साधना इस दिशा में चली, उसका तटस्थ और निर्मम होकर मूल्यांकन करने का समय आ गया है। इस बीच नवलेखन पर कई गोष्ठियाँ हुईं। काफी गरम बहसें भी चलीं। कभी-कभी क्षोभ और असंयम का वातावरण भी बना। यह सब कुछ नवलेखन के योग्य नहीं है। क्योंकि हम मानते हैं कि नवलेखन ने जिस मनुष्य की, आधुनिक मनुष्य की, खोज की है, वह अब तक के अन्वेषित मनुष्यों में सबसे अधिक समर्थ और सक्षम मनुष्य है। यह मनुष्य न तो प्राचीन के प्रति अन्धमोह से ग्रस्त है और न तो भविष्य के प्रति निराधार कल्पना से प्रेरित। यह मनुष्य आधुनिक युग की सभी विषमताओं के बीच संघर्ष करते हुए मनुष्यता की मूल चेतना यानी स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए संकल्पित है। वह न तो लिजलिजी भावुकता से द्रवित होता है और न तो वैज्ञानिक बुद्धिवादिता की मशीनी चेतना के सामने अपनी आत्मानुभूति की बलि ही देता है। वह ख़ुद जीने के लिए प्रतिश्रुत है और दूसरों को अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं के अनुसार जीने का अधिकार देता है। इसीलिए नवलेखन के रचनाकारों का उत्तरदायित्व दुहरा है। उन्हें अपने या दूसरों पर निर्णय लादने की अपेक्षा अपने और दूसरों को समझने का प्रयत्न करना ही अभीष्ट है। चूँकि नवलेखन का सृजक किसी भी बाहरी आदर्श, या आरोपित मूल्य या प्रतिबन्धों को स्वीकार नहीं करता, इसलिए उसे अपनी स्वतंत्र गतिविधि के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सावधान, सचेत और व्यवहारिक होने की आवश्यकता है। विरोधी मत रखने वालों के प्रति सहनशीलता, धैर्य और सहानुभूति की अनिवार्यता पहले की अपेक्षा आज कहीं ज्यादा है।

यद्यपि नवलेखन अपने प्रेरणा-स्रोतों के लिए किसी भी प्रकार के देशकाल की सीमाएँ स्वीकार नहीं करता, क्योंकि हम यह मान कर चलते हैं कि मनुष्यता की विकास यात्राओं के पथ सर्वत्र समानान्तर हैं तथा आधुनिक मनुष्य की परिस्थितियाँ और संघर्ष खंडशः विभाजित नहीं किए जा सकते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने निकटतम परिवेश से उदासीन रहें। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारा निकटम परिवेश काफी चिन्ताजनक है। देश में मँहगाई, भ्रष्टाचार, निराशा, कुंठा और किंकर्तव्यविमूढ़ता का भाव निरन्तर घना होता जा रहा है। अक्रामक शक्तियाँ अवसरवादिता के आधार पर संघटित हो रही हैं। पूरा परिवेश भीतर से विदीर्ण और बाहर से आक्रान्त होता जा रहा है। स्थिति शोचनीय है, इस पर दो मत नहीं। मतान्तर सिर्फ़ इस पर हो सकता है कि इसे चिन्ताजनक कहें या कि निराशाजनक। डॉ० लोहिया इसे निराशाजनक कहते हैं। 'दिनमान' के सम्पादक चिन्ताजनक। लोहिया के लिए इसमें परिवर्तन मुश्किल है, 'दिनमान' के सम्पादक के लिए मुश्किल तो है पर असम्भव नहीं।

भारत की हालत आश्चर्यजनक रूपसे १९४०-५० के बीच फ्रांस में व्याप्त स्थिति के समान दिखाई पड़ती है। फ्रांस एक वैभवपूर्ण अतीतवाला महान् सांस्कृतिक परम्परा का देश था; किन्तु नाजी आक्रमण के सामने वह भहरा कर गिर पड़ा। सारा देश अपमान के कड़वे घूँट पी कर रह गया। प्रतिरोध आन्दोलनों की सक्रियता बढ़ी। सभी तरह की विचारधारा वाले लोग संघटित होकर स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने को आगे बढ़े। मुक्ति मिली; पर यह मुक्ति निष्फल रही। स्वतन्त्रता के स्थापित एकोद्देश्यता खण्डित हुई। प्रजातान्त्रिक समाजवादी शक्तियाँ जिनसे कुछ आशा थी दिशाहारा बन गयीं। कम्युनिस्टों में सरगर्मी अवश्य बची रही।

उस समय के साहित्य में एक अजीब तरह की स्थिति दिखाई पड़ी। एक ओर साम्यवादी मान्यताओं से प्रेरित फार्मूलों पर आधारित कृत्रिम राजनैतिक साहित्य था जो साम्यवादी समाज के निर्माण का एक साधन भर माना जाता था और जहाँ लेखक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का, उसकी अपनी निजी अनुभूति और प्रेरणा का कोई मूल्य न था। दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया में जो आधुनिक मान्यताओं से प्रेरित नवलेखन था, वह मूल्यों के विघटन से इस तरह पंगु होने लगा कि लोगों को साहित्य के प्रयोजन में ही शंका होने लगी। इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ दायित्वहीनता मान लिया गया और अतियथार्थवादियों (सुर्रियलिस्ट) ने जिस मूल्य विघटन का अभियान किया उसने साहित्य के मूल्यों तक को ध्वस्त कर दिया। इसे वहाँ साहित्यिक आतंकवाद (लिटरेरी टेररिज्म) की संज्ञा दी गई। 'साहित्य क्या है, और क्या इसका आधुनिक समाज में कोई महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है ?'—ये प्रश्न थे जो उन दिनों फ्रांस में सबसे अधिक चर्चा की वस्तु बने। इसी स्थिति में साहित्य को जलमग्न होने से बचाने के लिए सार्त्र ने प्रतिबद्धता (कमिटमेंट) की बात की थी। यह अलग बात है कि उन्हें आज खुद समाज में साहित्य की उपयोगिता पर कोई विश्वास नहीं रह गया है। पर सब कुछ में विश्वास खो चुकने के बाद भी सार्त्र ने मनुष्य की स्वतन्त्रता और उसकी अनिवार्यता में कभी विश्वास खोया नहीं।

फ्रांस की तात्कालिक स्थिति से भारत की स्थिति की तुलना करने पर आप पायेंगे कि हिन्दी नवलेखन भी प्रगतिवादी साहित्य की आरोपित फार्मूलावादी प्रवृत्तिमूलक मान्यताओं के प्रति विद्रोह के रूप में खड़ा हुआ। व्यक्तिस्वातन्त्र्य उसका मूल मंत्र था। उसने अपनी समूची ताक़त लगाकर साहित्य को आरोपित राजनैतिक मूल्यों का विवश माध्यम बनने की मजबूरी से मुक्ति दिला दी। किन्तु मुक्ति का यह अभियान कहीं मूल्य-मूढ़ता को प्रश्रय तो नहीं दे रहा है ? मूल्यों का विघटन हमें शून्य में निमज्जित तो नहीं कर रहा है ? कहीं हम सामाजिक दायित्व से पलायन तो नहीं कर रहे हैं ?—ये प्रश्न आज अनिवार्य रूप से हमारे सामने खड़े होते हैं। पूछा जा सकता है कि इस स्थिति में साहित्यकार कर ही क्या सकता है। भारत की राजनीति, उसकी पार्टियाँ, सामाजिक और

आर्थिक परिस्थितियाँ सभी कुछ तो निराशा का कारण हैं, फिर साहित्यकार से आशा और आस्था की माँग करना क्या उसके ऊपर एक काल्पनिक मूल्य को आरोपित करना नहीं है ? मैं यह मानता हूँ, मगर जिस आधुनिक मनुष्य की परिकल्पना लेकर हम चले हैं उसकी सारी परिभाषाएँ और विशेषताएँ ऐसे ही मूल्य-संकट में परीक्षित होती हैं। एक ऐसा संकट जिससे छुटकारे का कोई उपाय नहीं, कोई रास्ता नहीं, हमारी आधुनिक मनुष्यता का अनिवार्य अभिशाप है। इसी कारण आधुनिक लेखक की चेतना पर आज जो दबाव वर्तमान है, वह बिल्कुल भिन्न किस्म का है। फिर भी उससे जूझने और तोड़ने के लिए वह कृतसंकल्प है। और इसकी समूची पद्धति, तौर-तरीक़ा (स्ट्रैटजी) भी उसे ही निर्मित करना है। यह सब वह तभी कर सकता है जब वह निरन्तर इस बोध को जाग्रत रखे कि वह दुहरे इजलास में खड़ा है। एक अपने भीतर का पराभौतिक इजलास, दूसरा अपने बाहर का सामाजिक इजलास। दुहरे निर्णय की यह चेतना ही उसकी समूची शक्ति का स्रोत है।

आधुनिक परिस्थितियों की सही व्याख्या न कर सकने के कारण तथा साहित्येतर मान्यताओं के पूर्वग्रह के कारण नवलेखन का परीक्षण भी नाना प्रकार की अन्धवाटियों में घसीटा जाता है। सामयिक साहित्य के परीक्षण में हमेशा ही तरह-तरत के घात-प्रतिघात चलते हैं, जो हमेशा साहित्य को दृष्टि में रखकर ही नहीं किये जाते। नवलेखन का विरोध कई स्तरों पर होता है। एक स्तर वह है जहाँ नवलेखन किसी भी रूप में स्वीकार किया ही नहीं जाता। यह स्तर प्रायः ऐसे लोगों का है जो युग-चेतना से पूर्णतः वंचित हैं। वे गहराई में उतर कर समस्याओं को समझना चाहते ही नहीं। दूसरा स्तर वह है जहाँ नवलेखन प्रतिरोधी शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। यहाँ यह मानकर चला जाता है कि युद्ध और प्रेम में कुछ भी नाजायज नहीं है। तीसरा स्तर उन लोगों का है जो नवलेखन के प्रति साहित्येतर कारणों से शत्रु भाव रखते हैं, और उसे नाना प्रकार से आहत करने के लिए पैंतरे बदला करते हैं। ये तीनों ही स्तर नवलेखन के विरोधी हैं। किन्तु जैसा मैंने पहले ही कहा कि आधुनिक मनुष्य को विरोधी पर निर्णय लादने की उतनी उतावली नहीं होनी चाहिए, जितनी उसे समझने की। यदि हम उसे सही ढंग से सहानुभूतिपूर्वक समझने की कोशिश करें तो खिचाव का वातावरण कम हो सकता है और भिन्न धारणा रखने वाले लोगों में भी सौमनस्य और सौहार्द की स्थापना हो सकती है।

अलवेयर कामू ने लिखा है—हममें से प्रत्येक के भीतर जेलखाने हैं, अपराध-भाव है, ध्वंसात्मक तत्व हैं। किन्तु इन्हें समाज में उगलना हमारा कर्तव्य नहीं। हमारा कर्तव्य इनके विरुद्ध अपने भीतर और दूसरों के भीतर निरन्तर जूझते रहना है। इसी दृष्टि से लेखक का पेशा एक गौरवपूर्ण पेशा है; क्योंकि वह खुद इसे पूरा करके अपने कर्तव्य के प्रति कृतज्ञ होता है।"

नवलेखन के बारे में जब मैं यह कहता हूँ कि वह अपने सामयिक परिवेश के प्रति उदासीन है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं उसकी यथार्थवादी दृष्टिको नज़र-अन्दाज़ कर रहा हूँ। नवलेखन में यथार्थ के प्रति संसक्ति है, निकटता और आग्रह है। नवलेखन-ने काल्पनिक रोमानी जिन्दगी के आकर्षण को तोड़ा है, साथ ही यथार्थ के पूर्व प्रचलित साँचों को भी। अर्थात् नवलेखन अब न तो जीवन को रंगीन चश्मे से देखता है जैसे छायावादी करते थे, न ही यथार्थवादी साँचों में जीवन को कसकर सन्तुष्ट होता है, जैसे प्रगतिवादी किया करते थे। छायावादी लेखकों का जीवन एक अजीब कुहेलिका में डूबा जीवन था। जिसमें आदमी की दैनन्दिन जिन्दगी का कड़ुवापन, कुरूपताएँ, बिखराव और निराशाएँ छिप जाती थीं या छिपायी जाती थीं। वे जिन्दगी के ऊपर एक अद्भुत चम-कीला, रंगारंग मुखोश डाल लेते थे। उनकी रचनाओं में एक अतीन्द्रिय संगीतकी 'हार-मनी' थी, जो बिलकुल मन:प्रसूत थी—कर्णेन्द्रिय का 'हैल्युसिनेशन' भी लगे तो आश्चर्य नहीं!—और इस 'नीरव संगीत' में सारा क्रंदन-कोलाहल, चीख-पुकार डूब जाती थी। नवलेखन में ऐसे हैल्युसिनेशन नहीं हैं। नवलेखन ज़िन्दगी को, जो वह है, उसी रूप में ग्रहण करता है। इस जिन्दगी को सारी निरर्थकता के बावजूद वह अपनी आसक्ति और संसक्ति का आधार मानता है। यहाँ एक नया यथार्थ है, नयी वास्तविकता के प्रति नये क़िस्म का लगाव है। यह यथार्थ उस यथार्थ से भिन्न है, जहाँ दृष्टि के साथ एक राज-नीतिक चश्मा जोड़ लिया जाता था। प्रगतिवादियों के यथार्थ के बँधे-बँधाये ढाँचे थे। ये जीवन को वर्गों में बाँट लेते थे। समूह की ऊपरी स्तर की निर्वैयक्तिक मान्यताएँ जीवन की माप बन गयीं। व्यक्ति मशीन बन गया। एक तरह की मशीनों के लिए एक तरह के यथार्थ का स्वरूप निर्धारित कर दिया गया। जिन्दगी में 'मैं' का कोई मूल्य नहीं रहा। यह 'मैं' छायावादियों के पास था तो एक गजदन्त मीनार में सोया रहा और जब यह प्रगतिबादियों के पास आया तो उन्होंने इसकी क़रीब-क़रीब हत्या ही कर दी और इसके अंग-प्रत्यंग काट कर मशीनों में फ़िट कर दिए।

नवलेखन ने इस 'मैं' को सिर्फ़ 'मैं' ही रहने दिया, पर इसे रहने दिया, और जो कुछ भी लिखा गया वह इस सामान्य सहज 'मैं' की दृष्टि को सम्मान देकर ही। यह 'मैं' न महत् बना न लघु। यह एह जागरूक, आत्मविश्लेषण-परक, अपनी भोगी हुई अनुभूतियों के प्रति ईमानदार और अपने कमाए हुए सत्य के प्रति आस्थावान् तथा अपनी असफल-ताओं, निरर्थकताओं और क्षुद्रताओं के प्रति प्रामाणिक 'मैं' ही रहा। नवलेखन की यह विशेषता थी। इसे स्वीकार करना पड़ेगा कि नवलेखन अपने चहुँओर के यथार्थ के प्रति जागरूक रहा।

किन्तु यह जागरूकता खण्डित यथार्थ में अक्सर सीमित हो जाती है। यानी हमारा 'मैं' बहुत कुछ सीमित दृष्टि से अपने होने का प्रमाण देता हुआ अपनी सीमाओं के यथार्थ को बाँध लेता है; पर वह इनका अतिक्रमण करके उस यथार्थवादी ऐतिहासिक चेतना

से अपने को जोड़ नहीं पाता जो किसी काल और परिवेश को उसके सही सन्दर्भ में भास्वरता देती है। उदाहरण के लिए इस काल-खण्ड में जीवन की सबसे बड़ी इकाई या मूल्य या सत्य जो किसी भी रचनाको अपनी सृजन-शक्ति के प्रति आस्थावान् या चरितार्थ बनाता है, वह है व्यक्ति की स्वतन्त्रता। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सही बोध इस युग की ऐतिहासिक चेतना का अवदान है। यह बोध तब तक नहीं हो सकता जब तक हम जीवन को सम्पूर्ण खण्डित सीमाओं में इसको अवरुद्ध, क्षत और विकलांग करनेवाली परिस्थितियों का ऐतिहासिक क्रम न जानें। बड़े से बड़े राजनीतिक नारे यथा जनतन्त्र, साम्यवाद, कल्याणकारी राज्य आदि जैसे स्वर्णिम शब्द भी कहीं-न-कहीं इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बाधित, क्षत या विकलांग करते हैं। दफ्तर, ऑफ़िसों, सामाजिक व्यवहार और दलों-द्वारा प्रचारित समूहीकरणकी संस्थाएँ भी इसे आक्रान्त करती हैं। विदेशी आक्रमण, राजनीतिक दाँवपेंच, तानाशाही शासन आदि तो इसके सर्वविदित शत्रु हैं ही। इन परिस्थियों में लेखक की व्यक्तिगत स्वाधीनता का सर्वप्रिय मूल्य नाना भाँति विदीर्ण होता है। नवलेखन में कोई भी एक रचना ऐसी नहीं मिलती जो इस तरह की परिस्थितियों में टूटते हुए इस सर्व-काम्य और सर्वप्रिय मानव-मूल्य की समूची व्यथा, तिक्तता या अट्टाहस को भलीभाँति प्रकट कर दे। यह प्रकटीकरण स्थूल राजनीतिक नारेबाजी के धरातल पर नहीं होगा, यह कहने की ज़रूरत नहीं।

दूसरा उदाहरण न्याय की अन्ध कोठरी या भ्रष्टाचार का लें। नवलेखन में बहुत-सी रचनाएँ मिलेंगी जिनमें समाज के यथार्थ के प्रति तीखा आक्रोश ध्वनित होगा। सभी स्वीकार कहते हैं कि स्वतन्त्रता के बादसे हमारे देशमें बेरोज़गारी, मँहगी, ग़रीबी, भुखमरी बढ़ी है। सभी स्वीकार करते हैं कि शासन में अकथनीय भ्रष्टाचार है। सभी अधिकारी न्याय का गला घोंटनेवाले, फ़िरक़ापरस्त, बेईमान और घूसखोर होते जा रहे हैं। इन दुर्गुणों पर छिट-फुट रचनाओं में तीखा व्यंग्य मिल जायेगा। मगर एक भी ऐसी कृति नहीं मिलेगी जो फ्रांज काफ़्का के 'ट्रायल' की तरह खण्डित यथार्थ के भीतर से सारा रस सोखकर खड़ी हो; किन्तु जिसको अपील इतनी व्यापक हो कि वह समूचे ऐतिहासिक सन्दर्भ को पूरी तरह उजागर कर रख दे। ऐसा क्यों नहीं हो पाता ? ऐसा इसलिए नहीं हो पाता कि हमारा लेखक व्यापक राजनीतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक समस्याओं से सीधे टकराना नहीं चाहता। युद्ध चलता है तो वह अपने को गजदन्ती मीनार में बन्द कर लेना आवश्यक मानता है। राजनीतिक विवाद छिड़ते हैं तो वह चुप रहना शान की बात मान लेता है। केरल में साम्यवादी शासनकी बर्खास्तगी उसके लिए कोई समस्या नहीं बनती। उत्तर प्रदेश में शासनाधिकरण और न्यायाधिकरण के बीच की शर्मनाक लड़ाई उसे कहीं नहीं छूती। पाकिस्तानी आक्रमण के समय वह कला की बात कराता है ! इन समस्याओं से सीधे हमारा जब तक 'एन्काउण्टर' नहीं होता और जब तक हम सीधे अपनेको इनसे 'इन्वॉल्ड' नहीं समझते, तब तक हमारे लेखन के

बीच खण्ड यथार्थ और ऐतिहासिक चेतना के बीच की खाई नहीं पटेगी। जाहिर है कि हम लिखेंगे अपनी भोगी हुई अनुभूतियों को ही आधार बनाकर, किन्तु उन व्यक्तिगत अनुभूतियों को जब तक हम भास्वर और व्यापक चेतना की चीज़ नहीं बना लेते तब तक उन्हें आधुनिक परिवेश की ज्वलन्त समस्याओं से जोड़ने में सफल नहीं हो सकते। खण्ड यथार्थ के बीच समग्र ऐतिहासिक चेतना अन्तर्व्याप्त और सर्वथा विद्यमान जब तक नहीं होती, हमारी रचनाओं में तब तक हमारा युग नहीं बोलेगा। ● ●

नवलेखन : स्थिति और समस्याएँ

स्पष्ट ही नवलेखन एक सापेक्ष्य शब्द है। सापेक्ष्यता हमेशा ही अपनी सार्थकता के लिए किसी आत्मभिन्न तत्त्व की अपेक्षा करती है। ऐसा न होता तो नवलेखन के बारे में यह प्रश्न ही क्यों उठता कि नवलेखन किसे मानें? नवलेखन का आरम्भ 'तारसप्तक' से हुआ, सन् '५० से हुआ या कि सन् '६० के बाद से ? ये प्रश्न वस्तुतः समय की अद्यतनता के साथ जुड़े हुए हैं। इस आधार पर नवलेखन को परिभाषित करने का नतीजा यह होगा कि एकदम समसामयिक अद्यतन के अलावा निकटतम व्यतीत का सारा साहित्य नवलेखन से बहिष्कृत कर देना होगा। फिर समसामयिक साहित्य ही नवलेखन है, यह मान लेना भी कम खतरनाक नहीं है। इसके दोहरे जोखम हैं। समसामयिकता और आधुनिकता अलग-अलग चीजें हैं। समसामयिकता कलेवर की चीज होती है। आधुनिकता समसामयिक बिखराव और कलेवरगत उथल-पुथल के भीतर निरन्तर प्रवाहित गतिशील चेतना को समझने का दृष्टिकोण है। इसलिए समसामयिक हलचलों को मुखरित करने वाला साहित्य सही अर्थों में आधुनिक हो ही, यह कोई जरूरी नहीं। इसलिए समसामयिक को आधुनिक मान लेना पहला जोखम है। उम्र को दृष्टिकोण मान लेना दूसरा जोखम है क्योंकि नयी उम्र अनिवार्यतः आधुनिकता का पर्याय नहीं कही जा सकती। इसलिए आधुनिक दृष्टिकोण से लिखे हुए उस साहित्य को नवलेखन कहना ठीक होगा जो आज की उलझी हुई जिन्दगी के यथार्थ को समझते हुए, मानव चेतना के ऐतिहासिक विकास के परिप्रेक्ष्य में आज के मनुष्य की नियति को सही ढंग से प्रस्तुत करता है। जाहिर है कि इस दृष्टिकोण के साथ उम्र की कोई बंदिश नहीं है और न तो वहाँ पचासोत्तरी, साठोत्तरी या पैंसठोत्तरी के बीच कोई विभाजन रेखा खींचना आवश्यक है।

मैंने उपर जिस दृष्टिकोण की बात की, उसका स्पष्ट परिचय हिन्दी साहित्य में पचास के आस-पास मिलने लगता है। इसलिए मैं नवलेखन की स्थिति और समस्याओं पर विचार करते हुए अपने को सन् '५० के आसपास के प्रारम्भित उस साहित्य तक ही सीमित रखूँगा जो उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार नवलेखन कहा जाने का अधिकारी है। सन् '५० के बाद के साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि यह साहित्य वैयक्तिक आत्मपरीक्षण की भावना से ओतप्रोत था। आत्म-परीक्षण का भाव मोहभंग का सूचक होता है। आत्म-परीक्षण की प्रक्रिया सच्चे अर्थों में तभी शुरू होती है जब व्यक्ति का, अपने से भिन्न, किसी महत् तत्त्व, मूल्य या धारणा से विश्वास खतम हो जाता है। यह सही है कि आत्म-परीक्षण की इस चेतना के प्रारम्भ में मोहभंग की स्थिति नहीं थी। इसी कारण वह प्रक्रिया शुरू-शुरू में रूमानी आदर्शवाद से प्रेरित जैसी लगती है। स्वत-

न्त्रता के ठीक बाद भारतीय बौद्धिक के चित्त में एक नये विश्वास का उदय अनिवार्य था। विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों के बीच एक नये स्वतन्त्र देश का उदय इस विश्वास का जनक था। इसी विश्वास ने भारतीय बौद्धिक के चित्त में आत्म-परीक्षण का भाव जाग्रत किया। समृद्ध परम्परा का, किन्तु नवीन निरुपाय देश अपने भीतर उन तत्त्वों की खोज कर रहा था, जो उसे अपने पैरों पर खड़ा होने में मदद दें। भारतीय बौद्धिक को यह समझते देर नहीं लगी कि परम्परा मुमूर्षु रूढ़ियों का पुंज मात्र रह गयी है। परम्परा के जीवन्त गतिशील तत्त्व या तो समाप्त हो चुके हैं या रूढ़ियों के अम्बार में ढँक कर अनुपलभ्य हो गये हैं। इसी कारण आत्म-परीक्षण का यह भाव लेखकों को उन अछूते अंचलों की ओर खींच ले गया जहाँ कृत्रिमता और बाह्य जकड़बन्दी के भीतर सहज जीवन का, बहुत क्षीण ही सही, रूप अब भी देखा जा सकता था। आंचलिक तत्वों के प्रति यह रुझान नवलेखन की पहली प्रवृत्ति थी जिसने, बने-बनाये अभिजात काव्यरूपों के पुराने साँचों, तौर-तरीक़ों तथा पिटी-पिटायी पद्धतियों और जीवनहीन माध्यमों के प्रति विद्रोह किया।

आज आंचलिकता आधुनिक भावबोध के वहन में अक्षम मानी जा कर तिरस्कृत हो चुकी है, इसके अनेक कारण हो सकते हैं, किन्तु इतना सत्य है कि नवलेखन के आरम्भ में आंचलिकता आधुनिक भावबोध का एक चरण, [एक फेज़] बन कर आयी थी। यह बात उस काल के साहित्य को देख कर स्पष्ट हो जाएगी। क्या कवि, क्या कहानीकार, सभी छायावादी एकरसता और प्रगतिवादी जीवनशून्य नारेबाज़ी से उबरने के उद्देश्य से आंचलिक तत्त्वों की ओर आकृष्ट हो रहे थे और इसे ही ऊब और किंकर्तव्यमूढ़ता से बचने का एकमात्र तरीक़ा समझ रहे थे। यानी प्रकारान्तर से यह कि अपनी निरुपायता से उस काल में अपनी उन्नति और प्रगति के लिए हम अपने भीतर की शक्ति ढूँढ़ने के लिए प्रयत्नशील थे। न केवल जीवनानुभूति के क्षेत्र में ही; बल्कि माध्यम की खोज के क्षेत्र में भी। पचास के आस-पास नवलेखन की जो भाषा विकसित हुई उसमें एक खास तरह का अपनत्व और निरलंकृत खुरदरापन लिये हुए स्वावलम्बिता की भावना है। आंचलिक शब्द हैं, मुहावरे हैं और बुनावट में एक अजीब देहाती मासूमियत है। यह उसी प्रकार का खुरदरापन था जैसा भारत में बने हुए आधुनिक सामानों में पश्चिम की तुलना में दिखाई पड़ता है। क्या यह मात्र संयोग है कि तीनों सप्तकों के अनेक कवि अपने परिचय या वक्तव्य में ग्राम-प्रकृति और लोकगीतों के प्रति उत्कट अभीप्सा का भाव व्यक्त करते हैं। 'तारसप्तक' के मुक्तिबोध 'मालवे के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों में घूमती हुई क्षिप्रा की रक्तभव्य साँझों' और उज्जैन नगर के बाहर के 'विस्तीर्ण निसर्ग लोक' पर फ़िदा थे। रामविलास शर्मा 'खेतों से अपने सम्पर्क' की बार-बार पुष्टि करते हैं और उन्हें, 'हिन्दुस्तान के जिस गाँव पर भी साँझ की सुनहरी धूप पड़ती है, वह अपने गाँव जैसी ही लगती है।' दूसरे सप्तक के भवानीप्रसाद 'छोटी-सी नदी नर्मदा के किनारे,

छोटे-से पहाड़ विन्ध्याचल के आँचल के छोटे-छोटे साधारण लोगों की ज़िन्दगी' में अपने जिन्दगी का बिम्ब ढूँढ़ते हैं। हरिनारायण व्यास को 'प्रकृति स्वयं सौंदर्य की प्रतिमा लगती है' और वे मानते हैं कि 'भारतीय कृषक के लिए यह एक वरदान है जो कविता के अंत-र्वाह्य स्वरूप के निखार में योग दे सकता है', इसलिए 'ग्रामगीतों के शब्द और लय उन्हें बहुत प्रिय लगते हैं।' शमशेर को 'कला का असली भेद और गुण' उन लोक-कला-कारों के पास मिलता है, जो जन-आंदोलनों में हिस्सा ले रहे हैं। इसीलिए चन्द्रभूषण त्रिवेदी, अगिया बैताल, गोराबादल, नागार्जुन, विसराम, भिखारी ठाकुर, रामकेर, प्रेमदास, खेमसिंह नाहर जैसे लोककलाकारों की उन्हें बार-बार याद आती है और निराला भी उन्हें इतना आकृष्ट इसलिए करते हैं कि 'पुरानों में सिर्फ वे ही इन सबों के साथ आये।' भारती को 'मुक्त हँसी, ताजे फूल और देश-विदेश के लोकगीत बहुत पसन्द हैं।' तीसरे सप्तक के सर्वेश्वर को 'चारों तरफ दूर-दूर फैले खेतों, तालों और छोटे-छोटे गाँवों के बीच बीते अपने बचपन' का उल्लेख बहुत आवश्यक लगता है। कीर्ति चौधरी साग्रह कहती हैं 'बचपन गाँव में बीता, अमराई में बिखरती मदिर गंध और तालों में ढेर-ढेर फूली कोका बेली मुझे नहीं भूलती।' यों तो केदारनाथ सिंह का आग्रह बिम्ब-विधान पर है पर उसी के साथ उन्हें 'खुले कछार, मक्का के खेत, और दूर-दूर तक फैली पगडंडियों की मन पर पड़ी छापें' नहीं भूलतीं और वे शहर के 'धुमैले शतशः खण्डित आकाश के नीचे खड़े होकर देहात के ठेठ वातावरण की उन्मुक्तता' को बार-बार याद करते हैं।

ये सारी चीजें किस बात की सूचक हैं ? अचानक हिन्दी साहित्य में 'गाँव' इतनी शक्ति के साथ कहाँ से आ गया ? वस्तुतः हिन्दी साहित्य में पहली बार लेखकों की एक ऐसी जमात आयी, जो शहर के मध्यवर्गीय जीवन से नहीं, गाँव के कृषक-परिवारों से सम्बद्ध थीं। यह एक नयी लहर थी जिसने नयी कहानी और नई कविता दोनों को समान रूप से प्रभावित किया। गाँव के जीवन के बारे में यह रुझान स्पष्टतः नव-स्वतंत्र भारत के आत्मान्वेषण की दिशा की द्योतक थी। इन लेखकों और कवियों पर ध्यान दें तो लगेगा कि इनके साहित्य में एक खास तरह के सामाजिक स्वर की प्रधानता थी जो ढाँचाबद्ध प्रगतिवादी सामाजिकता से भिन्न था, साथ ही नागरिक घोर वैयक्तिकता से भी। वे व्यक्तिवादी काव्य-स्वरों से भिन्न स्तर पर साहित्य लिख रहे थे। इसी धारा को बाद में 'आंचलिक' नाम दे कर छोड़ दिया गया। रामविलास शर्मा ने 'तारसप्तक' के नये संस्करण में स्पष्ट लिखा है—"निराला जी के रेखाचित्रों, बलभद्र पढीस की अवधी कविताओं, सुमन, गिरजाकुमार माथुर, केदारनाथ अग्रवाल की अनेक कविताओं, पन्त की ग्राम्या, वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों और इधर के 'आंचलिक कथा-साहित्य' में यह ग्राम्य-जीवन-सम्बन्धी प्रवृत्ति पल्लवित और पुष्पित होती रही है।"

निःसंदेह यह प्रवृत्ति अब क्षीण हो गयी है। ऐसा इसलिए हुआ है कि हम अपनी धरती से कट कर परमुखापेक्षी हो गये हैं।

आज के नवलेखन से अचानक फिर गाँव तिरोहित हो गया है। ऊपर-ऊपर से देखने से यह एक अहम मसला नहीं लगता, पर इसको काफ़ी गहराई से देखा-परखा जाए तो मालूम होगा कि ऐसा उन तमाम राष्ट्रीय स्तर के क्रिया-कलापों के कारण हुआ है जो १९५७ के बाद से इस राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना और जनता की आकांक्षाओं के बीच 'असम्वाद' की मोटी दीवारें खड़ी करते रहे हैं। नवलेखन निरन्तर सिकुड़ कर मुट्ठी भर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की चीज़ होता जा रहा है, यानी वृहत्तर समाज से वह विच्छिन्न हो गया है। ऐसा इसलिए नहीं हुआ है कि नवलेखन ने सक्रिय भाव से ऐसा करना चाहा है न तो यही कहा जा सकता है कि नवलेखन अथवा परवर्ती युवापीढ़ी का लेखन सम्पूर्णतः एकदम से कटा हुआ ही है। सामान्य जन से विलगाव हुआ है, और गहरा हुआ है, पर ऐसा हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में हुआ है। यानी राष्ट्रीय महत्त्व के प्रत्येक कार्य के प्रति जनता में घोर उदासीनता का भाव निरन्तर बढ़ता गया है। उदासीनता एक आत्मघाती, यानी डा० लोहिया के शब्दों में "लेड्बू" स्थिति है। लोहिया ने एक जगह लिखा है कि—"हिन्दुस्तान में ऐसी 'लेड्बू' स्थिति है जहाँ ४० लाख लोग स्वार्थ में, शान से, पर निष्प्रयोजन ढंग से रहते हैं जबकि चालीस करोड़ (यह संख्या अब तो और भी बढ़ी है) निःसहाय दुमट और गच्ची की तरह पड़े हैं।" (जाति प्रथा, पृ० १२६) ज़ाहिर है कि गाँवों के रहने वालों 'इन दुमट और गच्ची' की तरह जीने वालों के बारे में नवलेखन में जिज्ञासा नहीं रह गयी, अकाल और व्यापक भुखमरी के बावजूद। बिहार के अकाल पर ठठरियों के ढेर और मरे हुए इन्सानों और जानवरों की लाशों पर मँडराते हुए गीधों के फ़ोटो छाप कर ही पत्र-पत्रिकाओं ने अपने कर्त्तव्य की इयत्ता मान ली। निहायत व्यक्तिवादी कही जाने वाले और 'पुरानी पीढ़ी' के विशेषण से अवमानित किये जाने वाले अज्ञेय और रेणु के रिपोर्ताजों, ठाकुरप्रसाद सिंह के एकाध निबन्धों के अलावा अकाल की समस्या पर पूरा नवलेखन ख़ामोश रहा।

यह सब क्या है ? मेरी दृष्टि में यह सब अपने को अतिरिक्त आधुनिक और अनावश्यक रूप से अंतर्राष्ट्रीयतावादी घोषित करने के फ़ैशन का परिणाम है। एक ओर इन्सान कीट-पतंग की तरह मर रहा है, दूसरी ओर देश की सर्वव्यापक भाषा के साहित्यकार "औरतों की जाँघों के जंगल में" पिकनिक मना रहे हैं ? इसके लिए मैं लेखकों को दोषी नहीं मानता, क्योंकि यह सार्वजनिक बौद्धिक माहौल है जिसमें, राजनीतिक, पत्रकार, अध्यापक, वकील यानी वे सभी जिनका पढ़ने-लिखने, राजकाज चलाने और जन-सम्पर्क बनाने का पेशा है, गिरफ़्त है। यह हीन भावना हमारे बौद्धिक में सन् ६२ के चीनी आक्रमण के बाद और भी अधिक बढ़ी, पर वह आक्रमण न भी हुआ होता तो भी भारतीय नेतृवर्ग की नपुंसकता के कारण इस प्रकार के बनते वातावरण में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं आता।

मतलब यह कि अपनी सही परिस्थितियों और संघर्षों के सही ज्ञान के अभाव के

कारण यांत्रिक समूह संचार-साधनों के सामने कला पराजित हो रही है। कहानी पत्रकारिता यानी समाचारों से, कविता नारों से, चित्रकला फ़ोटोग्राफ़ी से हार चुकी है। जीवन की मात्र ऊपरी और बाह्य सतही धड़कनों को पकड़ने वाली यह यांत्रिकता ज्यादा प्रभावपूर्ण और कारगर सिद्ध हो रही है, जबकि जीवन की सम्वेदना से उद्भूत होने वाली कला जीवन के स्पन्दन को ठीक से बाँध न सकने के कारण जनता द्वारा अग्राह्य होती जा रही है। साहित्य को ख़तरा व्यावसायिक पत्रकारिता से उतना नहीं है, ख़तरा बाह्य और नक़ली संघर्ष तथा विद्रोह को ढोने वाली हमारी अपनी 'कलाबाज़ी' से है। क्या सबब है कि बिहार के अकाल, चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण, देश की टूटती हुई एकता, विलगाव की प्रवृत्ति, दिशाहीन शासन की स्वेच्छाचारिता, क्लीव बुद्धिवादिता, अख़बारों में जिस तेज़ी से उजागर हो रही है, नवलेखन में नहीं हो पा रही है ?

मैं यह कोई जान कर कष्ट पहुँचाने की ग़रज से नहीं कर रहा हूँ। नवलेखन का तटस्थ विश्लेषण इन स्थितियों की पुष्टि करेगा।

पचास के बाद शुरू होने वाले नवलेखन में आंचलिकता के समानान्तर एक और प्रवृत्ति भी थी, वह थी नागरिक भावबोध की। गाँव टूट रहे थे, नगर बस रहे थे। नगर की ओर खिच कर आने वालों का भी मोहभंग हुआ। नगरों का जीवन नीरस, आत्मीयताहीन, व्यर्थ के आडंबरों और मुखौटों से भरा हुआ था। यहाँ मूर्ख राजनीतिज्ञ अपने टुच्चे दाँव-पेंच से कहीं अधिक सम्मान का अधिकारी था, बनिस्बत उस ईमानदार बौद्धिक के, जो अपनी पत्नी की पेबन्दों-भरी साड़ी और दवा के लिए तरसते बीमार बच्चों की मासूम आँखों में झाँक कर रात बिदा देता था। चुनाव एजेंट, काले बाज़ार वाले मुनाफ़ाख़ोर, अड़ियल सूदख़ोर, उनकी चाटुकारिता करने वाली व्यवस्था के अंग टुकड़हे बौद्धिक, इज़ारेदार, सरमायेदार जिस समाज में पनपते हैं, वहाँ सब कुछ होता है सिर्फ न्याय नहीं होता। इस स्थिति का प्रतिबिम्ब आरंभिक नवलेखक में पर्याप्त ढंग से मिलता है। शुरू-शुरू में नयी कविता में भी, बावजूद इन सारी स्थितियों के, विश्वास और आस्था का स्वर रहा। तब व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चर्चा थी। साहित्यकार अपने को टूटा हुआ नहीं समझता था। तीनों सप्तकों में इस स्वर की प्रधानता मिलेगी। उस समय 'पीड़ित मानवता के संक्रांतिकाल का' कवि, सरकारी अफ़सरों, ज़नता के लीडरों की सेठों के घर होने वाली दावतों में भाड़े के स्तुति-गायक कवियों पर आघात करके, अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर लेता था। वह 'एकाकी' था, पर तब भी उसे 'अपनी रानी' की छवि का 'सुधि सम्मोहन' सहारा दिया करता था। बीसवीं सदी की शोषण यंत्र-क्रिया ने संस्कृति को कुछ नहीं दिया, यह जानते हुए भी वह 'वास्तवता के बोध' से परेशान या दिशाहारा नहीं हुआ। वह अपनी विरोधी परिस्थितियों को कुचलकर चलने वाले अपने 'भावी गौरव के रथ' के प्रति तब भी आशावान् था। दूसरे सप्तक के कवि कहीं ज्यादा वैयक्तिक और रूमानी नज़र आयें तो इसे प्रकारान्तर से 'संतुष्टि और सब कुछ को पकड़'

सकने का सामर्थ्य-बोध का परिणाम ही कहना होगा। दूसरे सप्तक के कवियों की रचना-वस्तु देखिए : कमल के फूल और सतपुड़ा के जंगल, दोहपरी, ये हरे वृक्ष, पूर्णमासी रात भर, नेहरू के प्रति, नशीला चाँद, बरसा के बाद, शरीर स्वप्न, हे वसन्तवती, भारत की आरती, किरन धेनुएँ, उसस्, वसन्त, पहला पानी, प्रभाती, थके हुए कलाकार से, गुनाह का गीत, तुम्हारे पाँव मेरी गोद में, आदि कविताएँ किस बात की द्योतक हैं? कहाँ है मोहभंग ? कहाँ है परिस्थितियों की चपेट की तिलमिलाहट ? दूसरे सप्तक में भवानी-प्रसाद मिश्र की 'सन्नाटा' और 'गीत-फ़रोश' कविताएँ अलबत्ता नवीन संकेतों से भरी हैं। तीसरे सप्तक का प्रकाशन काल १९५८ है यानी ये रचनाएँ १९५७ की या किंचित् उसके पहले की हैं। दूसरे सप्तक की ही तरह इसमें भी उन्मुक्त प्रकृति, गाँव की ताज़ी स्मृतियाँ, व्यक्तिगत रागबोध के क्षण, अधिकतर व्यक्त हुए हैं। पूरे संग्रह में मदन वात्स्यायन की यांत्रिक-बोध की कविताओं, केदारनाथ सिंह के 'कमरे का दानव' सर्वेश्वर दयाल की 'कलाकार और सिपाही', प्लेटफ़ार्म' तथा 'काठ की घंटिया' शीर्षक कविताओं में तथा विजयदेव नारायण साही की कुछ पंक्तियों में यदाकदा दूसरे सप्तक से भिन्न स्वर मिलता है। इसमें मदन वात्स्यायन के बारे में कुछ कहने की ज़रूरत नही क्योंकि यांत्रिकता और आधुनिकता का अन्तर स्पष्टत: सभी जानते हैं। सर्वेश्वर की कविताओं में तनाव की स्थिति अवश्य उभरी है, व्यंग्य भी है और तीखापन भी, जो नये परिवर्तन का संकेत है। ऐसा ही संकेत साही की अनेक पंक्तियों में भी मिलेगा। केदार अपने 'कमरे के दानव' से आज भी जूझ रहे हैं। ये सारी स्थितियाँ इस बात की द्योतक हैं कि सन् ५७ के पहले वाले स्वातंत्र्योत्तर प्रथम दशक में कविता के क्षेत्र में, नयी ज़मीन की तलाश आत्मान्वेषण वाली प्रवृत्ति का ही रूपान्तर थी, जिससे कहानी में ग्रामकथाओं को ताज़गी दी। इन कविताओं में आस्था टूटी नहीं थी, 'नेहरू जी' जैसा व्यक्तित्व राजनीतिक बिखराव को सँभाले था, कसमसाहट उभर रही थी, पर उसे व्यक्तिगत स्तर पर प्रकृति की सन्निधि में या स्मृतियों की कुरेदनों में व्यक्त किया जा रहा था। उपर्युक्त दो-तीन कवियों की कुछ पंक्तियों को छोड़कर तीनों सप्तकों में कहीं भी तनाव, अलगाव या वैयक्तिक सम्बन्धों के खिचाव का बोध नहीं मिलता। कविताएँ नयी इसलिए थीं कि उन्होंने पुराने शिल्प और विषयवस्तु के ढाँचों को तोड़ा था। प्रगतिवादी-समूहवाद की तुलना में इन वैयक्तिक स्वरों में एक नवीनता थी। यह नवीनता अधिकतर भाषा-शिल्पगत ही थी, इसीलिए उन दिनों बहस प्राय: बिम्ब, प्रतीक और दूसरे शिल्प-विधानों पर ज्यादा हुआ करती थी। वस्तु पर बहस कभी हुई भी तो 'मूल्यों के संक्रमण' की बात कम, 'क्षण'-बोध की ज्यादा होती थी। उस दौर का कवि अपने व्यक्तिगत दर्द के प्रति आवश्यकता से अधिक सचेत था। बल्कि इस दर्द का इज़हार उसे बहुत ज़रूरी लगता था। वह अपने अभिव्यक्ति-माध्यम से जिस हद तक संघर्षशील था उसी हद तक अपने भीतर के 'मैं' के प्रति भी। संक्षेपत: यह कि उसे तब भी दोनों प्रत्यवायों पर विजय पा लेने की आस्था हासिल थी। उम्मीद जीवित थी :—

शायद कल
मेरी आत्मा का निष्प्राण देवता
अपने चक्षु खोल दे
शायद कल
मेरे गूँगे स्वरों के सहारे
कोटि-कोटि कंठों की खोई शक्ति बोल दे। (सर्वेश्वर)

इस दृष्टि से डा० धर्मवीर भारती का यह मन्तव्य सटीक ही है कि "हिन्दी का नया साहित्य अपनी राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रति केवल सतही तौर पर जागरूक नहीं है, बल्कि मूलभूत प्रश्नों को उठा कर, गहराई से स्थिति का आकलन करने और स्वातंत्र्योत्तर नये राष्ट्रीय परिवेश में अपनी सार्थक स्थिति ढूँढ़ने के लिए गम्भीरता से सचेष्ट है।" ('कल्पना', जनवरी '५८) ।

नयी कविता के क्षेत्र में उन दिनों हलचल ज्यादा थी। स्वातंत्र्योत्तर प्रथम दशक के पूर्वार्ध की केन्द्रीय विधा निश्चय ही कविता ही रही। 'नयी कविता' नाम किसने दिया, यह प्रश्न भी प्राय: उठता रहा है। क्योंकि उसके पहले 'तार सप्तक' से शुरू होने वाले आन्दोलन को प्रयोगशील या प्रयोगवादी कहा जाता था। मेरी दृष्टि में 'नयी कविता नाम का औचित्य प्रमाणित करने का श्रेय भी अज्ञेय को ही मिलना चाहिए। अज्ञेय ने 'नयी कविता' शीर्षक एक ध्वनि वार्ता सन् ५२ के अंत में आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रसारित की। जो 'नये पत्ते' जनवरी-फरवरी १९५३ के अंक में छपी। उस वार्ता में 'अध्येता' अज्ञेय का वैसा ही समानान्तर व्यक्ति है जैसा कुट्टिचातन। अध्येता के कुछ वाक्य नयी कविता के नाम, रूप, लक्षण और गुणों पर वहुत अच्छा प्रकाश डालते हैं—"हम प्रयोगशील, प्रगतिशील आदि नहीं कहना चाहते। इसी से कहते हैं नयी कविता; क्योंकि प्रगतिवाद राजनीतिक बिल्ला है और प्रयोगवाद आक्षेप। नयी कविता, नयी मन:स्थिति का प्रतिबिम्ब है, एक नये मूड का, एक नये राग-सम्बन्ध का। नयी कविता की मूल विशेषता है मानव और मानव जाति का नया सम्बन्ध और वह मानव जाति और सृष्टि मात्र के सम्बन्ध के परिपार्श्व में।"

अध्येता ने इस वार्ता में स्पष्ट स्वीकार किया है—"लोकगीतों या लोकधुनों की ओर झुकाव यह उसकी (नयी कविता की) बहुत महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है, कारण चाहे राजनीति का जनवाद हो, चाहे अधिक आसान या अधिक गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले रूपाकारों की खोज।" (नये पत्ते, वही, पृ० ८८) मैं इस लोकवादी प्रवृत्ति पर पहले ही विस्तार से अपनी बातें कह चुका हूँ। मैं इसे स्वतंत्र भारत के आत्मान्वेषण का प्रयत्न ही कहना चाहूँगा। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति क्षीण होती गयी और नयी कविता नागर बोधों से स्वाभाविक परिस्थितियों के कारण आक्रान्त होती गयी। कालान्तर में

वह मात्र, या यों कहें, नगर के कुछ विशिष्ट खानों में ही सिमट कर रह गयी। परिणाम क्या हुए, यह आगे देखेंगे।

कहानी में नगर-बोध थोड़ा भिन्न ढंग से आया। यह स्वाभाविक था, क्योंकि वहाँ नगर-बोध के नाम पर बाह्य उपकरणों के अभिधार्थ में उपस्थित होने की संभावना और जोखम दोनों ही प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। यह क्या आकस्मिक है कि उस समय की अधिकांश चर्चित कहानियाँ जो नागर लेखकों ने लिखीं, नगर से उतनी सम्बद्ध नहीं थीं, जितनी व्यक्तिवादी आत्मीय मन:स्थितियों से। ये सभी-कहानियाँ नगर-बोध के तनाव से रहित, नगर के बाहरी हिस्सों से सम्बद्ध अथवा रम्य पहाड़ी स्थानों पर दुनिया की आपाधापी से अलग के वातावरण में घटित होती हैं। भारती की 'गुलकी बन्नो', राकेश की 'मवाली' या 'मलवे का मालिक', भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत', कृष्णा सोबती की 'बादलों के घेरे', राजेन्द्र यादव की 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' बहुत चर्चित और सशक्त कहानियाँ हैं। इनमें गुलकी बन्नो, मवाली, मलवे का मालिक, बादलों के घेरे को कोई भी नगरबोध की कहानी कहना नहीं चाहेगा। ये कहानियाँ डिप्टी कलक्टरी, गदल, हंसा जाई अकेला, रसप्रिया आदि के साथ आयीं और यदि सामूहिक दृष्टि से देखा जाए तो 'डिप्टी कलक्टरी' और चीफ की दावत' को छोड़कर जिनमें सामयिक यथार्थ का प्रभाव ज्यादा गाढ़ा है, किसी भी कहानी में आधुनिक तनाव नहीं मिलेगा। ये कहानियाँ अपने अछूते विषय, शिल्प की सरलता और ताज़गी तथा आस्था के स्वरों से स्पन्दित होने के कारण पसन्द की गयीं।

सन् १९५७ में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। राजनीति में आम चुनाव। साहित्य में इलाहाबाद का साहित्यकार सम्मेलन। राजनीति ने यह सिद्ध कर दिया कि जनता के सुख-दु:ख से उदासीन कांग्रेस एक ऐसी चट्टान है जिसे भारत की छाती से हटाना मुशकिल है। भ्रष्टाचारी, अत्याचारी, विलास-प्रिय, नक़ली चेहरों और मुखौटों को सत्ता मिली, जनता के हिस्से बेबसी, कातरता, ग़रीबी और उदासीनता। सन् १९५७ के चुनाव में हारने के बाद लोहिया ने, जो चुनाव के यंत्र में, पहली बार कूदे थे, लखनऊ जेल से १० दिसम्बर '५७ को उत्तर प्रदेश शासन के जेल मंत्री को एक पत्र लिखा। मेरा ख़याल है कि पिछले डेढ़ सौ वर्षों की भारतीय राजनीति में इतना तल्ख़, विद्रोहपूर्ण, साहसभरा, साथ ही दर्दनाक पत्र और कहीं नहीं मिलेगा। यह पूरा पत्र सत्ता से अलग रहने वाले भारतीय बौद्धिक की सख्त प्रतिक्रिया का बेहतरीन नमूना है। यह लघु पुस्तिका के रूप में 'वशिष्ट और बाल्मीकि' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। पूरा लेख सत्ता के प्रतीक नेहरू के विरुद्ध अंगार-वाणी में लिखा हुआ है। यद्यपि पत्र 'औरत शूद्र, हरिजन और मुसलमान' जैसी समस्याओं के इर्द-गिर्द ज़्यादा केन्द्रित है, किन्तु भारतीय जनता के मोहभंग और आक्रोश का प्रतिनिधित्व करने वाला ऐसा दस्तावेज़ अन्यत्र दुर्लभ है।

याद रखना चाहिए कि सन् ५७ में भारत को आज़ाद हुए सिर्फ़ दस वर्ष बीते थे, मामूली दस वर्ष, किन्तु इन्हीं दस वर्षों ने यह दिखा दिया कि अँधेरे में सदियों से तड़पती भारतीय जनता अभी मामूली सुबह ही देख पायी थी कि भ्रष्टाचार, स्वेच्छाचार, मिथ्याचार के बादल घिर आये। 'सुबह के बादलों' की यह घिनौनी छाया लोहिया को बर्दाश्त नहीं हुई। उन्होंने वशिष्टी ब्राह्मण की क्रूरता और छद्म मानवता को ललकारते हुए लिखा—"मातृहन्ता परशुराम से राष्ट्रहन्ता नेहरू तक कट्टर न्याय की वशिष्टी परम्परा है।''''मुझे इतना नहीं मालूम था कि क़रीब-क़रीब हर नगर में दुःख का इतना बड़ा आलम बना हुआ है जो जेल के बाहर हैं, उनका भी दुःख क्या कम है ? गुमटही के टँगरी हरिजन सात नवम्बर को भूख से मरे। सात दिन बाद उनका लड़का हरिशरण भी बिना खाये मरा। ऐसे हज़ारों बिना रोटी तड़प और मर रहे हैं। पेट की आग कभी सुबह और कभी शाम करोड़ों को झुलसा रही है। कहीं कोई माँ अपने बच्चों को ठीक कपड़ा न पहनाते हुए आँसू बहा रही है, कहीं कोई बाप अपने बच्चे को दवा न दे सकने या ठीक पढ़ा न सकने के कारण माथा ठोंक रहा है। ये दुःखी हैं। मैं भी दुःखी हूँ। हम दोनों के दुःख के कारण बहुत हद तक एक ही है।"

यह है मोहभंग का प्रथम आघात। नेतृत्व के प्रति, यानी नेहरू के प्रति उन्हीं के अन्तरंग मित्र और शिष्य लोहिया का प्रथम ध्वंसात्मक आक्रोश।

राजनीतिक धटना-तिथियों की तरह साहित्य के क्षेत्र में कोई सही काल-रेखा खींचना हमेशा खतरनाक होता है, पर यह क्या आकस्मिक है कि राजनीतिक में जिस प्रकार जमे हुए नेतृत्व के प्रति कठोर विद्रोह का स्वर उभर रहा था, उसी समय हिन्दी में 'धुरी-हीनता' का एक बहुत ही विस्फोटक प्रश्न खड़ा हुआ। राज्याश्रित, राज्य-सम्मानित अथवा जमे-जमाये प्रतिष्ठित बुजुर्ग साहित्यकारों के प्रति भयानक विद्रोह का भाव उन दिनों के साहित्य जगत् का अति चर्चित मसला था। बकौल धर्मवीर भारती—"पिछले कई वर्षों से हिन्दी में लेखक के स्वातंत्र्य, दायित्व, राष्ट्रनिर्माण, और राज्याश्रय आदि प्रश्नों पर जीवन्त वाद-विवाद उठते रहे हैं।" (कल्पना, जनवरी १९५८) लेखकीय स्वातंत्र्य का प्रश्न निःसंदेह नवलेखन के साथ जुड़ा हुआ रहा। यह प्रश्न मूलतः शिविरवादी प्रतिबद्ध साहित्य के विरुद्ध उठा। नवलेखन ने अपने को प्रगतिवादी, पार्टी नियंत्रित समूह मानवतावादी यांत्रिक साहित्य से अलग करने के लिए इस प्रश्न को ज्वलंत रूप देने का उपक्रम किया। और इसमें सन्देह नहीं कि उन दिनों इस प्रश्न को लेकर बहुत चर्चा हुई। आलोचना १६ का सम्पादकीय तथा उसी पत्रिका में 'प्रस्तुत प्रश्न' के अन्तर्गत इसी विषय पर रांगेय राघव, जगदीश गुप्त, अमृतलाल नागर, विद्यानिवास मिश्र, बच्चन, शिवचन्द्र शर्मा, बच्चन सिंह आदि के लेखों तथा टिप्पणियों में इसकी चर्चा देखी जा सकती है। मैं मानता हूँ कि यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा लेखकीय कर्म से पूर्णतया संसक्त, बल्कि यों कहें कि आधार-स्वरूप प्रश्न है और इस

विषय पर आयोजित तत्कालिक चर्चा ने साहित्यकार को लेखक की स्वतंत्रता का एक नया अर्थबोध दिया और आज यदि हिन्दी के नये लेखक में अपनी सत्ता और स्वतंत्रता के प्रति इतनी अडिग आस्था है, तो इसमें उक्त चर्चा का योग मानना ही होगा।

पर क्या आज यह प्रश्न निरर्थक हो गया ? क्या आज हिन्दी लेखक के स्वातंत्र्य को कहीं से ख़तरा नहीं है ? इसका सही उत्तर तो हिन्दी का या भारत का लेखक ही दे सकता है। जो भी हो, इतना जान रखना चाहिए कि लेखकीय स्वतंत्रता ईश्वर प्रदत्त अवदान नहीं है; बल्कि यह निरन्तर संघर्ष से हासिल और अनवरत अवधानता से सुरक्षित रखी जाने वाली वस्तु है। विश्व के विभिन्न भागों में होने वाली घटनाएँ मेरे कथन की पुष्टि करेंगी। आज का हिन्दी लेखक इस प्रश्न को स्वतः सिद्ध समाधान के रूप में मान रहा है, इससे मुझे बहुत हैरानी हुई। मुझे प्रसन्नता भी हुई कि कोई भी व्यक्ति इस दिशा में कोई ख़तरा महसूस नहीं करता। यह किस बात का सबूत है ? या तो अब यह प्रश्न बेकार हो गया है अथवा मूल्य-मूढ़ता और मूल्य-नकार के इस युग में इसका भी कोई मूल्य नहीं रहा ?

लेखक के दायित्व और राष्ट्रनिर्माण पर भी उन दिनों यानी सत्तावन के आस-पास और उसके पूर्व भी, खूब बहसें हुआ करती थीं। इलाहाबाद के साहित्यकार सम्मेलन में यह भी एक अहम विचारणीय मसला था। [देखिए, 'कल्पना' दिसम्बर ५७ साहित्य-कार सम्मेलन इलाहाबाद शीर्षक टिप्पणी] सन् सतावन तक यह सोचते रहना कि राष्ट्र-निर्माण में लेखक कोई योग दे सकता है, इस बात का सबूत है कि तब तक भी हिन्दी-लेखक राष्ट्र के प्रति उदासीन नहीं हुआ था। शीघ्र ही इस उदासीनता का विकास हुआ और लेखकों की आगामी गोष्ठियों में इस प्रकार के प्रश्न सूची से अलग कर दिये गये। आज के लेखक का राष्ट्र से तो दूर, समाज से भी कोई वास्ता नहीं रह गया है। लेखक का सामाजिक दायित्व के प्रश्न पर यशपाल और गंगाप्रसाद विमल को छोड़ कर किसी ने विचार करने की कृपा नहीं की। यानी दायित्व की पूर्ण अवहेलना हमारी बहुत बड़ी विशेषता हो गयी है। यह सब किन कारणों से हुआ, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

अब उस समय के सबसे अहम प्रश्न "राज्याश्रय और धुरीहीनता" पर आइए। यह एक बड़ा ही संजीदा और व्यक्तिगत सवाल है, किन्तु है, और साहित्य में, देशी विदेशी, सर्वत्र चर्चित होता रहा है। संज़ीदा इसलिए कि जब एक लेखक दूसरे की ईमानदारी, नौकरी, जीविका आदि पर आरोप करता है तो मामला सैद्धान्तिक घेरे से हट कर व्यक्तिगत धरातल पर आ जाता है। वह प्रश्न खुद में शाश्वत महत्त्व का होते हुए भी हिन्दी के प्रसंग में कितना निरर्थक था, इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि राज्याश्रय के विरुद्ध में सेठाश्रय और साम्यवादी शिविर के विरुद्ध अमरीकी शिविर के झण्डे हिन्दी में लहराने लगे हैं। हालाँकि अमूमन हिन्दी साहित्यकार को इन दोनों से कुछ लेना-

देना नहीं है, किन्तु परिस्थितियों के कारण और नपुंसक राष्ट्रीय नेतृत्व के चलते आर्थिक दबाव डालने की ताक़त इन शिविरों से सम्बद्ध व्यक्तियों के हाथों में आती जा रही है, परिणामतः हिन्दी का जीविका-सम्बल-हीन औसत साहित्यकार सद्यः मान प्रतिष्ठा, स्वीकृति, यश और आर्थिक सहायता पाने के लोभ में इस या उस शिविर के द्वार खटखटाने के लिए विवश होता है। धुरीहीनता के साथ एक पहलू और था। वह था नयी पीढ़ी के द्वारा पुरानी पीढ़ी के विरोध में विद्रोह।

धुरीहीनता पर सबसे तेज़ निबंध धर्मवीर भारती ने लिखा था जिसकी चन्द पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—"दायें हाथ में विद्रोह का पांचजन्य, बायें हाथ में आरती का थाल ('कल्पना' सितम्बर ५६, पृ. ८५) राज्याश्रय से विद्रोह भी, विधान सभा और पद्म-भूषण भी। न रीढ़, न धुरी, न दिशा, न विवेक, न लज्जा, न भय (वही पृ. ८६) यह धुरीहीनता मृतात्मा है। जो अभिशाप की भाँति डोल रही है। पुरानी गलियों में भी, नयी शहराहों पर भी। अतृप्त लिप्साएँ, अधूरे सपने, कुंठित वासनाएँ उसके रोम-रोम में कुलबुला रही हैं" (पृ. ८९)।

जब मैंने यह निबंध पढ़ा था, तो वाकई तिलमिला गया था। नयी पीढ़ी की ओर से बड़ी दो टूक बातें कही गयी थीं। भारतो ने इस निबन्ध से होने वाली प्रतिक्रिया का भी ज़िक्र किया था यानी बूढ़े लोग नये लोगों से यह सब सुन कर क्या कहेंगे—"वे आपको पलायनवादी कहेंगे, अनास्थावादी कहेंगे, अस्तित्ववादी कहेंगे, दूसरों को बताएँगे कि आप अहंवादी व्यक्तिनिष्ठ और जाने क्या हैं ?" (वही पृ. ८२)

यह निबंध मूलतया 'राष्ट्रवाणी', जुलाई १९५६ में निकला था। इससे ग्यारह वर्ष बाद एक और बहुत ही चर्चित और तेज़ निबंध कमलेश्वर का 'धर्मयुग' में "ऐय्याश प्रेतों का विद्रोह' शीर्षक से २८ मई १९६७ से अंक में आया। बल्कि यों कहें कि धारा-वाहिक छपा। मैं उस निबंध से, जिसे अपने बाद वाली यानी साठोत्तरी पीढ़ी के बारे में उन्होंने लिखा है, चन्द पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ।

"सत्ता, सरकार, संस्था, व्यवस्था से उसने (युवा पीढ़ी के कहानीकार ने) समझौता किया। (धर्मयुग २८ मई १९६७, पृ. ५२) ये रचनाकार स्वयं अपने बनाये व्यूह में घिर गये हैं और खुद इन्हीं के पात्रों की लाशों से वह पूरा मैदान पटा है जिन्हें इन्होंने मूल्यहीन झूठी लड़ाई के लिए सिरजा था। (वही, पृ. ५३) शब्दों को लेकर जो एक भयंकर अव्यवस्था पैदा होती है उसका जीवन्त प्रमाण इधर की तथाकथित इन अस्तित्व-वादी कहानियों में है, जिन्होंने प्रमाणिकता को तिलांजलि देकर एक निहायत गलीज़ और झूठी साहित्यिक प्रमाणिकता को अंगीकार किया है।" (वही, पृ. ५३)

निबंध के मुखपृष्ठ पर सम्पादक ने ऐसी कहानियों के लिए कुछ विशेषण दिये हैं, उन पर भी ग़ौर करें—"अभिशप्तता, ऐय्याशी, शोणित स्पृहा, दमित यौनाकांक्षा। कुंठा शब्द

तो खैर आपको निबंध में शताधिक बार मिलेगा ही। भारती ने पुरातनों की धुरोहीनता की ये विशेषताएँ बतायी थीं । राज्य के प्रति खुशामदी प्रवृत्ति, दिशाहीनता, नक़ली विद्रोह का पांचजन्य, ढोने वाले मृतात्मा (यानी प्रेत) अतृप्त लिप्साएँ तथा कुंठित वासनाएँ । इसे उन्होंने अभिशाप कहा था । कमलेश्वर ने युवापीढ़ी पर आरोप किया; राज्याश्रय से समझौते का, मूल्यहीन नकली लड़ाई का, (यानी पांचजन्य भी और आरती का थाल भी) यहाँ अतृप्त लिप्साएँ शोणित स्पृहाओं में, और कुंठित वासनाएँ, दमित यौनाकांक्षा में बदल गयी हैं । मृतात्मा और प्रेत दोनों जगह वर्तमान हैं ।

मैं इन दोनों ही निबन्धों की उपर्युक्त शब्दावली देख कर चकित हूँ । क्या भीष्म और अभिमन्यु को एक ही अस्त्र से नहीं मारा जा सकता ? भारती को डर था कि पुराने उन्हें अस्तित्ववादी और व्यक्तिनिष्ठ कहेंगे । कमलेश्वर नकली 'अस्तित्ववादियों' के रेशे-रेशे बिलगा रहे हैं । 'धुरीहीनता' के पीछे छिपी भारती की ईमानदारी और 'ऐश्याश प्रेतों का विद्रोह' के पीछे छिपी कमलेश्वर की ईमानदारी से मैं असहमत नहीं हूँ, पर पीढ़ियों के इस तनावपूर्ण नक़ली वातावरण से मुझे चिन्ता ज़रूर है । धर्मवीर भारती की 'धुरीहीनता' के लक्ष्य आज भी साहित्य में प्रत्यक्ष हैं । उनका कुछ नहीं बिगड़ा। कमलेश्वर के 'ऐय्याश प्रेतों' में से कितने सिद्ध बेताल बनकर अगले दशक पर छा जाएँगे, कौन जानता है ? ऐसी स्थिति में समयामयिक नवलेखन के लिए एक मंच की ज़रूरत है ,जहाँ मिल बैठ-कर लोग उस "जीर्णशीर्ण नौका" के बारे में सोचे, जिसमें हम सभी, पुरानी, मझली, नई पीढ़ी के लोग एकसाथ सवार हैं । क्योंकि यहाँ "भेरा देखा जरजरा, उतरि परे फरंक" की गुंजायिश नज़र नहीं आती । पर आज के साहित्य-कार को देश की "जर्जर नौका" पर सोचने में न रुचि है न फ़ुर्सत । इस प्रसंग में मैं श्री अमृतलाल नागर की ये पंक्तियाँ जो उन्होंने जून ५७ के 'क्षितिज' में कहीं थीं उद्धृत कर रहा हूँ—"यदि पीढ़ियों का संघर्ष मनुष्यता के प्रति आदर ईमानदारी की बात करके नहीं चलता, तब फिर स्पष्ट है कि एक दूसरे से चिढ़ते-चिढ़ाते, मारते-पीटते ही हम बढ़ेंगे, अपने को साहित्यिक कहते हुए भी साहित्य के उद्देश्य से उतना ही दूर रहेंगे जितना रात से सूरज दूर रहता है ।" ('धुरीहीनता' के प्रश्न पर रामबहादुर सिंह मुक्त का नागर से इण्टरव्यू, पृ० ११)

जनता की तरह आज का साहित्यकार भी देश की ओर से पूरा उदासीन है । इस उदासीनता का भी अपना इतिहास है । स्वातन्त्र्योत्तर दूसरे दशक का नवलेखन, चाहे उसे युवा लेखन कह लें, जो बुभुक्षित पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, प्रतिबद्ध पीढ़ी, युयुत्सावादी पीढ़ी, दुर्भिक्ष पीढ़ी अभिशप्त पीढ़ी, दिगम्बर पीढ़ी के नाम से या अ-विधात्मक अकविता, अकहानी आदि नाना प्रकार का आ रहा है, निश्चय ही प्रथम दशक के नवलेखन से अपना किंचित अलग रंग रखता है । इसे पैदा करने वाले कारणों को नवलेखन ४७-५७ के अन्तिम दौर की 'विचिकित्सा' में ढूँढ़ना चाहिए । मैं जान बूझ

कर इस टेढ़े शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ क्योंकि इससे मासूम कोई दूसरा शब्द इस वक्त नहीं उठ रहा है

पिछले नवलेखन ने स्वतंत्र चेतना, व्यक्तिवादी मूल्य, सांकेतिक शिल्प आदि का तो निर्माण किया ही था, उसने "धुरीहीनता," जैसे आन्दोलनों के माध्यम से साहित्य में उदात्त व्यक्ति के स्थान पर "सामान्य मानव" या कालान्तर के लघुमानव की प्रतिष्ठा की। यह समीकरण आपको लोहिया के पूर्व उद्धृत पत्र में (यानी लोहिया = टेंगेरी हरिज़न) बड़ा स्पष्ट मिलेगा, पर इन्हीं दोनों नवलेखन में कुछ अंध घाटियाँ और अंध मोड़ भी उपस्थित हुए। गुटबाजी का दौरा सत्साहित्य को दबाने और असत् तथा कूड़ा को ऊपर उठाने का कारण बनने लगा। इस गुटबाजी के सबसे महत् दो शिकार बने— मुक्तिबोध और शमशेर। दोनों मार्क्सवादी थे, पर दोनों से ही पार्टी का सौमनस्य नहीं रहा। दूसरी ओर का खेमा इन्हें बिरादरी से अलग मान कर कभी इन्हें उनका उचित प्राप्य देने को तैयार नहीं हुआ। 'कृति' के पहले ही अंक के श्रीकान्त वर्मा ने इस दोहरे चौकठे को तोड़ने के लिए करारा आघात किया। "समकालीन आलोचना : दो कुण्ठाएँ" शीर्षक उनकी टिप्पणी रचना और आलोचना के बीच व्याप्त भयंकर अन्तराल को बड़े साफ ढंग से सामने ले आती है : "दलगत स्वार्थ आलोचना को किस तरह कुंठित करता है, इसके प्रमाण पिछले दिनों मिलते रहे हैं। जहाँ प्रगतिवाद के प्रमुख आलोचकों ने साहित्यिक वैविध्य को कुछ सैद्धान्तिक आग्रहों के निर्मम लौह साँचे में कस कर, उत्तम और अनुत्तम जनवादी और प्रतिक्रियावादी घोषित करके सिद्ध कर दिया कि वे मनुष्य की आत्मा को कुचल कर लोहे के टुकड़े पूज सकते हैं, वहीं प्रगतिवादोत्तर काल की एक सैनिक प्रकृति की साहित्यिक संस्था के भाष्यकारों ने स्वयं को समकालीन रचना की बहुविधि महत्त्वाकांक्षाओं को "धुरी" जतलाते हुए प्रमाणित कर दिया कि युग अंधा हो या न हो 'युग' के भाष्यकार अवश्य अंधे हो सकते है।" ('कृति', अंक १ पृ० ६६) श्रीकान्त ने यह टिप्पणी 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य की दिशा' (रघुवंश, हिन्दुस्तानी) और 'समालोचक' अगस्त १९५८ के सम्पादकीय (रामविलास शर्मा) के विरुद्ध लिखी थी।

इस टिप्पणी के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि 'अंधायुग' पर आक्रमण किया गया है, जब कि टिप्पणीकार उपर्युक्त आलोचकों के परस्पर विरोधी अथवा तर्कहीन विचारों का विरोध करने चला था। 'अंधायुग' सन् '५७ से तीन-चार वर्ष पूर्व प्रकाशित कृति है और उसकी सबसे बड़ी खामी यही रही कि वह समय से पहले आ गयी, अन्यथा ५७ के बाद वाले साहित्यिक मोड़ का वह उपजीव्य ग्रंथ है, इसमें किसी को शक नहीं होना चाहिए। मूल्यों के संक्रमण और मूल्यान्धता के सारे बीज-बिन्दु जो इस दशक में घटित हो रहे हैं, 'अंधायुग' में विद्यमान थे ? फिर भी 'अंधायुग' '५८ में श्रीकान्त के क्रोध का पात्र इसलिए बना क्योंकि उन दिनों समीक्षा के क्षेत्र में फ़िरकापरस्ती का ऐसा क्रूर माहौल था कि किसी भी नये लेखक के लिए इस या उस खेमे की शरण लिये बिना

स्वीकृति पा सकता कठिन था। यहाँ श्रीकान्त की उक्त टिप्पणी का महत्त्व इसलिए भी है कि नयी पीढ़ी का लेखक दोनों खेमों से अपने को अलग-थलग रखना चाहता था। चाहे इसके लिए उसे दोनों के 'साधनों' से भले ही वंचित होना पड़े। यही ईमानदार विवशता आगे चलकर ढेरों लघु पत्रिकाओं के प्रकाशन का कारण बनी। उस समय के श्रीकान्त किसी व्यवस्था के अंग नहीं थे, इसलिए उनका दोनों शिविरों पर आक्रमण उस ऐतिहासिक नियति की शुरुआत हो जाता है जिसे आज की युवा पीढ़ी के बहुत से लेखक उन्हीं दवाओं के विरुद्ध लड़ते हुए झेल रहे हैं। शिविरों पर आक्रमण पुरानी पीढ़ी के लोंगों ने भी किये पर ये आक्रमण एकांकी थे। 'कल्पना' में श्री बालकृष्णराव का फ़रवरी ५७ में प्रकाशित, नयी कविता शीर्षक (आठ) निबंध परिमल के विरुद्ध है। खुद यशपाल ने "ऐं-ऐं का उत्तर" में ('नये पत्ते' जनवरी-फरवरी, ५३) प्रगतिवादी कठमुल्ला आलोचकों की खासी खबर ली थीं।

यशपाल ने लिखा था—"जो लेखक या आलोचक एक ही कुलांच में बिना किसी आत्मालोचना के अतिवाम पक्ष के मोर्चे के नेतृत्व पर चौकस खड़ा हो जा सकता है, उसे विचारक या चिन्तक नहीं कहा जा सकता। वह न तब ईमानदार था न अब। यह करतब केवल पटेबाजी या व्यर्थ ताल ठोंकने की हुंकार मात्र है। ऐसे ख़लीफ़ा कभी भूल स्वीकार नहीं करते, सदा भूल सुझाने का ही दंभ भरते हैं। आलोचना लेखक और साहित्यिक प्रगति के लिए बहुत सहायक हो सकती है, बशर्तें कि नियत नेक हो।" ('नये पत्ते', पृ० ५५) इनमें से एक 'खलीफ़ा' श्री अमृतराय को मार्च १९५९ तक आते-आते यह लगने लगा कि "लेखक समाज में चारों तरफ़ सौहार्द और आत्मीयता की कमी दिखाई देती है जो बहुत खकटने वाली चीज है।" उन्होंने कृति फ़रवरी-मार्च १९५८ की अपनी टिप्पणी "जितने पंडे उतने झंडे" में यह स्वीकार किया कि "साहित्य की सृष्टि में इस प्रकार की उन्मुक्त आत्मीयता और मैत्री के वातावरण का बड़ा विधायक हाथ हैं। आपाततः इसमें मुझे कोई संदेह नहीं।" (पृ. ६३)

आत्मीयता की बेहद कमी एक और लेखक को खटकी, जो बहुत महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि उसने बात शुद्ध साहित्यिक स्तर पर उठायी। "समकालीन साहित्य और आत्मीयता" शीर्षक प्रयाग शुक्ल की टिप्पणी 'कृति' जनवरी '६१ में छपी। लेखक ने बड़े दर्द के साथ लिखा—"किसी चीज़ का आत्मीय बन जाने या किसी चीज़ को आत्मीय बना लेने की एक स्वाभाविक इच्छा होती है और शायद यह इच्छा तब और भी प्रबल हो जाती है जब कोई अस्त-व्यस्त स्थिति में हो। आज की अस्त-व्यस्त स्थिति में कितने ही लोग हैं जो समकालीन लेखन से आत्मीयता बनाये रखना चाहते हैं....पर ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि कितने लोग हैं जो समकालीन साहित्य में इस आत्मीयता को ढूँढ पाते हैं)।" (पृ० ६८) आगे चल कर लेखक ने इसके कारण ढूँढ़ने के प्रयत्न किये हैं हालाँकि वह सब जगह अपने को वस्तुस्थिति के विश्लेषण मात्र तक सीमित रखने के

अनेकशः संकल्प करता है। इस आत्मीयता के अभाव का पहला कारण लेखक की दृष्टि से यह है कि "हिन्दी के अधिकांश रचनाकार छोटी बातों के खोजी कम हैं। दूसरा कारण लेखकों की "समकालीन समस्याओं और स्थितियों के प्रति उदासीनता" में ढूँढा जा सकता है। लेखक उदासीन है, और पाठक ? छोटे शहरों और क़स्बों के कितने ही युवा पाठक जो इस आत्मीयता के खोजी हैं, वे कई मानों में अकेले हैं, और कहीं पर अपना 'योग' न होता देख कर छटपटाहट से भरे हैं। धुरीहीनता, स्वार्थपरता, दलबन्दी, फ़िरकापरस्ती, आलोचना का शिविरवाद, आत्मीयता का अभाव और सबसे ऊपर "सम-कालीन स्थितियों के प्रति उदासीनता" यह सत्तावन के बाद वाले पंचवर्षीय नवलेखन के वातावरण का निर्माण करते हैं जहाँ पहुँच कर सब सच झूठ में और सारा झूठ सच का रूप ग्रहण कर लेता है। "झूठा सच" का इस वातावरण में सृजन इसी स्थिति का साक्ष्य उपस्थित करता है।

आधुनिकता आयी थी, मूल्य आये थे, व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर बहसें हुई थीं, लघुमानव का नारा उठा। जीर्ण-शीर्ण परम्परा से चिपकी तथा अनेक समस्याओं पर भीषण मत-भेद रखने वाली बेशुमार भारतीय जनता दिनों दिन अभिशाप के गर्त में गिरती गयी। पंचवर्षीय योजनाएँ असफल हुईं। ग़रीब निरन्तर ग़रीब, अमीर और भी अमीर होते रहे। अलगाव बढ़ता गया। स्वदेशी सिक्का और इन्सान सस्ते होते गये। अर्थ-व्यवस्था में अवमूल्यन और साहित्य में लघुमानव समानान्तर आये।

इस स्थिति से लोग तब परेशान भी हुआ करते थे। परम्परा के जीवित रेशों को कटते देख या आधुनिकता के नाम पर नक़ली फ़ैशनों को बढ़ते देख लोग तिलमिलाते थे, क्योंकि तब तक थोड़े-बहुत "आस्था के जीवाणु" विद्यमान थे। सितम्बर १९६० की 'कृति' के सम्पादक नरेश मेहता गेहूँ के ऋण पर जीने वालों को "विचारों का उपनि-वेश" बनने से रोकने के लिए पसीने से लथपथ दीखते हैं। उनकी दृष्टि में "यह मूल्य का संकट है, शील का संक्रमण है, जिसका उत्तर प्रत्येक जाति को अपने इतिहास के क्रम से ढूँढ़ना होगा।" ठीक दो महीने बाद की 'कृति' में ही दूसरे सम्पादक श्रीकान्त वर्मा "आधुनिकता के जन्म का मरसिया" पढ़ते हैं—"हर समाज में कुछ असंतुष्ट व्यक्ति हुआ करते हैं, वे समय-समय पर मनुष्यता को आत्महत्या से उबारने के लिए 'एकान्त नाद' किया करते हैं....अगर आज की दुनिया (आत्महत्या की दुनिया) में थोड़ा बहुत भी अर्थ कहीं है तो इस प्रकार की पुकारों में है, शेष सभी वस्तुएँ अर्थहीन हैं।" (पृ० ७०) आगे चल कर श्रीकान्त वर्मा 'एकान्त नाद' करते हुए कहते हैं—"महाजनों के जन्म के पूर्व उनकी मृत्यु की सूचना यात्रा करती है। हमारे देश में आधुनिकता के पूर्व आधुनिकता की विकृति आयी है (पृ० ७१) यह विकृति है समृद्ध किन्तु औद्योगिक दबावों से मनुष्य को परिधिग्रस्त स्वाधीनता देने वाले पश्चिम की 'जीवन की सुविधा को ही लक्ष्य' मानने वाली स्थिति का भारत में निराधार आरोपण। हिन्दी में आधुनिकता

के नाम पर जो कुछ रचा जा रहा है वह इसी अर्थहीन स्वाधीनता की देन है। बल्कि यह अधिक घटिया धरातल की सृष्टि है।" (पृ. ७३) श्रीकान्त इस दरिद्र, मृत्यु से जूझते देश को "विकृति आधुनिकता की दूसरी मौत" से सावधान करते हुए लिखते हैं—"विपन्न समाज अपनी साधनहीनता से, दैन्य से, मृत्यु से जूझ रहे हैं, मगर वे नहीं जानते कि वे एक मृत्यु से निकल कर दूसरी मृत्यु के मुँह में जा रहे हैं। क्या मनुष्यता का भाग्य चेसमेस के भाग्य की तरह एक मृत्यु से दूसरी तक यात्रा करता रहेगा ?" (पृष्ठ ७३) श्रीकान्त आधुनिकता को एक अभिनव सौन्दर्यशास्त्र देना चाहते हैं, पर पश्चिमी कैक्टस के माध्यम से नहीं।

मैं नहीं जानता कि हिन्दी का पाठक सन् '६० के श्रीकान्त और '६८ के श्रीकान्त में कोई अन्तर ढूँढ़ेगा या नहीं, पर इतना साफ़ है कि सन् साठ के श्रीकान्त जिस आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की बात कर रहे थे, वह यहाँ अभी तक अणु मात्र भी विकसित नहीं हो पाया है। इसी बीच '६२ में चीन के भयानक आक्रमण ने दूसरे दशक के पूर्वार्ध की समाप्ति की घोषणा कर दी।

चीनी आक्रमण ने हमारी 'प्रतिष्ठा', जो कुछ भी रही-सही थी, चूर-चर कर दी। नेहरू की मृत्यु ने राष्ट्र को नेतृत्वविहीन जंगल में ला कर छोड़ दिया। इस छोटे अर्से में यानी पाँच वर्षों के भीतर एक और युद्ध, एक और प्रधानमंत्री की मृत्यु। लगातार अकाल, लगातार भिक्षा-वृत्ति। लगातार ऋणदाताओं के दबाव और ठोकरें, यानी पिछले पाँच वर्षों का भारत फुटबाल की तरह इस शिविर से उस शिविर के बीच ठोकरें खाता लुढ़कता रहा है।

बहुत से लोग युवा पीढ़ी के, यानी तथाकथित साठोत्तरी पीढ़ी के लेखन के आरंभ का श्रेय चीनी आक्रमण को देना चाहते हैं। ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि वह परिवर्तन जो आज के युवालेखन का आधार बना, सन् ५७ के आस पास से नाना रूपों में प्रकट होने लगा था। यदि चीनी आक्रमण न भी हुआ होता तो भी युवालेखन का अधिकांश रूप ऐसा ही रहता। हमारे साहित्यिक इतिहास में ऐसा ही एक समानान्तर दृष्टिदोष पहले भी घटित हुआ है—यानी भक्ति-आन्दोलन को मुसलमानी आक्रमण का परिणाम समझने में। मैं यह बात केवल बाह्य घटना की तुलनादृष्टि से कह रहा हूँ। युवालेखन को भक्ति-आन्दोलन समझने की ग़लती अति बुद्धिमान ही करेंगे। युवालेखन को चीनी आक्रमण से सम्बद्ध करने के पीछे यदि कोई राजनीतिक उद्देश्य न हो तो इतना सहज ही माना जा सकता है कि इस आक्रमण ने युवालेखन की आधारभूत स्थितियों को और भी अधिक तीव्र और सघन बनाया; किन्तु चीनी आक्रमण के साथ युवालेखन को सम्बद्ध बताने वालों के मन में राजनीतिक पूर्वग्रह है, यह बात उस समय भले ही बहुत साफ़ ढंग से प्रकट न होती रही हो, आज प्रकट होने लगी है और युवालेखन को साम्यवादी पार्टी के निकट ले आने की अनेकश: कोशिशें नाना छद्म-अछद्म रूपों में

ज़ारी हैं। ऐसी कोशिशें दूसरी पार्टियों की ओर से भी की जाती हैं, मैं इससे इनकार नहीं करता। युवालेखन को निराला, मुक्तिबोध के साथ जोड़ने का प्रयत्न ऊपर-ऊपर से एक मासूम साहित्यिक कथन मात्र लगता है, पर इसके भीतर का मन्तव्य स्पष्टतः यह है कि निराला और मुक्तिबोध दोनों ही प्रगतिशील थे, मुक्तिबोध तो पार्टी से सम्बद्ध भी रहे, इसलिए इनके उत्तराधिकारियों को कहाँ खड़ा होना चाहिए। यह प्रयत्न अब किसी से भी छिपा नहीं है। निराला प्रगतिशील थे, पर आध्यात्मवादी आरंभ में भी रहे और अंत में भी। मुक्तिबोध प्रगतिशील थे, पर हमेशा प्रगतिशील आलोचकों से उपेक्षित भी रहे। आज अचानक मुक्तिबोध और निराला के प्रति फूटने वाला 'स्नेह-निर्झर' राजनीतिक दुरभिसंधि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

युवालेखन मूलतः अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराविरोधी सैलाब का भारतीय रूपान्तर मात्र है, जिसका मूल स्वर नितान्त वैयक्तिक और अराजकतावादी है। यह अराजकतावाद अनुशासन को मूलाधार मानने वाली राजनीतिक पार्टियों के ठीक विपरीत पड़ता है पर यह अराजकतावाद भी पार्टी-अभिप्राय न्यस्त व्यक्तियों के लिए काम्य कार्यक्रम का अंग बन जाता है, क्योंकि भारत में, आज की स्थिति में उत्पन्न 'अराजकतावादिता' को लोग वामपंथी क्रान्ति का पूर्वाभास मानते हैं। हालाँकि युवालेखन की अराजकता-वादिता इस तरह के पार्टीबाज अभिप्रायों और उद्देश्यों से कोई खास सम्बन्ध नहीं रखती। युवा लेखक, मूल्य, दायित्व, उद्देश्य आदि के पुराने नारों के प्रति जितना भी उदासीन हो, वह अपनी स्वतंत्रता के प्रति बिचली पीढ़ी से भी अधिक ज़िद्दी है, इसे भूल कर उन्हें 'प्रतिबद्ध' बनाने की साजिशें व्यर्थ हो रही हैं, यह देख कर आज के पार्टी-बाज नवालोचक बहुत परेशान नज़र आते हैं। मैंने बहुत पहले कलकत्ते के कथा-समा-रोह में युवालेखककों की व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रति अभीप्सा की प्रशंसा की थी। ऐसे लोगों को अनावश्यक रूप से अपमानित करके बिचली पीढ़ी के नेता यानी 'धर्मयुग' और 'सारिका' जैसे पत्रों के सम्पादक इन्हें जिस दिशा में धकेलने की आत्मघाती कोशिश करते हैं, इसे समझाने की ज़रूरत नहीं। ऐसी स्थिति में भी युवा लेखक किसी भी दल का यदि पिछलग्गू बनना नहीं चाहता, या अपने आत्मनिर्णय के अधिकार को बंधक रखना पसन्द नहीं करता तो यह उसकी जागरूक चेतना का प्रमाण है। यह एक बहुत स्वस्थ लक्षण है, इसी कारण से इधर कुछ महीनों से युवालेखन को विभक्त करने और उन्हें परस्पर युद्धरत कराने की अनेक टुच्ची कोशिशें भी की जाने लगी हैं।

मेरे उपर्युक्त विश्लेषण से यह ग़लतफ़हमी नहीं होनी चाहिए कि मैं साहित्यकार की प्रतिबद्धता या किसी राजनीतिक दल के प्रति उसकी आस्था का विरोधी हूँ। मैं राजनीतिक चेतना रखने वाले ईमानदार साहित्यकारों की क़द्र करता हूँ। मेरे लिए राहुल, यशपाल, अभिनन्दनीय हैं, क्योंकि वे साफ़ और ईमानदार रहे। मैं तो उस माहौल का जिक्र कर रहा हूँ जहाँ ग़लत प्रतिबद्धताओं के जाल में लोगों को फँसाने की

साजिश की जा रही है। इस विषय पर बहुत दो टूक बातें श्री सकलदीप सिंह ने 'नई धारा' सितम्बर ६० की अपनी टिप्पणी "समसाकयिक आलोचना : कुछ प्रतिक्रियाएँ" में प्रस्तुत की हैं। मैं उनके अन्तिम वाक्य उद्धृत कर दे रहा हूँ—"जो प्रतिबद्ध (पार्टियों से) सही रूप में हैं, या उसे अपने हित की ओट बनाए हुए हैं वे किसी लेखक के निजीपन को नहीं पहचान सकते, वे अपराधी होते हैं और आलोचना के क्षेत्र में लेखकों के निजीपन का क़त्ल करते हैं।" (पृ० ४६) ये तल्ख पंक्तियाँ राजकमल की 'राजनीतिक घृणा' को न समझ कर उसे राजनीतिक प्रतिबद्ध आलोचकों ने अपने प्रति व्यक्त—'राजनीति-प्यार' के रूप में घोषित कर जो व्यापार किया है, उसकी प्रतिक्रिया में कही गयी हैं। राजकमल ने स्पष्ट घोषित किया था—"राजनीति किसी भी मूल्य और संस्कार पर विश्वास नहीं करती है। मसीहाई कम्यूनिज्म करे या आधुनिक पश्चिम का औद्योगिक उपनिवेशवाद, आदमी को अपनी तबीयत और अपनी क़ीमतों के साथ जीने की स्वाधीनता नहीं मिल सकती।" 'लहर' फ़रवरी, १९६८, [साठोत्तर पीढ़ी का घोषणापत्र]

साठोत्तरी पीढ़ी की इस चेतना की मैं बहुत बड़ी उपलब्धि मानता हूँ, यद्यपि इधर मुझे अब यह शंका होने लगी है कि इसमें 'चौथे दरवाजे' से आने वाले एजेण्ट आलोचक काफ़ी कुछ मतभेद, बिलगाव और गड़बड़ी पैदा कर रहे हैं।

युवालेखन की सबसे बड़ी उपलब्धि भाषा-विषयक है। इस आन्दोलन ने भाषा को नंगी करके, उसके ऊपर पड़े सदियों के आवरणों को चीर कर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वही प्रवृत्ति निःसन्देह' ६२ के बाद अपने पूरे जोश-खरोश के साथ उभरी है। विशेषणों को तोड़ने वाली इस प्रवृत्ति को भी कुछ लोग चीनी आक्रमण की ही देन कहते हैं। विशेषण विशेष्य को विशिष्ट बनाता हैं, किन्तु उस युग में जहाँ विशिष्टता तानाशाही का रूप लेने लगे, न्याय, सत्य, ईमानदारी तिरस्कृत हों, भ्रष्टाचार, भुखमरी का बोलबाला हो, तो जनता की आत्मा का कुंभीपाक अपने आप विस्फोट करता है। सभी विशेषण उसी धक्के से टूटते हैं। किसान, मज़दूर, बाज़ार में काम करने वाले सभी तरह के सामान्य व्यक्ति अपने हृदय के आक्रोश को अपनी भाषा में व्यक्त करने लगते हैं। साहित्यकार की भाषा की हदबन्दी टूट जाती है। जनभाषा अपने पूरे आक्रोश के साथ समुत्थित हो कर साहित्यभाषा में प्रविष्ट हो जाती है।' ६२ के चुनाव के बाद डा० लोहिया संसद के सदस्य हुए। लोहिया की खरी, सपाट, सीधी भाषा से नेहरू तिलमिला उठे। उस हाल का बयान लोहिया के ही शब्दों में सुनिए—"प्रधानमंत्री खुद बोले—यह क्या बात है। जो लोग बाज़ार में बोलते हैं, वे यहाँ आ गये हैं। हमने कहा, यही तो हमारी तारीफ़ है कि जो हम बाज़ार में बोलते हैं, वही हम यहाँ बोलते हैं। तुम्हारे जैसे हम बेईमान नहीं हैं, दो जीभ वाले। और बाज़ार की बोली तो बड़ी साम्य बोली होती है, सच्ची, सीधी, ईमानदार। जो आदमी बाज़ार की निन्दा करे,

समझ लेना उस आदमी में कहीं न कहीं खराबी है, बाज़ार, खेत, दुकान, मैदान, कारखाना इन्हीं की बदौलत हिन्दुस्तान में, दुनिया में, अच्छा इन्तज़ाम होता है, क्रांति होती है, बदलाव होता है ।" (सरकारी मठी और कुजात गाँधीवादी, पृ० ८)

यह था बाज़ारू सपाट भाषा का भारतीय संसद पर पहला आक्रमण । यही है युवा-लेखन की भाषा की पृष्ठभूमि । लोहिया की भाषा ने मर्यादा, चाकचिक्य, लागलपेट के साथ बोली जाने वाली कृत्रिम भाषा के चौखटे को तोड़ दिया । एक निश्चित रूढ़ि में बँधी हुई संसदीय भाषा की मर्यादा ध्वस्त हुई । इस युग की भाषा इसी साफ़गोई की देन है । यह बात आज के अध्यापकीय आलोचना के दावेदारों की समझ के परे है जो आज भी भाषा का अध्ययन सदियों पुराने सड़े हुए सौन्दर्यशास्त्रीय मानदण्ड के सहारे करना चाहते हैं । "अमूर्तन और विरूपीकरण के साहसिक प्रयोगों के सानुपातिक मिलावट के" हिमायती असल में 'दो जीभ' के हिमायती हैं जो यह नहीं जानते कि नंगी, बाज़ारू, सपाट भाषा का अपना एक अलग सौन्दर्यशास्त्र है, वे बकौल मुक्तिबोध 'जड़ सौन्दर्य शास्त्र' के शिकार हैं । ऐसे लोग कविता और गद्य की भाषा में मिलावट को बहुत बड़ा उद्देश्य मान कर चलते हैं । मिलावट हमेशा ही मिलावट होती है, असलियत नहीं । जो आदमी गद्य और पद्य के मोटे अन्तर को ही भूल गया है उससे यह आशा करना व्यर्थ है कि नये युग में कविता की भाषा की 'विशिष्टता' भी टूट रही है और अब कविता की भाषा के क्षेत्र में भी चित्रकला की ही तरह 'अमूर्तन' का नहीं 'सूक्ष्म प्रतिमूर्तन' का युग आ गया है । कविता की भाषा गद्य के निकट आती जा रही है । केदारनाथ सिंह का यह कथन प्रामाणिक है कि वह "ब्रेख्त और काफ़्का की गद्यात्मक मनोभूमि के निकट पहुँचने का प्रयास कर रही है ।" ('धर्मयुग' ४, जुलाई १९६५, पृ० १७) यह याद रखना चाहिए कि ब्रेख्त और काफ्का कहीं भी गद्य में पद्य की मिलावट नहीं करते, वे इतना सीधा, तेज़ और तीखा गद्य देते हैं जो अपनी सूक्ष्म अर्थवत्ता के कारण कविता की उपलब्धियों को अतिक्रान्त कर जाता है यानी वह कविताहीन गद्य उच्च कविता-पंक्ति से भी अधिक प्रभावपूर्ण हो उठता है ।

'अज्ञात युद्धबन्दी' की अतिअमूर्त मूर्ति बना कर १९५३ में रेग बटलर ने विश्व पुरस्कार प्राप्त किया था और वह मूर्ति सृजन से इतनी वंचित थी, ऐसा था अमूर्तन कि पत्थर के एक टुकड़े को ही मूर्ति यानी मूर्तन समझ लिया गया था । परिणामतः उसकी प्रतिक्रिया में अमूर्तकला को कला से खारिज़ कर दिया गया । आज की भाषा के सामने अमूर्तन या विरूपीकरण के सानुपातिक मिलावट की नहीं, नंगी बैलोस भाषा में अधिक से अधिक सांकेतिक प्रेषणीयता ले आने की समस्या है । यही माध्यम की सीमाओं को, अतिक्रांत करने की भी समस्या है, जो हर लेखक के सामने चुनौती बन कर आती है,

● ●

आंचलिकता और आधुनिक परिवेश

●

आंचलिकता शब्द हिन्दी में सन् १९५२-५३ के आसपास प्रयुक्त होने लगा और यह धीरे-धीरे इतना व्यापक और लोकप्रिय हुआ कि इनसे एक साहित्यिक आन्दोलन का रूप ले लिया। यह शब्द मूलतया कथा-साहित्य ही एक समसामयिक धारा के लिए इस्तेमाल किया गया, किन्तु इसका प्रभाव उसी तक सीमित नहीं रहा। रेणु के 'मैला आँचल' का आँचल इसकी मुद्रिता में कितना सहायक हुआ, यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु रेणु के इस उपन्यास ने आंचलिकता को एक ठोस आधार ज़रूर प्रदान किया। रेणु के इस उपन्यास का प्रभाव ही था कि 'आंचलिकता' शब्द के अन्दर अतिव्याप्ति-दोष का प्रवेश हुआ और इसकी सीमा में न केवल स्थानीय रंग से भींगी रचनाएँ, बल्कि शुद्ध ग्राम-कथाएँ तक समेट ली गयीं। परिणाम यह हुआ कथा-साहित्य में नगर-जीवन से भिन्न वस्तु पर लिखी गयी कोई भी रचना आंचलिक मान ली गयी। रेणु, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय राघव, बलभद्र ठाकुर, हिमांशु श्रीवास्तव, केशव प्रसाद मिश्र, ओंकार, मार्कण्डेय, रामदरश मिश्र, राजेन्द्र अवस्थी, शानी, शैलेश मटियानी आदि अनेक कथाकार इस धारा के अन्तर्गत परिगणित किए गये। यह किसी ने नहीं सोचा कि आंचलिकता के भेद, रूप और सीमा को दृष्टि में रख कर इनकी रचनाओं के विश्लेषण और पुनः श्रेणी-बन्धन की आवश्यकता भी है या नहीं।

आंचलिकता का असर कवियों पर भी पड़ा। आज के अनेक आधुनिक कवि शुरू-शुरू में इस आंचलिकता से प्रभावित रहे। 'पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री' [भवानी प्रसाद], पिया पानी बरसा [अज्ञेय], डोला रुके अमवा तले [भारती] में तथा नरेश मेहता के अनेक गीतों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती हैं। 'अज्ञेय' की कविताओं में आंचलिक तत्वों के अनेक संकेत-प्रमाण मिलते हैं। कुछ कवि ऐसे भी थे जो पूर्णतः आंचलिक थे और बाद में धीरे-धीरे उस जीवन से विछिन्न होने के कारण अथवा सचेष्ट रूप से उससे विलग होने के उद्देश्य से आधुनिकता की ओर झुकते गये। केदारनाथ सिंह इनके प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। केदार के आरम्भिक गीतों में आंचलिकता का बहुत ही हृद्य रूप समाविष्ट था। शंभुनाथ सिंह, रवीन्द्र भ्रमर, महेन्द्र शंकर, रामदरश मिश्र, चन्द्र मौलि उपाध्याय, आदि कवि आज भी इन दोनों प्रभावों को एक साथ ढोते दिखाई पड़ते हैं। इस आंचलिकता का आकर्षण इतना तीव्र था कि ठाकुर प्रसाद सिंह ने सन्थाली लोक गीतों के कुछ तत्त्व लेकर 'वंशी और मादल' के नये स्वरों की सृष्टि की। आंचलिकता जिस प्रकार कथा-साहित्य में धीरे-धीरे-धीरे धरती की सोंधी

गन्ध और क्षेत्रीय जीवन के स्पन्दित यथार्थ से कट कर 'फैशन' का शिकार बनी, उसी प्रकार कविता के क्षेत्र में भी इसमें गिरावट आयी और अनेक कवि इसके ऊपरी रूप, विचित्र शब्दजाल, और चित्रात्मक दृश्य वर्णनों का आधुनिक मनोभावों के साथ घाल-मेल करते रहे।

चित्रकला के क्षेत्र में यामिनी राय ने बहुत पहले लोक तत्त्वों को प्रश्रय दिया था, पर बाद की इस साहित्यिक आंचलिकता ने चित्रकारों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया। मिट्टी के खिलौनों, गाँवों में उत्सव-पर्व के अवसरों पर बनने वाली अल्पनाओं, कोहबर तथा भित्तिचित्रों से प्रेरणा लेकर अनेक चित्रकारों ने नयी ख़मीर को चुनौती स्वीकार करने का आभास दिया। काशी शैली की चित्रकला का लघु-निर्बल आन्दोलन इस तरह की मनोभावनाओं का ही परिचायक है।

रंगमंच और चलचित्र जगत् में भी यह आंचलिकता प्रविष्ट हुई। और इसका एकदम भद्दा रूप भोजपुरी चित्रों में उभर कर सामने आ रहा है। भारतीय संगीत में इसका रूप स्पष्ट ही है।

इस प्रकार आंचलिकता का आन्दोलन हिन्दी क्षेत्र के सांस्कृतिक जीवन के सामयिक पहलू पर प्रकाश डालता है। यह आन्दोलन केवल हिन्दी क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा। भारत की सभी भाषाओं में आंचलिक कथा-साहित्य लोकप्रिय हुआ है और चर्चा और विवाद का विषय बना है। इसलिए इसके सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है। यह आवश्यकता कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए भी हो जाती है कि पिछले दशक के इस व्यापक आन्दोलन में, न केवल ह्रास के चिह्न उदित हो रहे हैं, बल्कि अनेक क्षेत्रों में यह अंतिम साँसें तोड़ रहा है। इसलिए हमारे सामने विचार-आरम्भ के लिए दो प्रश्न खड़े होते हैं—(१) यह आन्दोलन किन परिस्थितियों की देन था (२) इसमें ह्रास या स्थिरता क्यों आयी ?

इन दोनों प्रश्नों पर विचार करने के पहले हमें 'आंचलिकता' शब्द का अर्थ और उसकी सही सीमाओं का ज्ञान भी होना ही चाहिए। जैसा इस शब्द से स्पष्ट है, यह भाव-संज्ञा किसी क्षेत्र या अंचल से सम्बद्ध है। क्षेत्र या अंचल उस भौगोलिक खण्ड को कहते हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और विशिष्ट एक ऐसी इकाई हो जिसके निवासियों के रहन-सहन, प्रथाएँ-उत्सवादि, आदर्श और आस्थाएँ, मौलिक मान्यताएँ तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ परस्पर समान और दूसरे क्षेत्र के निवासियों से इतनी भिन्न हों कि इनके आधार पर यह क्षेत्र या अंचल विशेष इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों से एकदम अलग प्रतीत हो। इस प्रकार के अंचल या क्षेत्र के जीवन को अभिव्यक्त करने वाली रचना को हम आंचलिक कह सकते हैं।

आंचलिक लेखक के पक्ष की सबसे बड़ी दलील यह हो सकती है कि आंचलिक

जीवन की अभिव्यक्ति उसकी अनिवार्यता है। वह अपनी रचनाओं में वातावरण का महत्त्व स्वीकार करता है। यह वातावरण न केवल लेखक को, बल्कि पाठकों को भी निरन्तर प्रभावित करता रहता है। इसलिए आंचलिक लेखक का यह विश्वास होता है कि वह अपने को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से तभी व्यक्त कर सकता है जब उसका वातावरण, उसकी जनता और स्थान उसके माध्यम से, उसके भीतर से अपने को अभिव्यक्त कर सकें। इस मान्यता के विरोध का कोई कारण पैदा नहीं होता। प्रश्न यह है कि यह उद्देश्य रचनाओं में अभिव्यक्त होकर क्या शक्ल लेता है और इस प्रकार की रचनाएँ मनुष्य की प्रगति-यात्रा में कितनी सहायक हो सकती हैं।

यहाँ पर संक्षेप में विश्व के दूसरे क्षेत्रों में घटित ऐसे आन्दोलनों की चर्चा अनुपयुक्त न होगी। आंचलिकता का आन्दोलन सर्वाधिक व्यापक, शक्तिशाली और सुगठित रूप में अमरीकी साहित्य में दिखाई पड़ता है। आदम और मूर की आलोचना पुस्तक 'अमेरिकन रीज़नलिज़्म' इस बात का साक्ष्य देती है कि अमरीकी साहित्य में कम से कम २,००० विशिष्ट आंचलिक कृतियाँ रची गयीं। अमरीका का भूभाग, उसमें भी दक्षिण का हिस्सा, आंचलिक कथाओं के लिए कई कारणों से बड़ा उर्वर क्षेत्र रहा। उत्तरी अमरीका की संस्कृति और नागर जीवन प्रणाली के विरोध में दक्षिण के कृषि-प्रधान इलाक़ों में यह आन्दोलन पनपा। डोनाल्ड डेविड्सन, एलेन टेट, और जान क्रो रैन्सम आदि इस आन्दोलन के नेता थे। आंचलिकता का पूरा सिद्धांत और चिन्तन उनको मशहूर रचना 'आइ विल टेक माई स्टैंड' में उपस्थित हुआ। इस आंदोलन को नव क्षितिज आन्दोलन [न्यू फ्रन्टियर्स मूवमेण्ट] भी कहते हैं। इन लेखकों का कहना था कि अमरीकी राष्ट्रीयता और सार्वभौम संस्कृति के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्रीय जीवन की सारी विशिष्टताओं को उभार कर सामने रखा जाए। इन लोगों ने नगर आधिपत्य, औद्योगीकरण से उत्पन्न एकरूपता, तथा सत्ता के केन्द्रीकरण के विरोध में इस आन्दोलन के औचित्य पर ज़ोर दिया। उनका यह भी कहना था कि आधुनिक यूरोप की, विशेषतया फ्रांस से आयात की हुई, आधुनिकता हमारी संस्कृति को नष्ट कर रही है। इसलिए यूरोपीय संस्कृति के प्रति अन्ध श्रद्धा के भाव को ध्वस्त करने के लिए भी इस आन्दोलन के औचित्य पर ज़ोर दिया गया। प्रसिद्ध समाजशास्त्री बीयर्ड्स ने अपनी पुस्तक "राइज़ आफ अमेरिकन सिविलिज़ेशन" में लिखा कि आंचलिकता का आन्दोलन उस एकरसता का विरोधी था जो हमारे राष्ट्रीय जीवन, संस्कृति और सभ्यता में निरन्तर घर करती जा रही थी तथा अनवरत गहरे से गहरे उतरती जा रही थी। इसी कारण अमरीका की वास्तविक परम्परा की खोज अंचलों के लोगों के उस जीवन के भीतर ही की जा सकती थी, जो विदेशी प्रभाव से कम से कम प्रभावित था।

यह आन्दोलन वहाँ भी केवल कथा-साहित्य तक ही सीमित न था। वहाँ यह "नयी कविता" का आन्दोलन भी कहा गया। रोबर्ट फ्रास्ट, एडविन एर्लिग्टन, राबिन्सन

वेशेल लिन्डसे, एडगर ली मास्टर्स आदि इस आन्दोलन के प्रेरक थे। इन कविताओं को बढ़ावा देने के लिए १९१२ ईसवी में शिकागो से 'पोयट्री' नामक पत्रिका निकली। 'सेवन आर्ट्स', 'द डबल डीलर्स', 'फुजिटिव', और 'पाम' इस आन्दोलन की दूसरी पत्रिकाएँ थीं। ताओस, सान्टा फे, ओक्लाहोमा, मोनटाना, उत्तर कोरोलिना के विश्वविद्यालय इस आन्दोलन के प्रमुख केन्द्र थे।

इस आन्दोलन के पक्ष-विपक्ष में अनेक मत हैं। प्रो० पर्सी होम्स वायन्टन ने "अमेरिका इन कण्टेम्परेरी फिक्शन" में यह मत व्यक्त किया कि सारा आधुनिक अमरीकी साहित्य किसी न किसी रूप से आंचलिकता से जुड़ा हुआ है। फ्रेडरिक जैक्सन टर्नर ने अमरीकी जीवन में "न्यू फ्रण्टियर्स" आन्दोलन को नयी शक्ति और संगठन का कारण बताया। वर्नर लूइस पैरिंग्टन ने, "मेन करेण्ट्स इन अमेरिकन थाट्स", १९२७, में यह मत व्यक्त किया कि आंचलिकता के आन्दोलन ने पूरे राष्ट्र की स्पष्ट संस्कृति के निर्माण में सहायता की है।

जर्मनी में एडोल्फ बार्टिल्स और एफ़० लीनहार्ड ने १९००–१९०४ के बीच 'हीमेत' पत्रिका के माध्यम से एक आन्दोलन चलाया, जिसका मुख्य नारा था "धरती की ओर लौटो।" बाद में यह अत्यन्त रूढ़िग्रस्त होकर नाज़ी आन्दोलन के साथ सम्बद्ध हो गया।

फ्रांस में खुद आंचलिक आन्दोलन की नींव पड़ी। हेनरी पौरेट ने इस आन्दोलन को अरूपीकरण का विरोधी बताया। इटली में मैसिमो वोतेम्पेली ने आंचलिकता को बढ़ावा दिया और इसे नवयूरोपीयतावाद के विरोध में उत्पन्न स्वाभाविक प्रक्रिया कहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अमरीका और यूरोप में इस आन्दोलन के उद्देश्य और औचित्य पर जो कुछ कहा गया है उसकी दो परिणतियाँ हैं : एक प्रतिक्रियात्मक, दूसरी, रचनात्मक। पहली यह कि आंचलिकता मशीनी जीवन, नागर सभ्यता की एकरसता और एकरूपता के विरोध में उत्पन्न प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन है। दूसरी यह कि अमरीका में इसका रचनात्मक उद्देश्य एक सार्वभौम अमरीकी संस्कृति और सभ्यता का अन्वेषण था।

हिन्दी में आंचलिकता के आन्दोलन का उद्देश्य क्या था, यह कहना कठिन है। क्योंकि आंचलिकता यहाँ एक स्थिति बन कर ही रह गयी, कभी आन्दोलन नहीं बनी। आंचलिक कथाकारों तक ने इसे कभी आन्दोलन का रूप नहीं दिया ? और न तो रेणु आदि प्रमुख आंचलिकतावादियों ने कभी इस आन्दोलन या स्थिति को समझाने का ही प्रयत्न किया। ई० १९५० के पहले हिन्दी कथा साहित्य में वे परिस्थितियाँ अवश्य रही होंगी जिन्होंने इस धारा को प्रेरणा और बल दिया। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिकता और प्रगतिवाद का ज़ोर था। मनोवैज्ञानिक कहानियाँ अथवा उपन्यास अपनी अन्तिम परिणति में फ़ार्मूलावादी साहित्य बन कर रह गये। प्रगतिवादी साहित्य

में उद्‌बोधन और प्रचार का स्तर ही प्रधान रहा। वह मनुष्य के जीवन को गहराई और तटस्थ ईमानदारी के साथ देख न सका। परिणामतः कथा-साहित्य में गतिहीनता का भाव सर्वत्र छाया हुआ था। जनमानस इससे छुटकारा पाना चाहता रहा होगा। यह आन्दोलन इसी ऊब या एकरसता की प्रतिक्रिया में उपस्थित माना जा सकता है। नागर सभ्यता, अथवा औद्योगीकरण से उत्पन्न एकरसता का रूप भारतीय समाज में आज भी उतना प्रस्फुटित नहीं हुआ है कि इसे एक समस्या का रूप दिया जाए। इस-लिए यहाँ आंचलिक आन्दोलन के पीछे औद्योगीकरण से उत्पन्न वीभत्स एकरूपता या ऊब को कारण नहीं माना जा सकता। यह निःसन्देह एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति ही कहा जाएगा। और मुझे लगता है कि इस प्रवृत्ति ने हमारे जन-मानस को रूमानी, भावुक और अतीतोन्मुख बनाने का कार्य भी किया है। इसके कारण क्षेत्रीयता और प्रांतीयता को बल मिला या नहीं, यह एक राजनीतिक प्रश्न है, इसलिए इसे मैं उसके विशेषज्ञों के लिए ही छोड़ता हूँ। स्वतंत्रता के बाद शायद हमारे मन में यह भाव उठा कि हमें अपनी निजी आत्मा की खोज करनी चाहिए। एक आत्म-अन्वेषण का भाव ज़रूर था। राजनीतिक स्तर पर सरकारों द्वारा विभिन्न प्रदेश के लोकजीवन की झाँकियों की शोभायात्रा की व्यवस्था की जाती रही। एक ऐसी परिस्थिति पैदा हो गयी थी जिसमें लोक-जीवन से उद्‌भूत कलाकृतियों से बैठकख़ानों को सजाना सरकारी अफ़सरों के लिए भी अनिवार्य जैसा हो गया था। कठपुतली-नृत्य, लोकनृत्य के व्यापक प्रदर्शन हुए तथा इन्हें संगठित रूप दिया गया। लोकगीतों की धुन और तर्ज़ पर प्रसार गीतों का आका-शवाणी से निरन्तर आयोजन होता रहा। साहित्य में इसके कुछ पहले या इसी समय से आंचलिकता का उदय हुआ। इन सभी पहलुओं पर विचार करने से प्रतीत होता है कि आंचलिकता की प्रवृत्ति स्वातंत्र्योत्तर हिन्दुस्तान की एक सांस्कृतिक प्रवृत्ति थी जिसके भीतर भारतीयता को अन्वेषित करने की सूक्ष्म अन्तःधारणा कार्य कर रही थी। यह प्रश्न अलग है कि यह सांस्कृतिक प्रवृत्ति स्वास्थ्य का लक्षण थी, या अस्वास्थ्य का ?

इसी के साथ एक प्रश्न और जुड़ा है। क्या हिन्दुस्तान की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति इतनी अस्पष्ट, खंडित या लुप्त थी कि इसे लोक-जीवन में अन्वे-षित करने का प्रयत्न किया जा रहा था ? उत्तर होगा, नहीं। हिन्दुस्तान राजनीतिक दृष्टि से भले ही एक शिथिल इकाई रहा हो, या आज भी हो, सांस्कृतिक दृष्टि से यह एक सुगठित और सुसम्बद्ध चेत्र बहुत पहले से रहा है। ऋतु-उत्सव, धार्मिक त्यौहार, तीर्थ-यात्राएँ, जीवनमरण आदि से सम्बन्धित प्रथाएँ प्रायः एक जैसी ही सर्वत्र वर्तमान हैं। इसी कारण शुद्ध रूप से आंचलिकता को प्रश्रय यहाँ मिल ही नहीं सकता। हमारी स्थिति अमरीका से बिलकुल भिन्न है। राजनीतिक दृष्टि से भी आंचलिकता के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं है। 'सोशल फोर्सेज़' के अक्तूबर १९६४ ई० के अंक में डोनाल्ड डेविड्-सन का एक महत्त्वपूर्ण निबंध छपा है। शीर्षक है 'व्हेयर रिजनलिज़्म एंड सेक्शनलिज़्म

मीट" । इस निबंध में उन्होंने बताया है कि "खण्डवाद आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में विलगाव की प्रवृत्ति का नाम है, जिस प्रकार आंचलिकता सांस्कृतिक क्षेत्र में ।" अमरीकी आंचलिकता के विकास का एक कारण यह भी था कि प्रत्येक क्षेत्र की अलग-अलग राजनीति थी, भिन्न राजनीतिक पार्टियाँ थीं, अलग आर्थिक समस्याएँ थीं । प्रत्येक दल अपने क्षेत्र-विशेष के दृष्टिकोण से प्रभावित हो कर अपने नियम और उद्देश्य बनाता था । भारत में इस दृष्टि से भी आंचलिकता को सही ज़मीन नहीं मिल पायी । यह सोचने की आवश्यकता है कि आंचलिकता का ज़ोर उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल, बिहार के कुछ हिस्सों तथा मध्यप्रदेश या दूसरे स्थानों के आदिवासी जीवन तक ही सीमित क्यों रहा । यह शायद इसलिए कि आंचलिक तत्वों का रूप इन पिछड़े हुए क्षेत्रों में ही सुरक्षित है । इसलिए इन क्षेत्रों से सम्बद्ध कथाकारों को, १९५० ई० के पहले के कथा-साहित्य में व्याप्त एकरसता के विरुद्ध कुछ क्रियाशील होने के लिए एक अच्छा उर्वर क्षेत्र मिल गया । १९५० ई० के बाद के कथासाहित्य की सबसे बड़ी प्रवृत्ति लेखकीय आत्मानुभूति की प्रधानता की रही है । यानी लेखक अब न तो मनोवैज्ञानिक फार्मूलों पर कहानियाँ गढ़ सकता है और न तो वह राजनीतिक मतवाद के प्रचार को ही साहित्य का उद्देश्य मान सकता है । आज वह अपने निजी अनुभवों को वरीयता देता है । इसलिए यदि इस क्षेत्र के कथाकारों ने अपने आंचलिक अनुभवों को व्यक्त किया तो इसे स्वाभाविक ही कहा जाएगा ।

अक्सर सम्पूर्ण ग्राम कथा-साहित्य को ही आंचलिक मानने का भ्रम हिन्दी में फैला हुआ है । ग्राम-कथा ज्यादा व्यापक भावभूमि की वस्तु होती है । वहाँ ग्राम-जीवन से सम्बद्ध समस्याओं पर अनेक रूपों में विचार हो सकता है किन्तु चरित्र, जीवन समस्याएँ अथवा मनोवैज्ञानिक भावभूमियाँ इस तरह सामान्य रूप से परिचित या सर्वनिष्ठ होती हैं कि उनका सदृशात्मक रूप कमोबेश मात्रा में न केवल भारत के बल्कि विश्व भर के ग्राम-जीवन में पाया जा सकता है । ग्राम कथा, इसीलिए किसी निश्चित प्रकार का आन्दोलन कभी नहीं बनी । ग्राम-जीवन सभी साहित्यों की परिचित वस्तु है, जब कि आंचलिकता एक खास प्रकार के विशिष्ट क्षेत्र के जीवन से अपने को पूर्णत: सम्बद्ध कर देती है । उस जीवन को उपेक्षित और अछूता समझ कर उसके समग्र रूप का, छोटी से छोटी विशेषताओं के साथ, पुन: प्रस्तुतीकरण आंचलिकता का लक्ष्य होता है । भाषा, रिवाज़, स्वभाव आदि की ये विशिष्टताएँ इतनी विभिन्न और अपरिचित होती हैं कि प्राय: दूसरे क्षेत्र वाले इन भावों को पूरी तरह और सहज रूप में हृदयंगम नहीं कर पाते । स्थानीय रंग को भ्रम से आंचलिकता का ही पर्याय मान लिया जाता है । स्थानीय रंग आंचलिकता से भी ऊपरी वस्तु है । यह ग्राम-जीवन में भी होता है, नगर जीवन में भी । कोई भी लेखक, चाहे वह उस धरती में उत्पन्न हो या न हो, थोड़े से परिचय के आधार पर वहाँ का स्थानीय रंग ले आ सकता है, जैसा कि गुलेरी जी

की 'उसने कहा था' कहानी में है। स्थानीय रंग आंचलिक कथा में पर्याप्त मात्रा में होता है, पर यह ग्राम-कथा में भी हो सकता है, नगर-कथा में भी। इस प्रकार हमें यह स्पष्ट रूप से जानना चाहिए कि प्रत्येक ग्राम-कथा आंचलिक कथा नहीं होती, जब कि कोई आंचलिक कथा ग्राम-कथा हो सकती है।

इन विचारों के प्रकाश में रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' पर यदि विचार किया जाए तो लगेगा कि इनमें स्थानीय रंग की गाढ़ अभिव्यक्ति के साथ ही साथ अंचल की समस्याओं और जीवन को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु ये दोनों उपन्यास मूलतः राजनीतिक क्रियाकलापों से भरे हुए हैं। कांग्रेस, सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट पार्टियों के साथ ही साथ भूदान और चर्खा-केन्द्र भी हैं। उनका परस्पर संघर्ष और शोरशरापा भी है। वे पार्टियाँ क्षेत्रीय नहीं हैं और न तो इनकी राजनीति ही आंचलिक है। ये तत्त्व इन उपन्यासों की शुद्ध आंचलिकता में बाधक हैं। क्या ग्राम-जीवन की आधुनिकतम चेतना रेणु के इन उपन्यासों में अभिव्यक्त हो सकी है? मेरा खयाल है कि स्थानीय रंग के मोह और आंचलिक तत्वों की अधिकता ने इन उपन्यासों में ग्रामीण जीवन की मार्मिक सम्वेदना को गहराई से अभिव्यक्त हो पाने में बाधा पहुँचायी है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि इन उपन्यासों का एक भी चरित्र अपनी असहायता, निकृष्टता, ग़रीबी, जहालत, पीड़ा और व्यथा को उस तीखेपन के साथ भोगते हुए नहीं दिखाई पड़ता जैसा उनका पूर्वज होरी किया करता था। रेणु के इन उपन्यासों की सबसे बड़ी कमज़ोरी शिथिल कथानक या खण्ड चित्रों की प्रदर्शिनी में निहित नहीं है, जैसा कि अनेक आलोचक मानते हैं, बल्कि आंचलिकता के उस रूमानी मोह में उसे ढूँढ़ना चाहिए जो लेखक को बरबस लोक-गाथाओं की रंगीनी की ओर खींच कर ले जाती है। उसी क्षेत्र के जीवन पर आधारित नागार्जुन का उपन्यास 'बलचनमा' लीजिए। 'बलचनमा' उपन्यास लेखक की प्रवृत्तिमूलक मान्यताओं से भाराक्रान्त होते हुए भी ग्राम-जीवन की कहीं गहरी मार्मिकता को उद्घाटित कर पाता है। ऐसा क्यों? इसलिए नहीं कि नागार्जुन रेणु की अपेक्षा यथार्थ को ज़्यादा सूक्ष्म ढंग से पकड़ते हैं, बल्कि इसलिए कि नागार्जुन अपनी अभिव्यक्ति में प्रकारान्तर बहावों से काफ़ी बचे रहते हैं। 'मैला आँचल' में तो फिर भी ग्रामीण जीवन की मार्मिकता और आधुनिक सम्वेदना का रूप कहीं ज़्यादा मुखर है। इसकी सफलता का मुख्य कारण आंचलिक रंगीनी को मान लेने के कारण रेणु 'परती परिकथा' में जिस रूप में सामने आते हैं, उसे हम 'आंचलिक कथा का करारा भटकाव' कहने के लिए बाध्य हैं। ताजमनी, सारी प्रेम-चर्चा में जिसका सत्तभंग नहीं हुआ, शरणार्थी लड़की इरावती, मलारी और इन सबके बीच जितेन्द्र का आदर्शमय चरित्र—ये सब ग्राम्य जीवन के अपवाद हैं और इनको घेर कर चलने वाली 'कोसी मैया और दुलारीदाय' की लोकगाथा लेखक के रूमानी मोह का ज्वलन्त साक्ष्य है। 'उठ जित्तू चाउर पूरे'—का पण्डुकपुत्र

जित्तू जितेन्द्र के रूप में तथा ताजमानी कोसका मैया और मलारी दुलारीदाय—'दोनों रे वहिनियाँ रामा गला जोड़ी विलखय' 'लोककथा चक्र पूरा हुआ। पण्डुक कथा और कोसकी लोकगाथा ने मानो जित्तू और दोनों नारियों के त्रिगुट की पूर्व नियोजित संधि बैठा दी हो—परती हरी हुई, मरा जित्तू उठ कर बैठ गया। इसे ही भावुक रूमानियत कहा जाता है जिसके बारे में इडा. ए. जेवेट ने लिखा है—"किसी क्षेत्र-विशेष के स्थानीय जीवन की सूक्ष्मताओं को उपलब्ध करने का आंचलिक प्रयत्न कथाकार को कभी-कभी इस बात के लिए प्रेरित करता है कि वह जीवन से उन्हीं तत्वों को चुने जो विचित्र और अजीबोग़रीब हों। वह इसी कारण उस क्षेत्र-विशेष के प्राकृतिक दृश्यों का भी पूरी तरह शोषण करता है।" इसीलिए मैं रेणु के इन उपन्यासों को अति आंचलिक ही कहूँगा। ग्राम कथा गतिशील जीवन के यथार्थ से कतराती नहीं। इस प्रकार का भटकाव तो स्थानीय रंग के मोह की ही देन होता है जो हमेशा ही मोहक, रूमानी और विचित्र हुआ करता है। अगर ग्राम जीवन के यथार्थ पक्ष की पकड़ की तुला पर ही कसें, तो 'परती परिकथा' लोकगीतों से भरी हुई किसी सरकारी डाकुमेण्टरी-सी मालूम होती है जिसमें दरारों भरी धरती एका-एक नहर या श्रमदान के बल पर बने नाले आदि के द्वारा पानी पा कर हरी-भरी हो जाती है और जिसमें एक-एक फुट की बालों वाले ज्वार-बाजरे लहराने लगते हैं। इस दृष्टि से इसे प्रसार गीतों के वज़न पर 'प्रसार-उपन्यास' कहा जा सकता है।

इस प्रकार हमने देखा कि एक ओर जहाँ आंचलिकता किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक खोज के प्रयत्नों से जुड़ी रही है अथवा उसमें नागर जीवन या मशीनी आधिपत्य के विरोध में अपने को बचाने का एक भाव है; वहीं यह रूमानी मोह से ग्रस्त हो कर आधुनिक मूल्यों की अभिव्यक्ति में असमर्थ भी हो जाती है। एलेन टेट ने इसका जवाब देते हुए कहा था कि "ऐसी स्थिति तब होती है जब कोई लेखक आंचलिकता को परम्परा का पर्याय मान लेता है।" मारजोरी किनन रोलिंग्स ने, जो ख़ुद एक आंचलिक कृतिकार हैं, कहा कि "इसमें सन्देह नहीं कि आंचलिकता मूल्यों की तीखी अनुभूति में बाधक होती है।" पाल राबर्ट बीथ ने एक क़दम और आगे बढ़ कर आंचलिकता को 'ईर्ष्या और हीन-भावना से प्रेरित आंदोलन' माना और कहा कि "ये महान् परम्परा को अस्वीकृत करने वाले स्थानीय तुच्छताओं में सीमित होते हैं। इनका सबसे बड़ा अपराध यह है कि ये लोककथाओं का शोषण करते हैं।" कुछ ने इन्हें परिवर्तन का विरोधी कहा, कुछ ने इतिहास-विरोधी। प्रो० बी० ए० बोटकिन ने 'इंगलिश जर्नल' के मार्च १९३६ के अंक में एक लेख लिखा, शीर्षक था 'रीजनलिज़्म : कल्ट आर कल्चर'। इस निबन्ध में उन्होंने आंचलिकता की प्रशंसा करते हुए कहा कि यह आन्दोलन नव सांस्कृतिक और सौन्दर्यात्मक मूल्यों की खोज में सफल हुआ और इसने सभी कुछ को नष्ट करने वाले अरूपीकरण को ध्वस्त कर दिया है।" इतना तो सभी स्वीकार करते ही हैं कि

जिस सौन्दर्य की ये खोज करते हैं, उसी स्थानीय रंग वाले सौन्दर्य का मोह इन्हें प्रकारान्तर में खींच कर भी ले जाता है। यह मोह न केवल लेखक को मुख्य समस्याओं से पराङ्मुख बनाता है, बल्कि कभी-कभी जीर्ण-शीर्ण अतीत की ओर मोड़ने की कुचेष्टा भी करता है। इससे अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, अज्ञानपोषित विश्वास और आस्थाओं को बल भी मिलता है।

आंचलिक कथा में इस प्रकार का मोह ही इस पूरे आन्दोलन के ह्रास का कारण बना। ऊटपटाँग शब्द, भदेस विचित्र वर्णन, लोककथाओं और लोकगीतों का शोषण और उनका विरूपीकरण तथा वाक्यों के खण्डश: टुकड़ों में बँटे हुए भद्दे प्रयोगों ने कालान्तर में एक रूढ़ि का रूप ले लिया और बने-बनाये मसालों के आधार पर कहानियाँ और उपन्यास ढाले जाने लगे। ज़ाहिर है कि ये सभी तत्व सच्चे साहित्य के मार्ग में हमेशा ही बाधक रहे हैं और रहेंगे।

पूरी ग्राम-कथा को आंचलिक मान लेने के भ्रम ने कुछ आलोचकों के मन में इस निराधार धारणा को जन्म दिया है कि ग्राम कथाएँ आधुनिक जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म बोध को सँभालने में अक्षम हैं। 'कल्पना' १३३ में श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई। लेखक ने आज की कहानी की दयनीय स्थिति की चर्चा करते हुए लिखा है कि "यह नयी कहानी अपनी प्रकृति में अपने सारे चमत्कारपूर्ण शिल्प प्रयोगों के बावजूद प्रेमचन्द से भी पीछे चली गयी है। आंचलिक कहानी अपनी अबौद्धिक वृत्ति, बोलचाल की भाषा के प्रयोग और लोकप्रियता के आदर्श के साथ आंचलिक जीवन की ओर मुड़ी और उसके स्वरूप की अन्विति पूरी हो गयी।" रामस्वरूप जी किस 'स्वरूप' की 'अन्विति' की ओर संकेत कर रहे हैं, यह तो वे ही जानें, पर उनके कथन का सारांश यही है कि आज की पूरी कहानी, आंचलिक और शहरी दोनों आधुनिक बोध को व्यक्त करने में अक्षम हैं। रामस्वरूप जी के इस मत का आधुनिक कहानी की वस्तुगत अभिव्यक्ति की अक्षमता के आधार पर समर्थन हो सकता है, पर जब वे यह कहते हैं कि "कहानी का माध्यम नयी सम्वेदना को वहन करने में सक्षम नहीं, यह स्थिति प्राय: सभी उन्नत देशों में देखी जा सकती है", तो लगता है कि यह समस्या आज की कहानी से उतनी सम्बद्ध नहीं है जितनी रामस्वरूप जी की व्यक्तिगत मान्यता और रुचि से। उन्हें लगता है कि उनके इस मत के विरोध में लोग ओ हेनरी, साकी या कैथरीन मैन्सफील्ड का नाम लेंगे [उन्होंने बड़ी सफ़ाई के साथ चेखव, काफ्का, हेमिंग्वे, कामू, सार्त्र, स्टीफेनज़्विग आदि के नाम नहीं गिनाये] इसलिए वे भोलेपन के साथ कहते हैं, "इलियट, सार्त्र, कामू, आंद्रेज़ीद या पास्तरनाक के सामने ये नहीं ठहरते क्योंकि ये लेखक युगसंवेदना को कविता, नाटक या उपन्यास आदि के माध्यम से व्यक्त करते हैं।" मशीनी क्रांति के बाद कहानी की विधा की उत्पत्ति और तीव्र विकास का कारण, आधुनिक सम्वेदना को वहन करने की उसकी क्षमता ही है, यह एक मोटी-सी

बात है। कहानी औद्योगिक क्रांति की वैसी ही देन है जैसी प्रकारान्तर से सारी आधुनिकता की स्थिति और समस्याएँ। इसलिए आज की कहानी की क्षमता और आधुनिकता में सहजात सम्बन्ध है। यह दूसरी बात है कि कहानी की लोकप्रियता ने बहुत से ऐसे बाज़ारू कथाकारों को जन्म दिया है जो इस विधा को गंभीर ढंग से अपना नहीं पाते, हैं, जैसे आज के युग ने अनेक आधुनिकाभास व्यक्तियों को जन्म दिया है जो आधुनिकता का लबादा ऊपर से ओढ़ कर अपने को प्रत्येक अवसर पर आधुनिकतम प्रचारित करने का उपहासास्पद कृत्य करते रहते हैं।

रामस्वरूप जी का यह तर्क कि आँचलिक उपन्यास तो हो सकता है, कहानी नहीं, विधा और वस्तु के सम्बन्धों के विषय में उनकी समझ पर ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा सकता है। हेमिंग्वे के 'ओल्डमैन एण्ड द सी' को उपन्यास मानें कि कहानी ? यह प्रश्न, शायद, रामस्वरूप जी को बेकार अथवा निस्सार प्रतीत होगा! खैर, इसे यहीं छोड़ता हूँ। उनके कथन में भयंकर विरोधाभास तो तब उभरता है जब एक तरफ़ यह मान कर कि कहानी नयी सम्वेदना को वहन करने में सक्षम है ही नहीं, उन्होंने दूसरी तरफ़ एक 'नयी समर्थ आधुनिक कहानी' की स्थिति भी स्वीकार कर ली है और वैसी कहानियों के निर्माता आज के कई नये कवियों को बताया है। रामस्वरूप जी ने व्यवसायिक और गम्भीर कहानियों पर यह जो सूक्ष्म विचार व्यक्त किया है, और इसे उन्होंने जहाँ से उठाया है वहीं कुछ और बातें भी लिखी हुई हैं जिसे उन्होंने नज़रअन्दाज़ कर दिया है। "परिणामतः कलापूर्ण साहित्यिक कहानी और मात्र चतुराई से लिखी हुई लोकप्रिय कहानियों में अन्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा है। साहित्यिक कहानियाँ कुछ थोड़ी-सी अच्छी तरह स्थापित शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं में या आधे दर्जन प्रयोगात्कक लघु साहित्यिक मैगज़ीनों में ही निकलती हैं।" [शिप्ले, डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स, शार्ट-स्टोरी] वहीं, किंचित् ऊपर, यह भी लिखा है—" स्थानीय रंग की परम्परा से प्रभावित कहानियाँ अब भी किसी क्षेत्र के आकर्षक जीवन के प्रति दिलचस्पी पैदा करती हैं जैसे टेक्साज, लातिनी अमरीका या न्यूयार्क नगर की कहानियाँ।" इसलिए उनका यह कथन कि आंचलिक उपन्यास तो हो सकता है, कहानी नहीं, निराधार प्रतीत होता है। मैं अनेक नाम नहीं गिनाना चाहता सिर्फ़ रेणु की 'रसप्रिया' कहानी से स्पष्ट हो जाएगा कि आंचलिक कहानी कैसी होती है।

बहरहाल, यहाँ उनकी टिप्पणी में उठाये गये सभी प्रश्नों पर विचार करना एक अप्रासंगिक काम होगा। मैं सिर्फ़ यहाँ यही कहना चाहता हूँ कि आंचलिक कथाओं में रूमानी मोह और बहकाव के कारण आधुनिक संवेदना की तीखी अभिव्यक्ति भले ही न हो पाए, ग्रामकथाएँ आधुनिक सम्वेदना का सबल माध्यम हो सकती हैं।

'आधुनिकता' शब्द हिन्दी में जितना विवाद का विषय बना है, उतना शायद ही और कहीं हुआ हो। मुझे लगता है कि इस शब्द को कुछ लोगों ने जानबूझ कर उल-

झाने का बहुत प्रयत्न किया है । यह अजीब पहेली है कि आधुनिकता, जो तीखी वैयक्तिक चेतना और लेखक की स्वयं के प्रति अटल प्रतिश्रुति के भार को प्रश्रय देती है, एक ऐसी खोल बनती जा रही है, जिसमें एकरसता और भीड़ के धर्म को ही सिद्धान्त और दर्शन का जामा पहना कर उसे सर्व नियामक सत्ता का आसन दिया जा रहा है । आधुनिकता का भी एक स्वाभाविक विकास होता है, उसे पश्चिमी साहित्य से नोच कर भारतीय वातावण में कुछ थोड़े से आकाशजीवी आलोचक भले ही आरोपित कर देने का प्रयत्न करें और अपने को सफल मानें, ईमानदार रचनाकार हमेशा ही अपने भीतर और बाहर के जीवन में उसे सहज ढंग से उगते-पनपते जब तक अनुभव नहीं करेगा, उसकी अभिव्यक्ति का प्रयत्न कृत्रिम और अनुकरण ही माना जाएगा । अजनबी, ऊबग्रस्त, उबकाई से पीड़ित, अनैतिहासिक, कगार पर खड़े आदि विशेषण पश्चिमी जीवन के भीतर से पनपे और उपजे हैं । इसलिए इन विशेषणों की पूँछ पकड़ कर अपने जीवन में आधुनिकता को उभारने का प्रयत्न न केवल अनुचित है; बल्कि साहित्य के साथ बलात्कार करना है । रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कल्पना की एक टिप्पणी में 'स्वचेतना' को आधुनिकता की अनिवार्य शर्त बताया था । पता नहीं, उन्होंमे यह किस अंग्रेजी शब्द का अनुवाद किया है, क्योंकि इसकी अस्पष्टता की चर्चा करने पर वे 'कठिनाई का कारण शब्दावली के स्थिरीकृत रूप का न होना ['कल्पना' १३७] बताएँगे; किन्तु यह कठिनाई शब्दावली के स्थिरीकृत रूप के अभाव के कारण नहीं है बल्कि विदेशी चिन्तन की शब्दावली को ज्यों को त्यों हिन्दी में उतारने के कारण है । उतारिए, पर इसकी भी एक सीमा है, इसे भूलिए नहीं । यह अलग बात है कि विदेशी वादों औरे मतों के आलोक में अपनी हर स्थिति के विश्लेषण का प्रयत्न दासता का सूचक है, और बिना इसने उबरे हिन्दी में आधुनिकता तो क्या, अस्तित्व का प्रश्न भी हल होने को नहीं है ।

आंचलिक कहानी [जिसमें भ्रम से ग्राम-कथा भो सम्मिलित है] की चर्चा करते हुए अचानक प्रेमचन्द के पास पहुँच कर ऐसे आलोचकों को थम जाना पड़ता है, क्योंकि प्रेमचन्द का ग्राम-कथा-साहित्य युग की संवेदना के सूक्ष्म स्तरों से इस तरह जुड़ा हुआ है कि वे उसे नकार नहीं सकते । प्रेमचन्द के ज़माने में भी एक नयी कविता का आंदोलन चला था । वह आंदोलन वर्तमान नयी कविता के आन्दोलन से कम क्रान्तिकारी, कम शक्तिमान् या कम 'नया' नहीं था । न ही विदेशी प्रभावों का आयत ही उसमें कम था किसी तरह । किन्तु, न तो उस समय और न तो आज ही कोई आलोचक यह कहने का साहस कर सकता है कि उस समय नयी कहानी प्रेमचन्द ने नहीं, पंत, प्रसाद या महादेवी ने लिखी । आज की आधुनिक कहानी की अक्षमता का एक कारण रामस्वरूप जी ने "लोकप्रियता के प्रति लेखकों की रुझान को भी" बताया है । लेकिन तत्कालीन 'नये कवियों' से कहीं ज़्यादा लोकप्रिय प्रेमचन्द तब भी थे, और आज भी हैं। फिर क्या कारण है कि रूमानी कविता के शक्तिशाली आन्दोलन के बीच में रहते

बोर युद्ध के संदर्भ में लिखी हार्डी की कविताओं से पिछले युद्ध पर लिखी कविताओं की तुलना करते हुए लेखक कहता है कि "गद्य और पद्य दोनों में, जिस प्रकार उसके पूरे साहित्यिक जीवन भर उसकी शैली अपरिवर्तित बनी रही, वैसे ही जीवन के बारे में उसका दृष्टिकोण भी। उसकी निराशा-भावना इतनी अटल और मज़बूत आधारों पर टिकी है कि उसमें लारेंस की तरह पीड़ा-भरे सन्देह और अन्तर्द्वन्द्व का अवकाश ही नहीं मिलता। किन्तु उसके उपन्यास "द ट्रम्पेट मेजर" में नैपोलियन युद्ध की भयावनी छाया में वेसेक्स गाँव की जनता के स्नायविक खिचाव का अद्भुत चित्रण हुआ है। हार्डी को निराशापूर्ण नियतिवादिता से बच पाना मुश्किल होता है। हार्डी की निराशावादिता स्वाभाविक थी, पर इस उपन्यास में एक अदृश्य प्रतीति यह भी झलकने लगती है कि कहीं न कहीं कुछ ग़लत है।"

कमज़ोर और शौक़ीन बाब सीधे-सादे हट्टे-कट्टे ईमानदार जान की अपेक्षा कहीं अधिक सफल इन्सान है। ऐसा क्यों? हार्डी और लारेंस के बीच समय का काफ़ी बड़ा व्यवधान है, पर लारेंस के युग की सम्वेदना हार्डी में अभिव्यक्ति पाए, यह मामूली सफलता की बात नहीं है। ग्रामकथा के आलोचक यह स्वीकार करना जैसे चाहते ही नहीं कि 'पूस की रात' और 'कफ़न' में निराशावादिता और टूटे हुए आदर्शों की व्यथा को ढोने वाले किसान आधुनिक सम्वेदना के पूर्वज थे। आज के युग में हम जिस प्रकार की बेमानी ज़िन्दगी से भूक रहे हैं, और जिस 'स्वचेतना' को आधुनिकता की अनिवार्य शर्त कहते हैं, उसका अंकुर प्रेमचंद की अन्तिम कहानियों में वर्तमान था। यह दूसरी बात है कि यह 'स्वचेतना' न तो आज जैसी तीव्र थी और न तो वे चरित्र अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों के प्रति तीखा अवबोध ही रखते हैं। यह स्वचेतना प्रेमचन्द की थी, या उन किसानों की, यह प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता।

आधुनिकता, या ज्यादा सहज ढंग से कहें तो, आधुनिक सम्वेदना की अभिव्यक्ति के लिए ग्राम जीवन कहीं ज्यादा उर्वर और उपयुक्त क्षेत्र है। यह बात आधुनिकता को फ़ैशन मान कर चलने वालों के लिए शायद आश्चर्यजनक या निरर्थक लगे, पर मैं ऐसा मानने में कोई संकोच अनुभव नहीं करता। आधुनिक मनुष्य की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं। एक परिभाषा यह भी है—"आधुनिक मनुष्य वह है जो संसार के अन्तिम छोर पर एक ऐसी ऊँची भूमि पर खड़ा है जिसके सामने भविष्य की अस्पष्टता है, ऊपर शून्य और नीचे इतिहास में लिपटी मनुष्यता जो आदिम धुंध में खो चुकी है। इस प्रकार का मनुष्य बिरला ही मिल पाता है जो वर्तमान में ही जी सके। ऐसा मनुष्य पूर्णतः अपने वर्तमान अस्तित्व के बारे में सचेत होता है, इसके लिए व्यापकतम और गंभीरतम चेतना अपेक्षित है। इस तरह का मनुष्य हमेशा ही अकेला होता है, क्योंकि चेतना की वृद्धि उसे निरन्तर आदिम मौलिक समुदाय से काट कर अलग करती रहती है। उसके हर अगले क़दम का अर्थ है सार्वभौम, सर्वालिंगित अचेतनता के बन्धन को एक-एक

करके तोड़ना जो अपने आगोश में अधिकांश क्या, क़रीब क़रीब समूची मनुष्य-जाति को लपेटे रहती है।" (युंग, माडर्न मैन इन सर्च आफ़ ए सोल, पृष्ठ २२७) इसलिए सही अर्थों में आधुनिक मनुष्य बनना कोई खेल नहीं है। यह एक सतत् प्रयत्न की चीज़ है। अचेतनता, इतिहास, परम्परा, आदर्श, परिवार आदि के रूप में साकार हुआ करती है। ज़ाहिर है कि आधुनिकता इनके ऊपर अलग से आरोपित कोई वस्तु नहीं हो सकती। आधुनिकता परम्परा के भीतर से उसे विदीर्ण करके उपजती है। इसलिए आधुनिक मनुष्य के संघर्ष का सही रूप वहाँ दिखाई पड़ेगा जहाँ वह इस "अचेतनता" से लड़ रहा हो। इस संघर्ष से पलायन करके उखड़े हुए लोग तो बना जा सकता है, किन्तु संघर्ष का सारा दर्द वहाँ दिखाई पड़ेगा जहाँ एक साथ परम्परा और आधुनिकता दोनों आमने सामने खड़ी हों। कथाकार के लिए यह दर्द-पूर्ण सृजन कई रूपों में आकृष्ट करता है। उसकी असली सहानुभूति आधुनिक के साथ होगी, किन्तु परम्परा जहाँ टूटती है, जहाँ वह अपने को दोषी न मानते हुए भी विदीर्ण होते समय आँसुओं में डूबती है, वहाँ भी एक जीवन ही होता है। बाप को दोषी कह कर बेटा या बेटे को दोषी बताकर बाप जहाँ पारिवारिक बचन तोड़ कर दुर्निवार कारणों से बिछुड़ते हैं, क्या वहाँ आधुनिक सम्वेदना का रूप नहीं होता ? जो लोग यह मानते हैं कि शहरी जीवन ही आधुनिकता की असली ज़मीन है, वे अर्ध-आधुनिक आदर्शों में विश्वास करने वाले नक़लची मात्र हैं। इसी संदर्भ में युंग के इस कथन का महत्व है कि "आधुनिकता का सही रूप बाहरी तत्वों में बँधे-बँधाये रूपों की झलक में नहीं देखा जा सकता, बल्कि इसका वास्तविक रूप मनुष्य के विचारों, दृष्टिकोणों और अनुभवों में दिखाई पड़ता है। इसीलिए प्रायः सच्ची आधुनिकता उसके बाहरी तत्वों की नक़ल करने वालों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा स्पष्टतर रूप में, ऊपर से "पुराने" लगने वाले लोगों में अभिव्यक्त दिखाई पड़ती है, जो उस युग-विशेष के 'फ़ैशन' के स्वभाव की नक़ल करना अपने व्यक्तित्व के विरुद्ध मानते हैं।" युंग ने एक और उपयुक्त बात कही है—"आधुनिक मनुष्य को सभी प्रकार से कुशल और समर्थ होना चाहिए क्योंकि नयी रचना की पूर्ण शक्ति रखे बिना परम्परा से कटने का प्रयत्न अतीत के प्रति विश्वासघात कहा जाएगा। इसलिए हमें यह जानना चाहिए कि आधुनिक मनुष्य पूरे युग-विकास की परिणति है किन्तु वह उसी अर्थ में भविष्य के मनुष्य द्वारा अतिक्राम्य भी हैं।"

इसी कारण आधुनिक परिवेश की बात करते हुए हमें मनुष्यता के भविष्य के बारे में उपेक्षावान् बने रहने का संकल्प तोड़ना ही होगा।

एक बात और। आधुनिक जीवन के चित्रण में भयानक एकात्मता और एकधृष्टता क्यों आती जा रही है ? वह इसलिए पश्चिमी साहित्य की देखादेखी नगर जीवन पर आधारित आधुनिक कथाओं में एक ही प्रकार के "टूटे हुए लोग" नाम और पोशाक बदल कर उभरने लगे हैं।

यदि आधुनिक मनुष्य की यह परिणति पहले से ही तै कर ली गयी हो, तब तो बात ही दूसरी है; वरना आधुनिकता से प्रभावित जीवन के वैविच्य के लिए भी हमें वृहत्तर ग्राम जीवन की ओर उन्मुख होना पड़ेगा। ग्राम-जीवन में एक साथ ही इतने विविध क़िस्म के शरीर और मन वाले लोग मिलते हैं कि ऊपर से उन सबकी समानता हमें भले ही हतोत्साहित करे, गहराई से देखने पर ये चरित्र हमें अश्चर्यचकित किये बिना नहीं रहेंगे। गाँवों में एक साथ ही कई पीढ़ियाँ एकत्र विद्यमान हैं और नगर जीवन की तरह उनसे कतराया भी नहीं जा सकता। आधुनिकता का भारतीय रूप इन्हीं वैविध्यपूर्ण जीवन-बिन्दुओं के भीतर से उनके संघर्ष के द्वारा उन्मथित होकर उदित होगा। यहाँ व्याप्त अतिवादी ग़रीबी, जहालत, सामाजिक अन्याय, पारिवारिक विदीर्णता, अतृप्त लालसाएँ, नैतिक–अनैतिक संघर्ष, टूटती हुई धार्मिक आस्थाएँ, बिखरते हुए समुदाय किसी भी कथाकार के लिए चुनौती हो सकते हैं। इस परिवेश को पूरी आधुनिक सम्वेदना से समझ सकने का आधार सिर्फ़ किसी लेखक का अपना दृष्टिकोण ही हो सकता है, जो अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदार, अपने प्रति पूर्णत: प्रतिश्रुत, रूमानी भावनाओं और आदर्श के खोखले रूप के प्रति सजग और मानवीय प्रतिष्ठा तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य के उच्चतर मूल्यों के प्रति पूर्णतः संकल्पित हो। ● ●

रहस्य-रोमांच : आधुनिक परिदृश्य

जेम्स बाण्ड, अगाथा क्रिस्ती, स्टनले गार्डनर
कानन डायल, ड्राकुला, ब्लैक मैजिक, बिच-क्राफ्ट
खूनी पंजा; नागिन की बेटी, सन्दूक में सर, कातिल हसीना
नरभक्षी घायल, काऊ-बायज
लास्ट ट्रेल, रेड इण्डियन हण्टर्स, पीटर शेने
नेवर ए डल मोमेंट.......नेवर ए डल.......

कहीं भी चले जाइए, हिन्दुस्तान में या विदेश में, शहर के फुटपाथ पर, या स्टेशनों के बुकस्टाल पर, आपको उपर्युक्त सुर्खियों वाला साहित्य, रंगारंग आवरण में लिपटा चमचमाता हाज़िर मिलेगा। किसी भी ट्रेन में सफर करते वक्त आप यात्रियों के हाथों में इस तरह की किताबें देख सकते हैं। यात्रियों के चेहरे पर उभरते रंग, स्याह छायाएँ और सूरज की ईंगुरी रोशनी इस बात का पक्का सबूत देगी कि यात्री या तो किसी सीलन-भरी कालकोठरी में बँधे 'हीरो' के दुख से दुखी है, या फिर अपने कमर की पेटी में भरी पिस्तौल लटकाए किसी मुजरिम को 'शैडो' कर रहा है। वह कभी भुतहे मकानों के भीतर उठती हुई सीटियों से भयभीत है, कभी सड़ी हुई लाश पर झुके डाक्टर के साथ पोस्टमार्टम करते समय जुगुप्सा से परेशान है, कभी चोरबाजारियों, स्मग्लर्स, डाकुओं, अन्तर्राष्ट्रीय जासूस-संस्थाओं, किडनैपर्स के पीछे अपने मनपसन्द डिटेक्टिव के साथ टेढ़ी से टेढ़ी तरकीब का पर्दाफाश करने में दिमाग़ के 'ग्रे मैटर' को सक्रिय बनाए अजीब साहसिक स्फूर्ति का अनुभव कर रहा है। कभी खचाखच भरे अदालती कक्ष में वकील जासूस के 'क्रास इक्जामिनेशन' से परेशान गवाहों की किलेबन्दी के टूटने का मजा ले रहा है। कभी 'मोटर-रेस' कभी मोटरबोट की दौड़ और कभी हेलिकाप्टरों के अजीबोगरीब क़रिश्मों से आश्चर्यचकित है। कभी वह वीभत्स, कभी भयानक, कभी अद्भुत रस में डूबा है तो कभी संत्रास, सांसत, मौत, जहरीली दवाओं से आतंकित है। भयानक दमघोट, अपराधों से भरी, 'मार्विड', मन को धक्के देने वाली दुनिया से इतना प्रेम, इतनी आसक्ति, आखिर क्यों? क्या ये सारी चीजें इस बात का सबूत हैं कि आधुनिक आदमी मूल्यों के ह्रास के इस युग में जिन्दगी को बर्बाद और अपङ्ग बनाने वाले तत्त्वों से प्रेम करने लगा है? क्या वह इतना 'परवर्ट' हो चुका है कि उसे सृजन नहीं ध्वंस में मज़ा आता है? क्या भयानक वीभत्स और त्रासद चीजों में भी कोई ऐसी बात तो नहीं छिपी है जो मनुष्य के मन को एक अबूझ आनन्द से भर देती है? आखिर क्या है ऐसा इस रहस्य-रोमांचक के भीतर जो आज के पाठक को इस कदर दीवाना

बनाए हुए है—ये हैं प्रश्न जो आज के मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री और कानून तथा व्यवस्था के हामियों को बुरी तरह परेशान किए हुए हैं।

अंग्रेजी में इस तरह के साहित्य को प्राय: 'मिस्ट्री' या 'थ्रिलर्स' कह कर पुकारा जाता है। 'मिस्ट्री' शब्द प्रारम्भ में काफी भिन्न अर्थ का द्योतक था। यह लैटिन के 'मिनिस्टेरियम' शब्द से बना है जिस का अर्थ होता था 'चर्च का कार्यालय'। चर्च चूँकि भौतिक समस्याओं के समाधान में एक रहस्यात्मक सत्ता से सहायता लेता है, वह उस 'रहस्य' की सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा सही ढंग से समझता है और उसके विधि-विधानों और क्रिया-प्रणालियों से अवगत है, इसलिए 'मिनिस्टेरियम' के क्रिया-कलाप साधारण व्यक्तियों के लिए अबूझ पहेली तो थे ही, पर चूंकि उनके द्वारा अघट घट सकता है, कई गुत्थियों का अलौकिक समाधान मिल जाता है, इसलिए उनके प्रति एक प्रकार की भयमिश्रित श्रद्धा का भाव भी सहज स्वाभाविक था। आगे चलकर मध्यकाल के धार्मिक नाटकों को 'मिस्ट्री' कहा जाने लगा जो क्रिसमस या ईस्टर के अवसर पर चर्च में खेले जाते थे। कहना न होगा कि इन नाटकों में भी चर्च की रहस्यात्मक क्षमता और शक्ति का ही प्रदर्शन होता था ताकि जन-साधारण पर चर्च के प्रभाव निरन्तर बढ़ते रहें। पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस 'मिस्ट्री ड्रामा' में सर्कस, प्रहसन के तत्त्व तथा भोंडे किस्म की दृश्यावलियों का घालमेल करके एक ऐसी चीज बनाई गई जो भिन्न-भिन्न रुचिवाले दर्शकों को आकृष्ट कर सके। हालांकि इसका मुख्य उद्देश्य तब भी ईसा के चरित की आश्चर्यजनक घटनाओं अथवा उनके अनुयायी सन्तों के जीवन में घटे अद्भुत अतिमानवीय पहलुओं को सामने ले आना ही रहा। धर्म का प्रभाव जैसे-जैसे कम होता गया और विज्ञान ने अपनी रोशनी से अदृश्य और रहस्यात्मक पदार्थों को ज्यों-ज्यों अनावृत्त करना शुरु किया 'मिस्ट्री' का अर्थ भी बदलता गया। अब रहस्य का अर्थ अलौकिक न होकर सामान्य मानवबुद्धि के लिए अगम्य लौकिक उलझन हो गया।

आरम्भ में हमारे देश में भी रहस्य का अर्थ तत्त्वज्ञान, धार्मिक कृत्य आदि था। वैसे यह शब्द उसी अर्थ में रूढ़ नहीं था। रहस् यानी एकान्त में किया जानेवाला सभी कुछ रहस्य था। इसीलिए तो मेदिनी कोश 'रहस्तत्त्वेरते गुह्ये', कह कर इसके विस्तार की सूचना देता है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जिस 'राजविद्या राजगुह्य योग' का उपदेश दिया, उसे उन्होंने "रहस्यं ह्येतदुत्तमम्" कहकर बहुत ही विरल महत्त्वपूर्ण वस्तु बताया।

सो यह रहस्य शब्द शुरु में बड़ा रहस्यवादी था। इसमें सन्देह नहीं पर 'रहस्य' सिर्फ अलौकिक के पीछे अनुधावन ही नहीं है। जो भी एकान्त में घटित होता है, उसे जानने की इच्छा मनुष्य मात्र की स्वाभाविक वृत्ति है। सबके सामने जो घटित हो शायद वह अनाकर्षक और हृदय की सही प्रकृति के अनुकूल नहीं होता इसीलिए उसकी

जिज्ञासा भी कोई नहीं करता; पर छिपा कर किए गए को जानना सबको सुहाता है। कालिदास ने शाकुन्तल में दुष्यन्त के मुख से 'रहस्याख्यायिन्' शब्द कहला कर शायद इस प्रकार की 'मिस्ट्रीटेल्स्' के बारे में सबसे प्राचीन सूचना दी है। बेचारा दुष्यन्त दूर-दूर से ही शकुन्तला के गदराए रूप को देख रहा है कि एक भौंरा शकुन्तला के कानों के पास गुनगुनाता उसके अधरों को छूता उड़ जाता है। दुष्यन्त ईर्ष्यादग्ध होकर भौंरे के सौभाग्य पर कुढ़ता है—'रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः' तुम तो रहस्य के आख्यायिन् की तरह सब कुछ का रसास्वाद कर गए और मैं 'तत्त्वान्वेषी' की तरह प्रतीक्षा करता ही रह गया। हाय बेचारा दुष्यन्त! 'रहस्याख्यायी' और 'तत्त्वान्वेषी' में कितना सूक्ष्म अन्तर है जिसे कालिदास ने एक चपल प्रेम-प्रसंग के द्वारा व्यक्त कर दिया। ऐसा होता है रहस्य-कथा का आकर्षण कि तत्त्वान्वेषी की तो पाठक उपेक्षा कर देता है और रहस्याख्याता को कानों से या आँखों से ही कहिए लगा लेता है।

असल में रहस्य के पीछे जो अद्भुत का पुट है वही मनुष्य-चित्त को बरबस अपनी ओर खींचता है। प्रकृति के साथ जीवन-यापन करने वाले आदिम मनुष्य के चित्त के भय और अद्भुत दो सर्वाधिक सबल भाव थे। भय वस्तुतः आन्तरिक जगत या हृदय में उठने वाले खतरे का द्योतक है। निकोला बर्दिएफ ने वेदना, भय, त्रास और क्लान्ति की बड़ी अद्भुत व्याख्या की है। वेदना संसार की अवास्तविकता और क्षुद्रता से जन्मती है। भय अन्तर्जगत् में अस्तित्व के खतरे की घंटी है। त्रास उग्र वेदना का संवेग है और क्लान्ति जगत् की रिक्तता का बोध है। (ड्रीम एण्ड रीयल्टी, पृ० ४०) अपने देश के आचार्यों ने भी इन शब्दों की व्याख्या की है। भरत ने भय को भयानक रस का स्थायी भाव मानते हुए अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति किए गए अपराध, हिंसक पशुओं के सम्पर्क, डरावने शब्द आदि के श्रव्य से इसकी उत्पत्ति स्वीकार की है। भरत ने त्रास को क्षणिक और भय को स्थायी माना है। उनके अनुसार त्रास प्राकृतिक विप्लव यानी गर्जन, भूकम्प, पशुओं के घोष आदि से होता है जब कि भय में आलम्बन निश्चित होता है, कारण भी प्रत्यक्ष होता है, इसीलिए रूपगोस्वामी ने 'मनः कम्पः सहसा त्रास उच्यते, पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात् पृथक भवेत्' कहा। यानी त्रास आकस्मिक और भय विचारोत्थित होता है। भय और त्रास दोनों ही आनन्द में बाधक भाव हैं, इसलिए इनके चित्रण या वर्णन को पढ़ते समय पाठक को आनन्द क्यों मिलता है, यह प्रश्न बहुत प्राचीनकाल से आचार्यों के सामने विचारणीय रहा है। वीभत्स को भयानक का उत्पादक माना जाता है इसलिए बहुत-से आचार्य वीभत्स और भयानक दोनों को रस-कोटि से अलग करने का आग्रह करते हैं। वस्तुतः वीभत्स या भयानक स्वतः रसदशा को प्राप्त होकर पाठकों को आह्लादित नहीं करते। ये किसी-न-किसी दूसरे रस की पृष्ठभूमि का कार्य करते हैं, विशेषतः श्रृंगार और वीररस की, और इन्हीं दोनों रसों का अंग बन कर, यवनिका को और भी अधिक भयानक और काला करके मुख्य प्रति-

पाद्य श्रृंगार या वीर की भास्वरता को और भी अधिक स्पष्ट करते हैं। रहस्य और रोमांचक कथाओं में प्रधानता श्रृंगार और वीररस की होती है, भयानक और वीभत्स सिर्फ परिवेश को और भी अधिक उलझा कर नायक के सामने कठिनाइयों का अम्बार लगाकर उसकी प्रेमनिष्ठा और वीरता को शाणित करते हैं। इसलिए यह कहना कि रहस्य और रोमांचक का पाठक वीभत्स और भयानक में आनन्द पाता है, ग़लत है, असल में वह इन बाधाओं से जूझते हुए नायक की विजय और सारी विरोधी शक्तियों के संघर्ष के बीच एक-एक करके उनके टूटने और तिरोहित होने की प्रक्रिया में आनन्दित होता है।

समूचे दमघोंट भँवरजाल, अमानवीय अवरोध, तामसिक छल-छन्द, जुगुप्सा, क्रूरता, निर्दयता, हिंसकता और घृणोत्पादक अपमानजनक व्यवहारों के बीच साबुत विजयी होकर निकलने वाली मानवता का विवरण पाठक के चित्त को अद्भुत रस से भर देता है, वह एक क्षण के लिए आनन्दातिरेक में निश्चेष्ट हो जाता है। आज तक आपने किसी रहस्य-रोमांचक कथा पढ़ने वाले ऐसे पाठक को देखा है जो बिना पुस्तक समाप्त किए चैन की साँस ले। क्योंकि वह अन्त ही वह चरमबिन्दु है, जहाँ पहुँच कर वह सम्यक सन्तुलित अवस्था में उतरता है। उसके पहले वह बेचैन, उद्विग्न और चंचल रहता है, सिर्फ चरमान्त में जाकर ही वह 'सर्वेन्द्रियाणां ताटस्थम्' को प्राप्त होता है। यही अद्भुत रस का प्रमुख लक्षण है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या इस प्रकार के खून, कत्ल, अपराध, चोरी, डकैती, कालाबाजारी, हिंसा, घृणा, क्रूरता आदि के माहौल तथा इन्हीं के भीतर प्रेम के नाम पर चित्रित व्यभिचार, बलात्कार, अपहरण आदि दृश्यों के भीतर से गुजरना किसी भी पाठक-समुदाय और उसी के माध्यम से समाज के लिए हितकर है? रोमांचक जिस रोमांस का पुत्र है वह अपनी ही जन्मभूमि में जिस अधोगति को पहुँचा वह किसी से छिपा नहीं है, फिर उसके वर्णसंकर रोमांचक के नाम पर यहाँ जो कुछ चित्रित हो रहा है उसके बारे में क्या कहा जाए! इस प्रश्न को लेकर हमें दो दृष्टियों से विचार करना होगा। चूँकि रहस्य और रोमांच का बहुत-सा हिस्सा अमानवीय क्रिया-कलापों से भरा है, इसलिए निस्सन्देह सम्भावना है कि इसका कुप्रभाव कमजोर मस्तिष्क पर पड़ सकता है। पर क्या हम व्यक्तियों के मनोरंजन को उनके आचरण और स्वभाव से जोड़कर उनके साथ अत्याचार नहीं करते? कहा जाता है कि ज्यों-ज्यों इस प्रकार के रहस्य-रोमांचक अधिक से अधिक प्रकाशित हो रहे हैं, चित्रपट के माध्यम से दिखाए जा रहे हैं, उसी प्रकार की असामाजिक घटनाएँ निरन्तर बढ़ रही हैं। यह एक बहुत ही संजीदा दृष्टिकोण है, और मैं समाज-शास्त्रियों के इस क्षेत्र में दखलन्दाजी नहीं करना चाहता; किन्तु क्या व्यक्ति-मानस के विकास के विभिन्न स्तर नहीं होते? क्या संसार का उच्चतम विकसित मनुष्य भी आरण्यक बर्बरता से एकदम शत-प्रतिशत छुटकारा पा

गया है ? यदि नहीं तो व्यक्ति ही की तरह समाज के मन की भी भिन्न-भिन्न मुद्राएँ और स्थितियाँ होती हैं। रहस्यरोमांचक अपनी समूची अच्छाइयों और बुराइयों के साथ इस आरण्यक बर्बरता के लिए रसविरेचन (केथार्सिस) का बहुत अच्छा माध्यम प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से उन्नत से उन्नत बौद्धिक और सुसंस्कृत व्यक्ति के भी कुछ ऐसे 'मूड्स' हो सकते हैं, जहाँ वह मेलोड्रामा, असम्भव कथा-व्यापार, अतिमानवीय घटनाएँ-प्रधान रहस्य-रोमांच को बड़े चाव से पढ़ता और आनन्द पाता है। इस दृष्टि से रहस्य-रोमांच एक निर्दोष मनोरंजन या ऊँचे स्तर की दिमागी क्रीड़ा हो जाती है; किन्तु जब उसके वीभत्स, जुगुप्सित और अमानवीय तत्त्वों की हम नक़ल करते हैं, तब न केवल स्वयं अपने व्यक्तित्व को विकलांग बनाते हैं, बल्कि इन बर्बर कौशलों को सीखकर समाज को अधिक से अधिक हानि पहुँचाने का कार्य भी कर सकते हैं। मैं समझता हूँ कि यह दोष रहस्य-रोमांचक विधा का नहीं, इस क्षेत्र में साहित्यिक बाना पहन कर कार्य करने वाले अपराधियों का है, जो साहित्य को मनोरंजन या मंगल की वस्तु न बनाकर अपने पाशविक स्वार्थ का साधन मानते हैं।

हमारे देश में खुद रहस्य-रोमांच का विपुल साहित्य वर्त्तमान रहा है। कादम्बरी, दशकुमार चरित और कथासरित्सागर से बड़ा रोमांचक साहित्य शायद ही विश्व में कहीं उपलब्ध हो और जिसने भी इनका पाठ किया है वह बेधड़क कह सकता है कि "इनका संस्थान उस बसुधान कोश की तरह है जिसमें ढक्कन के भीतर ढक्कन खुलता हुआ पद-पद पर नया रूप, नया यश और नया विधान आविष्कृत होता है।" (कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ९) ऐसा भी नहीं कि यह साहित्य मात्र उज्ज्वल पक्ष पर ही केन्द्रित हो। यहाँ भी आपको तामसिक तान्त्रिक (ब्लैक मँजेशियन) विट्, भुजंग, वेश्यागामी, जुआड़ी, बर्बर, चोर, डाकू, नरभक्षी पशु, मन्त्रयुद्ध करने वाले मायावी दैत्य, वंचक, हत्यारे, घूसखोर, मर्दों को फँसाने वाली डायनें, बलात्कार करने वाले नरपशु सभी मिलेंगे—घनघोर काली से काली रात की स्याही में तूलिका डुबोते इन रचनाकारों ने कभी संकोच नहीं किया; किन्तु मानवता की अन्तिम विजय की प्रभाती के प्रति इनकी आशावादिता कभी क्षीण नहीं हुई।

इस आशावादिता के प्रति जो जासूसी उपन्यासों और 'थ्रिलर्स' को पढ़ने के दौरान सार्त्र को उपलब्ध हुई, अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ले मो' में लिखा—

"मैं उन किताबों (रहस्य-रोमांचक) को खोलता, और सब कुछ भूल जाता। क्या वह पढ़ना था ? क्या इसे अध्ययन कहेंगे ? नहीं, पर वह आनन्दातिरेक के मारे मर जाने की तरह था × × वहाँ हत्याएँ थीं, खून की नालियाँ थीं। × × × यह सब कुछ शुद्ध बुरा, बहुत बुरा था; किन्तु यह सब इसलिए आता था कि इसकी पृष्ठभूमि पर अच्छाई खड़ी हो सके। हर गड़बड़ी अगले अध्याय में दुरुस्त हो जाएगी। बहादुर गौरांग

लोग आएँगे और जंगली बर्बरों को मार कर आबद्ध पिता को छुड़ा लेंगे और वह बाप अपनी कलपती-रोती बेटी को बाँहों में भर लेगा। इनमें से केवल दुष्ट ही मरते: एकाध अच्छे भी मर जाते हैं, क्योंकि कहानी की आकस्मिकता के लिए ऐसा जरूरी हो जाता है। यही नहीं, यहाँ मृत्यु खुद कीटाणुहीन रोग-मुक्त महत्ता पा जाती है। हाथ फैलाए सीने में लाल सुराख़ लिए आदमी गिर जाता है या अगर पिस्तौल का जमाना नहीं हुआ तो तलवार चमकती और लगता कि एक झटके से तलवार बदन में यों घुसेगी जैसे मक्खन में घुस रही हो और ख़ून के बिना एक कतरे के गिरे ही अपराधी दम तोड़ देगा। × × × (यह सब पढ़ते पढ़ते) आखिर को मुझे वह शत्रु मिल ही गया, जो घृणित था, यद्यपि सब कुछ कहने और होने के बाद वह बेचारा एकदम अहिंसक लगता क्योंकि चाहे वह लाख चालाक और अतिशय चतुर ही क्यों न हो, अन्त में उसकी सारी योजनाएँ फेल हो जातीं और अच्छाई या शिवत्व की प्रतिष्ठा हो जाती। एक बात और होती कि इस संकट के बीतने पर कुछ न कुछ प्रगति ही होती, यानी नायक और उसके साथी पुरस्कृत होते, धन, प्रशंसा मिलती, कोई नया राज्य मिलता, कोई अभूतपूर्व कला-कृति म्यूजियम से गायब हो कर फिर लौट आती, जान बचाने वाले बहादुर को वह सुन्दर लड़की मिल जाती और फिर शादी····इन्हीं सबों से मैंने अपने जीवन की सबसे बड़ी आन्तरिक विशेषता कल्पनात्मक आशावादिता प्राप्त की। (पृ० ४७) आज भी मैं 'सीरी न्वायर' (जासूसी उपन्यासों और थ्रिलर्स की एक सीरीज) को ज्यादा तत्परता से पढ़ता हूँ, अपेक्षाकृत वितजेन्सतीन के।" (पृ० ४८)

बहुत-से लोग जो अपने को तथा कथित 'सीरियस' साहित्य का पाठक घोषित करने में दम्भ का अनुभव करते हैं उन्हें वर्टेण्ड रसेल की 'इन प्रेज आफ आइडिलनेस' पुस्तिका का 'यूजलेस नालेज' शीर्षक निबन्ध पढ़ना चाहिए। कभी-कभी और आजकल खास तौर से जब अनावश्यक गम्भीरता बेशुमार बढ़ गई है, मन को हल्का और उल्लसित करने वाले निष्प्रयोजन काल्पनिक साहित्य की भी थोड़ी जगह होनी चाहिए। "विचित्र क़िस्म की चीजों का अध्ययन न केवल नाखुश करने वाली स्थितियों को कम खुश करने वाली स्थितियों में बल्कि खुश करने वाली स्थितियों को अधिक खुश करने वाली स्थितियों में बदल देता है।"

हमारी भाषा में प्रस्तुत रहस्य-रोमांचक साहित्य से कठिनाई एक दूसरी तरह की उपजती है। वह यह कि इनका अधिकांश बड़ा 'रबिश' और बचकाना होता है। इसमें बुद्धि को सोचने की, मनको गुदगुदाने की, ओज को जगाने की, ख़ून को गरमाने की, नसों को थिरकाने की सामग्री प्राय: नहीं के बराबर होती है। असल में यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण साहित्य-विधा है, इसमें और विधाओं से असफल होकर लौटे छँटुवे लेखकों की दरकार नहीं है, ऐसे लोगों की जरूरत है जो अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा ज्यादा व्यवहारिक, ज्यादा चौमुखी सूचनाओं और जानकारियों से सम्बद्ध तथा दैनंदिन विज्ञान

की प्रगति से अभिज्ञ हो और जो साहित्यकार होने के साथ-साथ उच्चकोटि के कानून-विशेषज्ञ, डाक्टर, सैलानी, साहसी और निर्भीक हों। केवल देशी-विदेशी रोमांचक साहित्य को बटोर कर 'कैंची-गोंदवाद' चला कर नए क़िस्म के रहस्य-रोमांचक साहित्य की सृष्टि नहीं की जा सकती।

इस तरह के लेखकों को इस विधा के अपूर्व व्यक्तित्व और जनक एडगर एलन पो की पंक्तियाँ सदैव याद रखनी चाहिए—"निम्न वासना के चंगुल से अपने को बचाए रहो क्योंकि यह प्रवृत्ति मनुष्य की अन्तरात्मा को पतित करती है, उसे ऊपर नहीं उठाती। कलात्मक सौन्दर्य हमेशा ही आत्मा की उन्नयनशील उत्तेजना में निहित है, उस वासना में नहीं जो मन को नशे की हालत में सुलाने का कार्य करती है।" (द पोयटिक प्रिंसिपुल)

● ●

नई कहानी : नये प्रश्न

●

(१) आलोचकों की उदासीनता और निराधार मान्यतायें

नई कहानी का यह बहुत बड़ा अभाग्य है कि उसे समझने और समझाने वाले आलोचकों का प्रायः अभाव है । १९५० से १९५७ तक के बीच में नई कहानी पर आधे दर्जन से अधिक निबन्ध नहीं लिखे गये इनमें से अधिकांश निबंध प्रयाग की कहानी पत्रिका के विशेषांकों में भूमिका के रूप में ही आये जो या तो एक वर्ष की कहानी का अपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करते हैं या तो शीघ्रता में लिखे जाने के कारण कुछ निराधार मान्यताओं को प्रश्रय देते हैं । इन निबंधों की सबसे बड़ी कमी रही—हिन्दी की नई कहानियों के व्यापक अध्ययन और उसके आधार पर उपलब्ध निष्कर्षों को सही और सन्तुलित ढंग से प्रस्तुत करने की । आलोचकों ने शहरी और ग्रामीण या ग्राम्य जीवन पर लिखी हुई कहानियों को दो समूहों में बाँट कर न केवल कथा-वस्तु के विवेचन में दो प्रकार के दृष्टिकोणों का आग्रह प्रस्तुत किया, बल्कि रचना-प्रक्रिया के बारे में भी उन्होंने शहरी और ग्रामीण कहानियों की दो शैली निर्धारित कर दी । यह सब कुछ ठीक भी मान लिया जाय तो भी एक भयंकर स्थिति को नजर अन्दाज करना ठीक नहीं होगा, जो इस प्रकार के खंडित दृष्टिकोण से कहानियों का अध्ययन करने के कारण पैदा हो गई है । ऐसे आलोचकों का यह भी कहना है कि जिन लेखकों की सामाजिक दृष्टि अपेक्षाकृत अपरिपक्व और कमज़ोर थी, उन्होंने ग्राम्य जीवन की कहानियाँ लिखीं । उदाहरण के लिए कहानी १९५६ के विशेषांक में पृष्ठ १९ पर लिखा गया—

"जो कहानीकार इतने जागरूक चिन्तक तथा पैनी सामाजिक दृष्टि वाले नहीं हैं, उन्होंने अछूते जीवन क्षेत्रों का सहारा लेकर पाठकों को अपनी ओर खींचने की कोशिश की है । अपने अपने अंचल या जनपद के लोक जीवन को कहानी में ले आने की प्रवृत्ति इसी का परिणाम है……।"

स्पष्टतः यहाँ आलोचक ने सामाजिक दृष्टि का कुछ भिन्न अर्थ लगाया है । जागरूक और पैनी सामाजिक दृष्टि का अर्थ मानसिक कुंठा और मनःस्थितियों के क्षण-क्षण परिवर्तित रूप का बारीक मनोवैज्ञानिक उलझाव माना जाये तो हमें उपर्युक्त कथन पर कोई खास आपत्ति न होगी । गाँव के कहानीकारों के लिए जनपद का जीवन वन्ध्या-भूमि की तरह नहीं था, इस भूमि पर प्रेमचन्द जैसे सशक्त और गहरी सामाजिक दृष्टि वाले बेजोड़ लेखक पैदा हो चुके थे, अतः इस भूमि को ग्रहण करने वालों के सामने एक बहुत बड़ा आदर्श और दृष्टिकोण पहले से ही मौजूद था ऐसी स्थिति में गाँव के जीवन का चित्रण किशोर

बुद्धि वालों का पलायन नहीं है; बल्कि एक बहुत बड़े कहानीकार के द्वारा शोधित और परीक्षित क्षेत्र में उसके कार्यों को आगे बढ़ाने का दृढ़ संकल्प है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के पीछे कितना बड़ा असन्तुलन था यह कहानी के १९५८ वाले विशेषांक में उन्हीं आलोचक यानी डा० नामवर सिंह के दूसरे लेख में स्पष्ट हो गया। १९५६ वाले लेख में जिन कहानीकारों की तुलना में गाँव के कहानीकारों को अपरिपक्व और कम पैनी दृष्टि वाला कहा गया था वे हैं राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश। (दे० १९५६ विशेषांक का पृ० १९)१९५८ वाले विशेषांक में मोहन राकेश के बारे में कहा गया है कि "वे यात्राओं में कहानी बटोरते चलते हैं, उनकी कहानी में दर्शक का सत्य है, दृष्टा का नहीं" (पृ० १५) और "राजेन्द्र यादव का लेखन बहुत उलझा होता है यह बात राजेन्द्र यादव के शिल्प के बारे में जितनी सच है उतनी ही वस्तु के बारे में" (पृ० १४) इसी लेख में "अपरिपक्व और कम जागरूक दृष्टि वाले" कहानीकारों के बारे में कहा गया है कि इनकी कुछ कहानियों के चरित्र "केवल सशक्त व्यक्ति ही नहीं, आज की ऐतिहासिक शक्ति के प्रतीक हैं"। (पृ० १६) मैं उपर्युक्त वाक्य विचार के बीच की उपपत्तियों से नहीं बल्कि आलोचक के निष्कर्षों से उद्धृत कर रहा हूँ। जाहिर है कि इस प्रकार के परस्पर विरोधी कथन शीघ्रता-जन्य लेखन के कारण ही उपस्थित हुए हैं या कौन जाने इनके पीछे "बन्दरबाँट" वाली चौधुराना प्रवृत्ति ही काम कर रही हो। जो कुछ भी हो ऐसे मतों से एक तरफ जहाँ कहानीकारों को अपने सही मार्ग पर चलने में बाधा पहुँचती है वहीं दूसरी ओर पाठक के मन में एक मिथ्या धारणा का निवास भी होता है। आज जब नई कहानी को समझने और समझाने वालों की इतनी आवश्यकता आ पड़ी है, इस प्रकार के मतों से वातावरण और भी कुहरीला ही होगा, इसमें सन्देह नहीं।

(२) मनोवैज्ञानिक यथार्थ और ग्रामीण कहानियाँ

हिन्दी कहानी के आलोचक प्रेमचन्दोत्तर कहानियों में मनोविश्लेषण और उसके अनावश्यक प्रयोगों से घबड़ा कर स्वस्थ जीवन और सन्तुलित व्यक्तित्व के चरित्रों को उभारने वाली कहानियों की प्रशंसा करते हैं। मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण की प्रणाली का एक ज़माने में बड़ा दुरुपयोग हुआ है, इसमें शक नहीं और लक्षण-लक्ष्य वाली पद्धति पर कुछ मनोवैज्ञानिक नियमों का उदाहरण बन कर रची जाने वाली कहानियों की निन्दा अनुचित भी नहीं है।

आज के युग की परिस्थितियों से क्या नगर क्या गाँव सभी प्रभावित होते हैं। मात्रा में कमी-वेशी अवश्य ही होती है। गाँवों के जीवन में भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो खंडित व्यक्तित्व के है, यह सही है, जैसा श्रीपत राय ने १९५६ वाले विशेषांक में लिखा है कि "गाँवों का मानव स्नायविक दुर्बलताओं का शिकार नहीं, मानसिक कुंठा का बन्दी भी नहीं (पृ० १०)" किन्तु गावों का मनुष्य एकदम सपाट, सीधा, निश्छल है, ऐसा

भी नहीं कहा जा सकता। उसके जीवन में भी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थितियाँ आती हैं, वह भी अपनी आर्थिक सामाजिक और पारिवारिक परिस्थितियों में तिलमिला कर कुएँ में कूद कर, रेल से कट कर या सारे शरीर में आग लगा कर जान दे देता है। गावों में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं है, जिनके विक्षिप्त मन के अन्वेषण करने से कई प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों, विषमताओं तथा अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। बहुत से आलोचक जो प्रेमचन्द की कहानियों के सीधे स्थूल और प्रत्यक्ष पक्ष को ही दृष्टि में रखते हैं, आजकल के कहानीकारों द्वारा कुछ खास प्रकार के विचित्र लगने वालों चरित्रों का चित्रण देख कर उन्हें (नये कहानीकारों को) प्रतिगामी विपथगामी आदि कहने लगते हैं। वे नये कहानीकारों को प्रेमचन्द से भिन्न और इसी कारण सामाजिक यथार्थ के दृष्टिकोण का विरोधी तक कहने लगते हैं। मेरी कहानियों के बारे में एक बार एक आलोचक ने कहा था कि ये प्रेमचन्द की परम्परा में नहीं हैं। मैंने बड़े से बड़े किसी लेखक की परम्परा में शामिल होने के लिए कभी आवेदन पत्र नहीं दिया और न कभी ऐसा करने का विचार ही है। सवाल कहानी को चाहे वह आज के लेखक की हो, या प्रेमचन्द की, ठीक से समझ सकने का है। मैं इस विषय में जोर दे कर कहना चाहता हूँ कि ऐसे लोग प्रेमचन्द की कहानियों के विकास से सूक्ष्म द्रष्टा नहीं हैं। प्रेमचन्द की अन्तिम कहानियों में जिस यथार्थवादी मनोविज्ञान की या मनोवैज्ञानिक यथार्थ की व्यंजना हुई है उसे वे भूल जाते हैं। प्रेमचन्द ने खुद लिखा है—"सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।" (कुछ विचार पृ० ३६) यों कहना चाहिए कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोवैज्ञानिक सत्य है। घटनायें और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं।' (कुछ विचार पृ० ३७)। प्रेमचन्द ने इस सिलसिले में अपनी कहानियों का ज़िक्र भी किया है। कफन संग्रह की उनकी कहानियों में ऐसी परिस्थितियों का चित्रण किया गया है जिसे आजकल के उत्साही आलोचक अयथार्थ कहेंगे। मरी पत्नी या बहू के कफन के लिए भीख मांग कर इकट्ठा किये पैसों को किसान पूड़ी और शराब में खर्च करके नाचते-गाते हैं। पूस की रात का नायक अपने खेत के नष्ट हो जाने पर कहता है—"चलो अच्छा हुआ अब रात को यहाँ सोना नहीं पड़ेगा"। ये चीजें यों ही नहीं कहीं गई हैं। इनके पीछे इन व्यक्तियों के मन का एक बहुत बड़ा रहस्य छिपा है। अन्यथा कौन विश्वास करेगा कि गाँव में पैदा हुए ग़रीब किसान ऐसा भी करते हैं, पर ये करते हैं। उस मनःस्थिति में जो मनुष्य को पशु की तरह जीने के लिए विवश करती है। इन तमाम विचित्रताओं के बावजूद ये चरित्र भले ही वर्गगत न लगें, पर यथार्थ हैं, इसमें सन्देह नहीं। नये कहानीकार प्रेमचन्द की इसी परम्परा को बढ़ा रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि वे कुंठा और मनोमंथन के शहरी चित्रण की नकल करें या अपनी कहानियों को उस सडांध से दूषित करें, पर इसे एकदम नकार जाना संभव नहीं है। ग्राम्य जीवन के कथा-साहित्य में इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक यथार्थ का प्रयोग कैसे होना चाहिए

इसका बहुत सुन्दर उदाहरण प्रेमचन्द की पिछली कहानियों और उनके गोदान उपन्यास में दिखाई पड़ता है। मै मानसिक गुहा-गह्वर के विकृत मन वाले मनुष्यों के चित्रण की सिफ़ारिश नहीं कर रहा हूँ। ग्रामीण मनोवैज्ञानिक यथार्थ नागरिक मनोविज्ञान से बिल्कुल भिन्न तरीकों और साधनों में व्यक्त होगा, इसके लिए सूक्ष्म दृष्टि की दरकार है।

(३) प्रकृति, रूमानियत और लोक तत्त्वों का प्रयोग

ग्रामीण कहानियों में प्रकृति का चित्रण, वातावरण के रूप में आना अवश्यंभावी है। गाँवों की प्रकृति सुन्दर भी है, कुरूप भी। वैसे गाँव वाले की नज़र से प्रकृति कभी कुरूप नहीं होती। गाँव की नई कहानियों में प्रकृति के अंकन के बारे में आलोचकों ने शंकायें व्यक्त की हैं। १९५६ वाले विशेषांक में दो आलोचकों ने यह आशंका व्यक्त की है कि कहीं यह फ़ैशन तो नहीं बन रहा है। किसी भी बात का फैशन बनाना बुरा है और इस प्रकार जो कथाकार अपनी कहानियों में प्रकृति चित्रण केवल खानापूरी या मात्र आकर्षण के लिए प्रस्तुत करते हैं वे अपराधी कहे जा सकते हैं। वैसे मैं यह मानता हूँ कि प्रकृति का सजीव वर्णन स्वयं में बहुत बड़ी चीज है। प्रकृति के प्रति व्यक्ति का लगाव, सम्बन्ध और निरीक्षण जितना ही गहरा होगा, उसमें सजीवता और यथार्थ का उतना ही अधिक संयोग दिखाई पड़ेगा। एस० अन्तोनोब ने मिखाइल प्रिश्विन की कहानियों पर विचार करते हुए लिखा था कि "किसी रचना की सुन्दरता और कलात्मक शक्ति को बढ़ाने वाले बहुत से तत्त्वों में एक यह भी है कि लेखक के अभिप्राय और दृष्टिकोण को व्यक्त करने और उसे पाठकों तक पहुँचा सकने का एक सुनिश्चित ढंग अपने आप स्पष्ट होता जाए। मिखाइल प्रिश्विन की कहानियों का सौन्दर्य इसी बात में है कि इनमें लेखक की अन्तरात्मा जो अपनी जन्मभूमि की प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम और उल्लास से भरी है, निरन्तर इस बात के लिए सचेष्ट है कि अपने पाठकों तक इस प्रेम को पूरी तरह पहुँचा दे।" (सोवियत लिटरेचर, १९५३ सं० ५) जिन्हें प्रकृति चित्रण की बारीकी देखना हो वे प्रेमचन्द की पूस की रात और उस समय की अन्य कहानियों में देखें। प्रकृति चित्रण के साथ ही और कभी-कभी यूँ भी एक और आपत्ति उठाई जाती है कि इन लेखकों ने रूमानी चित्रण प्रस्तुत किये हैं। (दे० १९५६ विशेषांक पृ० २०) रूमानीयत या रोमेण्टिक तत्त्वों का प्रयोग नई कहानियों में है और हो रहा है, मैं उसे अस्वीकार नहीं करता। बहुत सी कहानियों में रूमानी-प्रेम व्यापारों का चित्रण भी हुआ है। जिसमें हमारे कहानीकारों ने महुवे के फूलों की गंध की भाँवरे लगाई हैं। किन्तु रोमांस क्या इतना कदर्थ्य है। यथार्थ और रोमेंटिक दृष्टि क्या परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं ? यह बहुत बड़े विवाद का विषय रहा है इसलिए मैं इस पर कुछ ऐसा नहीं कह सकूँगा जो नया हो। पुरानी बातों में से ही एक मैं यहाँ इसलिए दुहरा देना उचित मानता हूँ क्योंकि उसकी सच्चाई में अब भी कोई फ़रक नहीं मालूम होता है। रोमेण्टिसिज्म का ह्रासशील, पलायनवादी और निष्क्रियता जनक रूप अवश्य ही त्याज्य

है किन्तु रोमांस एक बहुत बड़ी ताकत भी है यदि इसका सही सन्तुलित और जीवनोन्मुखी प्रयोग किया जा सके। गोर्की ने 'पाल वर्ले एण्ड डिकेडेंट्स' शीर्षक निबंध में रोमेण्टिसिज्म के ह्रासशील पक्ष की घोर निन्दा करते हुए भी उसके उन्नयनकारी रूप की तारीफ की है और 'रोमेण्टिक रियलीज़्म' का समर्थन किया है। गोर्की ने सोवियत साहित्य के बारे में विचार करते हुए लिखा है कि "यथार्थवाद और रोमेण्टिसिज्म का सम्मिश्रण हमारे महान् साहित्य की ऐसी विशेषता है जो इसे मौलिक बनाती है और एक ऐसी शक्ति देती है जो विश्व के अन्य साहित्यों को प्रभावित करने की क्षमता पैदा करती हैं"। (लिटरेचर एण्ड लाइफ, पृ० २५)।

हिन्दी के नये कहानीकार लोकतत्त्व का प्रयोग भी कर रहे हैं। लोक तत्त्व एक और जहाँ इस मशीनी युग में जन-जीवन के स्वाभाविक, सहज और अनलंकृत स्पदन की रक्षा करने में समर्थ हुआ है वहीं उसमें अन्धविश्वास, टोना-टटका, रूढ़ियों, प्रथाओं आदि की अवांछित और अस्वास्थ्यकर विचित्रताओं को प्रश्रय भी मिला है। हमारे लेखकों ने लोकतत्त्व के प्रयोग से कहानी में एक नई चेतना पैदा की है इसमें शक नहीं, किन्तु जैसा मैंने अभी निवेदन किया कि यह बड़ा खतरनाक रास्ता है, इस पर सावधानी से न चलने पर हानि की संभावना भी बनी रहती है। सामाजिक विकास की दिशाओं का सही ज्ञान न होने के कारण कभी-कभी ऐसी वस्तुओं को प्रश्रय मिल सकता है जो न केवल मानव-विरोधी हैं बल्कि कृत्रिम और अतिमानवीय तत्त्वों से भरी हुई भी होती हैं। उदाहरण के लिए पुरानी लोक कथाओं का प्रयोग करके बीते युग और नये युग के मानव-मूल्यों का फर्क दिखाते हुए विकास की सही दिशा का आकलन एक स्तुत्य प्रयत्न है, पर यहीं आकर्षण और चमत्कार के लोभ में टोना-टटका को भी प्रश्रय मिल सकता है। किसी समर्थ, संयमी, ब्रह्मचारी पुरुष की प्रशंसा तो ठीक है, परन्तु उसे बुरी नजर से देखने वाली वेश्या को शाप से अन्धी बना देना न तो यथार्थ होगा और न तो उचित ही। उसी प्रकार गाँवों में प्रचलित बहुत से अन्धविश्वास जो एक खास प्रकार की रंगीनी और रहस्यात्मकता पैदा करते हैं, कहानियों में उपस्थित होकर ग़लत मान्यताओं का प्रचार भी कर सकते हैं।

(४) नया-पुराना

संक्रमण काल के समाज का चित्रण करने वाले लेखकों के सामने यह प्रश्न सदा रहा है कि वे किस प्रकार जो अनावश्यक है, टूट रहा है, ह्रासोन्मुखी है उसे छोड़ दें और जो स्वस्थ है, नया है, विकासशील है उसे ग्रहण करें। नया और पुराना न केवल स्वयं में बहुत स्पष्ट और निरीक्षण-सापेक्ष्य है अर्थात् इनकी परिधि में क्या ग्रहण होगा, क्या नहीं यह निर्णय करना बहुत कठिन है; बल्कि पुराने को बिल्कुल छोड़कर नये की अवतारणा असंभव भी है। बहुत से आलोचक ग्रामीण जीवन के कहानीकारों पर यह आरोप करते हैं कि वे सामंती अवशेषों या मध्यवर्गीय जीवन के कुछ व्यक्तियों के चरित्रों

के निर्माण में सहानुभुति दिखाते हैं या रस लेते हैं। ऐसे आलोचकों की यह भी आपत्ति है कि इनके द्वारा निर्मित सजीव चरित्र प्रायः सामंती संस्कृति के अवशेष हैं। सामन्ती जीवन या संस्कृति के अवशेष-व्यक्तियों में यदि कुछ ऐसे गुण हैं जो समाज के लिए कल्याणकर हैं तो उन्हें प्रश्रय देना बुरा नहीं कहा जा सकता। मनुष्य की निरन्तर विकासशील संस्कृति प्रत्येक युग के उन स्वस्थ और उन्नयनशील तत्वों को आत्मसात् करके ही आगे बढ़ती है, जो भावी संस्कृति के लिए सम्बल होते हैं। सामन्ती संस्कृति के प्रति सहानुभूति का आरोप अलबत्ता विचारणीय है जो मेरी समझ से एक खास प्रकार की गलतफ़हमी के कारण पैदा हुआ है। चरित्र के निर्माण में हम उन तमाम आवश्यक बातों का वर्णन करते हैं जिससे उस व्यक्ति का चरित्र बनता है। ऐसी अवस्था में उन रूढ़ियों, मार्यादाओं, मिथ्याभिमान, जात्यभिमान तथा अनेक प्रकार के पुरातन-वादी संस्कारों तथा रुचियों का वर्णन आ जाना आवश्यक होता है, जो समवेत रूप से उस व्यक्ति को वह बनाते हैं जो वह है। किन्तु उस चरित्र की सजीवता या महत्ता इस बात से नहीं पैदा होती कि वह इन रूढ़ियों की दीवारों में कितना बंधा है, सजीवता तब आती है जब वह इन दीवारों या इनसे उत्पन्न मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों की किलेबन्दी को तोड़ देने में सफल होता है। या कम से कम सफ़ल नहीं भी हो पाता तो ईमानदारी के साथ प्रयत्न अवश्य करता है। मैं इसके साथ यह नहीं कहना चाहता कि इन कहानी-कारों ने कुछ ऐसा लिखा नहीं है जिसमें पुरातनप्रियता का संकेत नहीं मिलता। गाँवों के बारे में कहानियाँ लिखने वालों में बहुत से ऐसे भी हैं जो बीस साल पुरानी वस्तु को खास ढंग से घुला-घुला कर कहने में मज़ा लेते हैं। गावों के जीवन को दूर से देखने वाले लोग इसे इतना पवित्र, ऊँचा और महान् समझते हैं कि केवल देव-देवियों का चित्रण करना ही वे आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार के प्रवंचना पूर्ण आदर्श गावों को सही रूप में प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सकते। मनुष्य की क्षुद्रता के बीच से, जो उसमें है, उसकी मनुष्यता के विकास और रक्षा का प्रयत्न होना चाहिए।

गाँव के कहानीकारों की सामाजिक दृष्टि की वस्तुतः यही परीक्षा है। यहीं पर उनकी कलई खुल सकती है कि वे प्रेमचन्द की शोधित भूमि को वे किस रूप में देख रहे हैं। इस दिशा में कुछ आंचलिक उपन्यास लिखने वाले व्यक्तियों ने भी अपनी अत्यन्त उलझी हुई राजनीतिक दृष्टि के कारण ऐसे चरित्रों का निर्माण किया है जो आकर्षक और दिलचस्प तो हैं पर नये युग के निर्माता नहीं हैं। ऐसे उपन्यासकारों का प्रभाव भी कुछ कहानीकारों पर बुरे ढंग से पड़ रहा है और वे उनकी देखा-देखी गाँवों के जीवन के उन पक्षों को उजागर करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो कुतूहल बढ़ाने का कारण तो बनते हैं; पर समस्या का रूप नहीं लेते। उदाहरण के लिए हठयोग साधक और तांत्रिक प्रभावों में जनता को भुलावा देने वाले योगिराजों का गाँवों में अवतरण कोई समस्या नहीं है। नारेबाजी, और निर्वाचनों में काम लाये जाने वाले मनोरंजनों

का विशद वर्णन, लोकगीतों के मधुर अन्दाज के साथ तो सुनाई पड़ते हैं, पर इनसे जनता की राजनीतिक चेतना का किंचित् पता भी नहीं चलता। यहीं पर ग्रामीण कहानीकार को जीवन के प्रति तटस्थ द्रष्टा और उसमें लीन होकर जागरूक भोक्ता की समवेत भूमिका अदा करनी है। गावों में होने वाले परिवर्तनों, विचारधाराओं के संघर्षों और अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों का सही परीक्षण करना आवश्यक है। शरच्चन्द्र की नारियों का प्यारदुलार भरा युग अब नहीं रहा और न तो गावों में उस प्रकार के निर्लिप्त आसक्ति वाले श्रीकान्तों की गुज़र है। गावों के काल्पनिक पार्कों में प्रेमी और प्रेमिकाओं के जोड़े हाथ डाले अब नहीं घूम सकते।

(५) भाषा और शैली

मैंने प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत ही कहा था कि शहरी और ग्रामीण इन दो समूहों में हिन्दी कहानी को बाँटने से एक हानि यह हुई है कि आलोचक गाँव के कथाकार से सीधे सादे निश्छल सपाट व्यक्तियों की तरह ही सीधीसाधी सपाट भाषा शैली की माँग करने लगता है। बहुत से आलोचक यह मान बैठे हैं कि गाँवों के कथाकार को शैली सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इस दिशा में सबसे बड़ी गलतफहमी प्रेमचन्द के शिल्प-प्रयत्नों को न समझने के कारण हुई है। अक्सर सीधी सादी शैली के लिए प्रेमचन्द और चेखब का नाम लिया जाता है। पर ये दोनों ही कथाकार बहुत बड़े शैलीकार भी थे इसे लोग भूल जाते हैं। कहानी लिखने में प्रेमचन्द कितना प्रयत्न करते थे इसे खुद उन्होंने बताया है। चेखव ने एक कहानी को आठ-आठ बार लिखा, रद्दो-बदल किया और सुधारा। प्रेमचन्द ने अपनी दो सौ के करीब कहानियों में शैली के जितने प्रयोग किये उतना शायद ही किसी हिन्दी कथाकार ने किये हों। चेखव की कहानियों के बारे में गोर्की ने लिखा है—"चेखव बहुत बड़ा स्टाइलिस्ट है, इस युग का वह अकेला लेखक है जिसने एक ऐसी कलाकारिता प्राप्त की है जो बेजोड़ है। चेखव की कहानियाँ अमूल्य मुलायम नाजुक लाह की तरह है जो बहुत सावधानी और बारीकी चाहती है, भद्दे हाथ के स्पर्श से ये खराब हो जायेंगी।" (लिटरेचर एंड लाइफ पृ० ३७)।

गाँव के कहानीकारों की भाषा के बारे में दो शब्द कहकर मैं अपनी बात समाप्त करता है। नये कहानीकारों में भाषा में बहुत प्रयोग किये हैं अर्थात् देहात के शब्दों का अटूट इस्तेमाल। मैं इस प्रवृत्ति की अतिशयता का विरोधी हूँ। मैं गाँव के कहानीकारों द्वारा ठूस-ठूसकर अन्यावश्यक ढंग से प्रयुक्त होने वाले भदेस शब्दों को पसन्द नहीं कर सकता। जहाँ परिनिष्ठित हिन्दी के शब्द प्राप्त नहीं, वहाँ तो देशी, जन-प्रचलित शब्द आवश्यक हैं और वे एक नई शक्ति भी पैदा करते हैं। पर सिर्फ यह दिखाने के लिए, कि कहानी गाँव की है, देसी शब्दों का भराव कहानी को बेडौल बनाता है। गोर्की का पुनः उद्धरण देने के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे किन्तु यह इतनी सटीक बात है कि इसे

उद्धृत करने का मैं लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। गोर्की ने अपने एक भाषा में, जो 'लिटरेचर एण्ड लाइफ' में 'ए टाक विद यंग पीपुल' शीर्षक से छपा है, भाषा के बारे में कहा' "यद्यपि साहित्य की भाषा जन-भाषा से ही विकसित होती है तो भी वह अपने स्रोत से बहुत अधिक भिन्न होती है क्योंकि वस्तुओं के वर्णन में वह उन तमाम तत्त्वों को छोड़ देती है जो अस्थायी तथा ध्वनि की दृष्टि से विकृत, संवेगमूलक तथा अस्पष्ट और भदेस हैं, जैसे कि हर एक बोलचाल की भाषा में होते हैं—किन्तु जो कई कारणों से परिनिष्ठित भाषा की गठन और उसकी आत्मा के अनुकूल नहीं होते क्योंकि ये प्रयोग सामान्य भाषा को प्रेषणीयता में बाधक होते हैं। परिनिष्ठित भाषा एक बहुत व्यापक क्षेत्र के प्रत्येक मनुष्य के व्यवहार की चीज होती है। इसलिए भदेस शब्दों का प्रयोग कम से कम होना चाहिए।" (लिटरेचर एन्ड लाइफ पृ० १४१)

मैंने आपके सामने संक्षेप में अपने विचार रख दिए हैं। यह ग्राम कथाकारों की ओर से सफाई नहीं है, चुनौती भी नहीं। इसपर यदि आप रुककर सोचें, और निष्पक्ष ढंग से नई कहानी की समस्याओं पर विचार करें, तो मुझे विश्वास है कि आपकी परिचर्चा को बढ़ाने में यह निबंध सहायक हो सकता है।[1] ● ●

---

१. १९५७ में इलाहाबाद के साहित्यकार सम्मेलन में "कहानी गोष्ठी" में पढ़ा गया निबंध।

आज की हिन्दी-कहानी : प्रगति और परिमिति

●

हिन्दी-कहानी को भाग्यवश उन परिस्थितियों से नहीं गुजरना पड़ा जो योरोपीय कहानी के सामने चेखव और अन्य जागरूक कथाकारों के आगमन के पहले खड़ी हो गई थी। व्यक्तिवाद के अत्यन्त घृणित और उच्छृंखलित रूप की सर्वत्र प्रधानता थी, जो एक ओर रुग्ण मन के खंडित व्यक्तित्वों के चित्रण को प्रेरणा दे रहा था, तो दूसरी ओर क्राइम, सेक्स को एडवेंचर और साहसिक रोमांच के नाम पर बढ़ावा दे रहा था। हिन्दी में प्रेमचन्द के उदय के कारण इस प्रकार की प्रवृत्तियों को शरण नहीं मिली। प्रेमचन्द ने अपनी सुधारवादी दृष्टि और यथार्थवादी चेतना के बल पर हिन्दी कहानी को जीवन के निकट खड़ा किया। गणित और प्रारम्भिक विज्ञान के विकास की पृष्ठभूमि मे रेनेदेकार्त जैसे दार्शनिकों ने प्राचीन संस्कारों और मिथ्या आवरण कों 'फाड़ कर' मनुष्य की बुद्धि की प्रधानता घोषित की। विज्ञान और धर्म के युद्ध में विज्ञान जीत गया। धर्म की मान्यताएँ या आवश्यकताएँ टूटने लगीं या अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिये अपने को विज्ञान-सम्मत प्रमाणित करने का प्रयत्न करती रहीं। सुधारवाद इसी दर्शन की देन थी। विज्ञान के क्षेत्र में नयी शक्तियों का उदय हुआ, जीवन उलझा और इसी बीच डार्विन का विकासवाद, फ्रायड का मनोविज्ञान, प्रकृतिवाद, अस्तित्ववाद और साम्यवाद जैसी विचारधाराएँ नानारूपों में प्रसरित हुई। इन दर्शनों के पीछे मानवमन का परिवर्तन स्पष्ट था। कथा-साहित्य में इस उलझन और उद्वेलन का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। प्रेमचन्द के बाद इस परिवर्तित समाज-मनके चित्रण का भार जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, अश्क आदि कथाकारों के जिम्मे आया। प्रेमचन्द की व्यापकता इनको न मिली, गहराई में ये अवश्य उतरे। इनकी कहानियों में व्यक्तिवादी स्वर की प्रधानता थी। टूटे हुए, असफल क्रान्तिकारी नायकों की प्रधानता इस बात का सबूत है। ये कथाकार अपनी शुरू की रचनाओं में बाह्य जीवन से विलगाव के बावजूद विकाशील जीवन के कुछ अंशों का चित्रण करने में सफल हुए। किन्तु जीवन से विच्छिन्न रहने के कारण धीरे-धीरे इनकी कहानियों में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। जैनेन्द्र में यह विचारशीलता के नक़ाब के रूप में आई। अज्ञेय ने प्रयोगों की नवीनता और शैली के बल पर, यशपाल ने यदाकदा रूढ़ियों और ढकोसलों पर व्यंग्य करके तथा अश्क ने कुछ रोमेण्टिक खण्ड चित्रों के आधार पर अपना आकर्षण कायम रखा। कहानियों का लेखन पूर्ववत् जारी रहा, पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर कच्चे-पक्के माल से भरे रहे। पर आश्चर्यजनक रूप से ४०-५० के बीच कभी भी कहानी पर चर्चा, विचार-विमर्श, लेखा-जोखा, तल्खी-गर्मी

नहीं उपजी। जीवनी शक्ति के क्षयकाल में नाना प्रकार के पेशेवर कथाकार उभर कर सामने आये और ऐसा लगा कि हिन्दी कहानी भी थ्रिल, क्राइम और अधोमुखी रोमान्स का ग्रास बन जायेगी। हिन्दी के कोई भी दो आलोचक शायद ही किसी एक बात पर एक मत होते हों। वाजपेयी, शर्मा और चौहान जैसे आलोचकों में किसी बात पर मतैक्य होना आश्चर्य की बात है। पर हिन्दी कथा-साहित्य के इस क्षयकाल के विषय में तीनों ही एक मत हैं। 'जन-जीवन की बहुलता, सम्पर्कजन्य वास्तविक संवेदन इस प्रकार की कहानियों में नहीं है।' (आधुनिक साहित्य, पृ० २००) इस 'साड़ी जम्फर साहित्य' की परम्परा बढ़ती फूलती रही। अब यह परम्परा अपने ह्रास की सीमा तक पहुँच गई है, और ज्यादा दिन तक हिन्दी-पाठकों को बहलाया न जा सकेगा।' (प्र० सा० की समस्याएँ, पृ० १२९) 'यह कहानी की परम्परा-भ्रष्ट प्रवृत्ति थी' (हि० सा० के ८० वर्ष, पृ० १९२)।

इसके साथ ही प्रवृत्तिमूलक कथा साहित्य की एक और श्रेणी भी दिखाई पड़ती है। इस समूह में उपर्युक्त कथाकारों की तरह बड़े नाम तो नहीं हैं, पर इस समूह का भी हिन्दी कथा को नष्ट करने में कम हाथ नहीं रहा है। यह श्रेणी है राजनीतिक विचारधारा के ध्वजवाहक लेखकों की। साम्यवाद के नाम पर लिखी हुई, नीरस, जुगुप्सित, निश्चित साँचे में ढली हुई इन कहानियों का एक ही शीर्षक हो सकता है, 'लाल झण्डा और मशाल'।

आज की हिन्दी कहानी को इसी पृष्ठभूमि में देखना है। आज के कथाकार के सामने एक ही प्रश्न था, कहानी को पथभ्रष्ट होने से बचाना जो सस्ते रोमांस और मन के गुहा गह्वर में लुप्त होती जा रही थी। और उसे उस नारेबाजी से बचाना था, जहाँ कहानियाँ मशीनों के 'लार्ज स्केल प्रोडक्शन' के स्तर पर बाजारों में भर रही थीं, जिन पर कलाकार के हाथों के स्पर्श का नितान्त अभाव था। यह तो मैं नहीं कह सकता कि आज की हिन्दी कहानी में ये दो प्रवृत्तियाँ सर्वथा समाप्त हो गई हैं, पर इतना मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि ये प्रमुख और मूल प्रविृत्तियाँ नहीं हैं। हिन्दी कहानी पहले से कहीं ज्यादा संवेदनापूर्ण और नाना स्तर की जीवन्त अनुभूतियों से भरी हुई है। उसमें दुःखी व्यक्ति के लिये मात्र नारेबाजी नहीं, सहानुभूति और दर्द भी है। मनोविश्लेषण के नाम पर रेखागणित की तरह लक्षण और उदाहरणों की विवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती।

यद्यपि आज हिन्दी-कहानी जीवन के कहीं ज्यादा निकट है, पर अब भी बहुत सी प्रवृत्तियाँ प्रबल दिखायी पड़ती हैं जो नाना प्रकार की कलाबाजियों की आड़ में हमारी ज़िन्दगी की ग़लत तस्वीर प्रस्तुत करने का काम भी कर रही हैं। आज हिन्दी का शायद ही कोई ऐसा कहानीकार हो, जो यह दावा न पेश करता हो कि उसकी कहानियों में जीवन के नये स्पन्दन, नयी भाव-भूमियाँ, नये स्वर को अभिव्यक्ति दी गई है। किन्तु मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि इन दावों की आड़ में या तो अपनी कमज़ोरी

को छिपाने का प्रयत्न किया गया है या कि हम अपने को इतना सही समझते हैं कि ग़लती को ग़लती मानना भी हमें स्वीकार नहीं है। कहानी में जीवन की अभिव्यक्ति को परखना और उसे स्पष्ट कर सकना आसान नहीं है। फिर भी हम सुविधा के लिए दो-चार मूल प्रश्नों को सामने रखकर इस समस्या पर कुछ हद तक विचार कर सकते हैं।

इस दिशा में पहला प्रश्न यह है कि क्या हमारी कहानियाँ जातीय साहित्य की कोटि में रखी जा सकती हैं ? जातीय साहित्य का अर्थ है किसी देश का वह साहित्य जो असली अर्थों में वहाँ का साहित्य कहा जा सके। जिसमें उस देश की जनता के दुःख संघर्ष, इच्छाओं, आकांक्षाओं को अंकित करने का प्रयत्न किया गया हो। वहाँ की सांस्कृतिक विरासत को समझते हुए समाज और जीवन में संघर्षरत स्वस्थ और विकासशील तत्त्वों का संरक्षण किया जाता हो। मनुष्य के बाहरी और भीतरी जीवन में पड़ने वाले नाना प्रकार के प्रभावों का सही विश्लेषण किया गया हो। ऐसे साहित्य को हम उस देश का जातीय साहित्य कह सकते हैं। इसी प्रकार का साहित्य किसी देश की जनता का सही प्रतिनिधि होता है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि हिन्दी में शहरी कथा के नाम पर लिखे जाने वाले साहित्य का एक हिस्सा जातीय साहित्य के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह हमारी जातीयता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। उसे हम भारतीय साहित्य नहीं कह सकते। 'शहरी कथा' शब्द के इस्तेमाल के लिए पाठक मुझे क्षमा करेंगे। ग्राम-कथा और शहर-कथा शब्द बेमानी हैं। कहानी की आलोचना में इनको अलग श्रेणी मानकर चलना ग़लत है; कहीं का भी साहित्य हो, यदि वह जीवन को ईमानदारी से प्रस्तुत करता है, तो वह श्रेष्ठ है। किंतु 'शहरी कथा' के प्रयोग की लाचारी इसलिये है कि यह शब्द शहर के कथाकारों ने उस 'अछूत साहित्य' से अपने को भिन्न करने के लिये, प्रयुक्त करना शुरु किया है, जिसे ग्राम-कथा कहा जाता है। तमाशा यह है कि 'ग्राम-कथा' का नाम भी उन्होंने ही प्रदान किया और आज वे ही शोर भी कर रहे हैं कि ग्राम-कथा का और शहर-कथा का विभाजन ग़लत है। मैं कहता हूँ कि यह विभाजन ग़लत है, यदि इसका मतलब श्रेणी है, इस या उस नाम का होने से कोई कहानी अच्छी या बुरी कही जाती हो, तो यह अनुचित है, यह विभाजन ग़लत है। पर यह विभाजन सही इसलिए है कि उन्होंने 'ग्राम-कथा' को अप्रतिष्ठित करने के प्रयत्न में इस शब्द को बहुत प्रचलित कर दिया है। ग्राम-कथा में चलनी-सूप, जाँते की बातें भर हैं, इसलिये इसे तरजीह देना अनुचित है। ग्राम-कथा वही लिखते हैं, जो जीवन की उलझनों को नहीं समझते, यह कम-बुद्धि के लोगों का प्रयत्न है ...आदि-आदि फ़ैसले देने के बाद नगर के तथाकथित कथाकारों ने अब दूसरा नारा बनाया है कि शहर-कथा और ग्राम-कथा का विभाजन ग़लत है, क्योंकि पहले वाले नारों से ग्राम-कथा का कुछ नहीं बिगड़ा। इसलिये मैं कहता हूँ कि विचार करने के लिए शहर और ग्राम-कथा का नाम ले आना अब मजबूरी है। क्योंकि ग्राम-कथा 'सबल थीम' का आन्दोलन

है। हमेशा 'स्ट्रांग कंटेंट' के आने पर इसी प्रकार की दुहरे पैंतरेबाज़ी का तमाशा खड़ा होता है। शुरू में उसे बाहियात कहा जाता है, पर बाद में जब यह बँटवारा अपने ही ख़िलाफ जाने लगता है, तब यह कहा जाता है कि ऐसा बँटवारा नहीं होना चाहिए। ग्राम-कथा की त्रुटियों का जिक्र बाद में होगा, यहाँ तो प्रश्न है नगर-कथा और जातीय साहित्य।

आज हमारे नगरों के जीवन में सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष जितना तीव्र है, उतना अभी गावों में नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर नये-पुराने, के सैकड़ों संस्कार परस्पर युद्धरत हैं। जीवन अधिक व्यस्त और मशीनी होता जा रहा है, बाहर और मन में सैकड़ों तरह के प्रभाव एक-दूसरे से टकरा रहे हैं। इस संघर्ष की स्थिति में वही कथाकार जीवन का द्रष्टा कहा जा सकता है, जो इन परस्पर विरोधी तत्त्वों में सही, स्वस्थ और कल्याणकारी तत्त्वों को पहचानकर उन्हें विकसित करता है। यदि नगर के जीवन का अर्थ आफ़िसों या कालेजों की लड़कियों के पीछे चील-कौओं जैसे मँडरानामात्र है, या आधुनिक सभ्यता के नाम पर हर प्राचीन चीज को तोड़ने के लिये चिल्लाना-भर है, तो साफ है कि यह नगर का जीवन नहीं, उस कहानीकार का अपना जीवन है। अपने जीवन की भी यह सही व्याख्या नहीं है, क्योंकि इन तमाम 'डॉन क्विक्ज़ोटिक' प्रयत्नों के बाद वह कभी भले आदमी की तरह बैठ कर सोचता-विचारता होगा, तो उसे अपने मन से कुछ उत्तर तो जरूर मिलता होगा, उसे अपनी इस कृत्रिम दुनिया के अलावा कुछ और भी तो सूझता होगा ! ज्यादा विस्तार में न जाकर मैं नगर-जीवन की एक बहुत ही स्थूल समस्या की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। हालाँकि यह खाली नगर की समस्या ही नहीं है, वैसे इसकी गम्भीरता नगर के जीवन में ज्यादा उभर कर आयी है। आधुनिक सभाज में नारी का स्थान। हमारे देश में इस जीव के साथ जो अत्याचार हुए हैं और प्राचीन साहित्यकारों ने उसके विरोध में जो-कुछ किया है, वह आज के साहित्य में दिखायी नहीं पड़ता है। नारी परिस्थितियों के विषम चक्र में न प्रेमिका हो पाती है, न पत्नी। सामाजिक बन्धन उसे किसी की पत्नी बना देते हैं, जबकि मन की स्वाभाविक भावनाएँ उसे किसी और से प्रेम करने के लिये बाध्य करती हैं। यह स्थिति केवल इस देश की नारी के साथ ही नहीं है। जहाँ नारी सबल है, शक्तिशाली है, जहाँ वह आँचल झटककर किसी एक का पत्नीत्व या प्रेम स्वीकार कर लेती है, वहाँ भी तलाक की लम्बी क़तारें उसके मन को संतोष नहीं दे पा रही हैं। लेकिन एक भारतीय लेखक आधुनिकता के जोश में कहता है कि कमज़ोर वह इसलिये है कि प्रेमिका और पत्नी दोनों की ही भूमिकायें एक ही साथ ईमानदारी से निबाहने का ढोंग करती हैं। 'ट्रैजडी यह है कि वह दोनों में से किसी को झटक कर निकाल नहीं पाती।' यहाँ ज़ोर असल में 'झटके' पर है, पर क्या झटककर निकल जाने से ही मनुष्य और नारी के जीवन की यह समस्या सुलझ जायेगी। भारतीय नारी इन दोनों में से

किसी को झटके बिना ही अपनी राह बना लेती रही है, मर्यादा और सम्मान के साथ। यह उसकी कमजोरी नहीं है, असल में कमजोरी यह है कि हम प्रेम को शारीरिक बुभुक्षा का पर्याय मानने लगे हैं। अगर नारी के भारतीय रूप को देखना हो तो उपेन्द्रनाथ अश्क की 'ठहराव' कहानी पढ़िये। पर अश्क तो पुराने हो गए हैं, नये कथाकारों का आधुनिकता-भरा जोश उनमें नहीं है। असल में नारी के प्रति यह प्रेम किसी और ही उद्देश्य से प्रेरित है। 'दादावादी' कहानीकार उस प्रत्येक नारी को कमजोर लड़की कहते हैं, जो पारिवारिक घेरे को तोड़कर क्लब और रेस्तराँ में उनके साथ प्रेम का तकाज़ा नहीं निभा पाती। ऐसे लोगों के हाथ में भारतीय नारी की क्या अवस्था होती है, इसे 'अनिता चटर्जी' में देखिये। अन्धी माँ तथा बी० ए० में पढ़ते भाई को घर पर छोड़कर एक पढ़ी-लिखी भारतीय लड़की नौकरी करने के लिये घर से नौ सौ मील दूर एक चर्च में आती है और बिना वजह, बिना दबाव, बिना लाचारी के वह पादरी को समर्पित हो जाती है। क्यों ? बेबस थी रोजी के लिए ! यदि पढ़ी-लिखी परिवार वाली लड़की बिना ग्लानि, बिना विरोध के शरीर अर्पित कर सकती है, तो उस देश को पृथ्वी पर बने रहने की कोई जरूरत नहीं, और उसे यदि यही करना था, तो नौ सौ मील आने की क्या ज़रूरत थी ? शरीर बेचना ही था तो फिर नौकरी का ढोंग क्यों ? असल में यह कहानीकार की हवस है जो एक हिन्दुस्तानी औरत को बेपर्द करती है, बिना मतलब एक पादरी के सामने समर्पित होने के लिये विवश करती है। यही हिन्दुस्तानी नारी का रूप है, यही संस्कृति है, यही यथार्थ है ? पता नहीं, जानवर कौन है ? हिन्दुस्तानी कुत्ते को गोली मार दी गयी कि उसने कनाडियन कुतिया को 'लव' किया; पर समझ में नहीं आता कि 'अनिता चटर्जी' के इस पतन के लिए गोली किसे मारी जाय ? एक अपढ़, गँवार, कमज़ोर, निर्धन लड़की भी इतनी आसानी से शायद ही कहीं ऐसा करती हो। ऐसी कहानियाँ हमारे जातीय साहित्य की कलंक हैं, ये बिल्कुल ही अभारतीय हैं, कामबुभुक्षा से पीड़ित मन के दिवास्वप्न की तरह हैं। इनमें ग़रीबी और बेबसी की समस्या नहीं है, देशी-विदेशी प्रेम का सवाल है !

संसारमें गंदगी कहाँ नहीं हैं, रुचि-संपन्न व्यक्तिके लिए पग-पग पर धक्का देनेवाली चीज दिखाई पड़ जाती हैं। सेक्स, गरीबी, विवशता, नैतिक मूल्यों की बिखराव, शारीरिक रूपके चाकचिक्य, खोखलेपन, मशीनी प्रेम, आत्माके हाहाकार और असन्तोष में पड़े हुए चरित्रों को उभारकर सामने ले आना बड़ी क्षमता और शक्ति की दरकार रखता है। जोला के रास्ते का अनुकरण करना बहुत कठिन नहीं है, पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि और मानवीयता से वंचित कथाकार उसी थीम को पकड़ कर कैसे दीवार से टकराते रहे हैं, यह बहुत सी देशी-विदेशी कहानियों में देखा जा सकता है। 'नाना' तो वेश्या होकर भी अपने बच्चे की शुभ चिन्ता में घुलती रही, पाप-कर्म से अर्जित रूप के लिए पादरियों को हाथ फैलाते देख अजीब ग्लानि और पीड़ा से वह झुक जाती, पर आज हमारी

कहानी में ऐसी बहुत-सी बेबस लड़कियाँ मिलेंगी जो अपने खोखलेपन के कारण हमारी घृणा ही पाती हैं। यही क्या मानवीयता है? बेबस मनुष्य सतही कलाकारों के हाथों में फँसकर हमेशा घृणा का पात्र बनता है। समर्थ कलाकार उसकी बेबसी और त्रुटियों के बीच भी उसे पाठकों की सहानुभूति का पात्र बना देता है। ऐसे कथाकारों से यदि कोई प्रबुद्ध पाठक यह कहता है, 'मिस पाल पर लेखक का हँसना मुझे बहुत घृणित लगा किसी पात्र से हँसी करना, खेलवाड़ करना अच्छे लेखकों का काम नहीं है।' (कहानी फरवरी ५९, पृ० ७५) तो मुझे यह कहना है कि मित्रवर, जितना वे देते हैं, उसे अधिक की आशा उनसे आप क्यों करते हैं? वे चेखव की तरह कभी नहीं कह सकते कि, 'लाइफ़ इज लांग। देयर बी गुड, एण्ड बैड एण्ड एवरी थिंग्, एट मदर रशा इज़ वाइड।' वे कभी भी भारत की धरती के प्रति विश्वास नहीं व्यक्त कर सकते क्योंकि धरती उनके लिए अपना महत्त्व खो चुकी है। उनका जीवन तारकोल की सड़कों, होटलों, रेस्तराओं और काफ़ी के प्यालों में बँध गया है, ये लड़कियों को समाज से कटी पतंग समझते हैं और कल्पना के आकश में कनकौए लड़ा रहे हैं। रिश्ते इनके लिए बेकार हैं; इन्हें माँ, बहिन, दादी, बुआ के नाम से धक्का लगता है। संभव है कि आगे चलकर बच्चा माँ के गर्भ से नहीं, 'टेस्ट ट्यूब' से पैदा होने लगे, ये इसी आशा में इस प्रकार की आनेवाली पीढ़ी के लिए कहानियाँ तैयार कर रहे हैं। आज लोग इन्हें न समझ पायें, इनकी बला से!

एक मित्र कहानीकार ने अपने एक निबन्ध में यह पूछा है, 'क्या शहरों के मध्य-वर्गीय जीवन में कुछ भी स्वस्थ और सुन्दर नहीं है? क्या वहाँ घुन खाये इन्सान ही हैं, जिनके अन्दर कहीं भी मानव-सुलभ कोमलता नज़र नहीं आती या मानव की दृढ़ता का परिचय नहीं मिलता?' मेरा उत्तर है कि नगर का मध्यवर्गीय जीवन बहुत-सी संभावनाओं से भरा है, उसमें कोमलता, दृढ़ता, सौन्दर्य सब-कुछ है, पर उसे देखने के लिए आँख चाहिए। और ऐसा भी नहीं कि इसे किसी ने देखा नहीं है। नगर के जीवन पर लिखी गई बहुत-सी नयी कहानियों में ये विशेषताएँ उभरकर सामने आई हैं। कौन कहता है कि अमृत राय, हरिशंकर परसाई ने शहरी जीवन के खोखलेपन पर करारा व्यंग्य नहीं किया? कौन कहता है कि कृष्णा सोबती, निर्मल वर्मा की कहानियों में कोम-लता और सौन्दर्य उभर कर नहीं आ रहा है? कौन कहता है कि यशपाल, अश्क, अज्ञेय की कहानियों की अच्छाइयाँ नापैद हो गई हैं? 'कठघरे' 'धरती अब भी घूम रही है,' 'राग-विराग,' 'गुलकी बन्नो,' 'मलबे का मालिक,' 'बादलों के घेरे,' 'जिन्दगी और जोंक,' 'बदबू,' 'देवा की माँ' आदि कहानियों को कौन व्यक्ति जातीय साहित्य की निधियाँ मानने को तैयार न होगा? इस लिए सवाल नगर और ग्राम-कथा के श्रेणीबद्ध बँटवारे का नहीं है, सवाल जिन्दगी को सही ढंग से देखने और उसे व्यक्त करने का है। इसीलिए तथाकथित नगर-कथाकारों को, जो गले में ढोल बाँधकर हल्ला मचा रहे हैं कि ग्राम-

कथा के प्रति किए गए पक्षपात के कारण नगर-कथा खतरे में हैं, मैं आश्वस्त करते हुए कहना चाहता हूँ कि उन्हें खतरा ग्राम-कथा से कतई नहीं है, खतरा उन्हें दूसरी ओर से है और दुहरा है। यदि उनकी चीजें वर्णन की तमाम बारीकियों (इम्प्लिसिट) के बावजूद कथ्य में भोंडी, अभारतीय, सेक्सी तथा खल्वाट (इक्सप्लिसिट) होती रहीं, तो उन्हें खतरा फ़िल्मी कहानियों और रेलवे बुकस्टाल की अर्धनग्न नारी-कवर वाली पत्रिकाओं की चीप कहानियों से है और दूसरी ओर निर्मल वर्मा और सोवती जैसे लेखकों से है, जो प्रेम-औदास्य वाली अपनी थीम को ज़्यादा आकर्षक और कलात्मक रूप देने की मूक साधना कर रहे हैं। हलांकि एक दिन यह अतिशय कलात्मकता भी खतरा बन सकती है।

ग्राम-कथा कोई आकस्मिक वस्तु नहीं है और न तो यह अस्थायी कथा-प्रवृत्ति का परिणाम है। गाँवों की दशा बदल रही है और निरन्तर शिक्षा का प्रसार बढ़ रहा है। इसलिये यह आशा करना निराधार नहीं है कि भविष्य में इस प्रकार का साहित्य लिखने वालों की संख्या निरन्तर बढ़ती जायेगी। ग्राम-कथा और आंचलिक दोनों ही शब्द इस तरह की कहानियों के लिए प्रयुक्त किये जा रहे हैं; किन्तु मेरी दृष्टि से यह ठीक नहीं है। ग्राम-कथा ज्यादा व्यापक और उपयुक्त शब्द है। आंचलिकता एक प्रवृत्ति मात्र है। ग्राम-कथाएँ सभी आंचलिक नहीं होतीं। आंचलिकता का प्रभाव हिन्दी कहानियों में पिछले ५ वर्षों की देन है। १९५०–५१ के आस-पास से ग्राम-कथा का आरम्भ हुआ। नागार्जुन के 'बलचनमा', भैरव प्रसाद के 'गंगा मैया' और १९५१ के 'प्रतीक' में प्रकाशित मेरी कहानियों से इस प्रकार की प्रवृत्तियों की शुरुआत हुई। इन रचनाओं को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि इनमें आंचलिकता का प्रभाव कम-से-कम था। 'बलचनमा' तक में लोकतत्वों (फोक एलीमेन्ट) के प्रयोग की अधिकता नहीं दिखायी पड़ती। आंचलिक वही कहानी कही जा सकती है जो किसी जनपद के जीवन, रहन-सहन, भाषा-मुहाविरे, रूढ़ियों-अंधविश्वासों, पर्व-उत्सव, लोक जीवन, गीत-नृत्य आदि को चित्रित करना ही अपना उद्देश्य माने। आंचलिक तत्त्व ही उनके साध्य होते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी कहानी में आंचलिक प्रवृत्तियाँ बाद की रचनाओं में दिखाई पड़ने लगीं। खासतौर से रेणु के 'मैला आँचल' के बाद इनका प्रभाव बढ़ा। इसीलिए ग्राम-कथा को आंचलिक कहना उचित नहीं है, कम से कम मैं अपनी कहानियों को आंचलिक कहना पसन्द नहीं करता। उसमें आंचलिक तत्त्व अथवा 'लोकल-कलर' केवल साधन है, साध्य नहीं। आंचलिक शब्द का आज इतना हल्ला है कि कोई भी लेखक गाँव के किसी खण्डचित्र को उपस्थित करके तथा गँवई बोली से वार्तालाप भरकर अपने को आंचलिक कथाकार घोषित कर देता है। यह आंचलिकता एक स्वस्थ प्रवृत्ति है, इसमें शक नहीं। किन्तु ऊपरी चाक-चिक्य और सतह के आकर्षक वर्णनों में मानवीय संवेदनाओं के तत्त्व प्रायः खो जाते हैं। जीवन एक ऊपरी स्तर का खंड चित्र बनकर रह जाता है। इस तरह की स्केची और जीवन-शून्य कहानियाँ ग्राम-कथा की सबसे बड़ी

और प्रभाहीन दिखाई पड़ते हैं। 'दादी माँ', 'देऊ दादा', 'गुलरा के बाबा', 'लँगड़े चाचा', 'काल सुन्दरी', 'घुरहुआ', 'बोधन तिवारी', 'हंसा', 'कोसी का घटवार' की 'लछमा', 'गदल' और 'फूल' जैसे चरित्र हमारे जातीय साहित्य के गौरव हैं। इन चरित्रों के विषय में एक शंका प्राय: उठायी जाती है। बुआ, दादा, दादी, बाबा, चाचा के चरित्र क्लाइमेक्स पर पहुँचकर कुछ ऐसा टर्न लेते हैं कि सामान्य पाठक को झटका लगता है। यह झटका असल में उन्हें लगता है जो इस प्रकार के पारस्परिक जीवन को नहीं जानते। गाँव के चरित्र अपने बाहरी रूप-आकार में जितने दृढ़ हैं, मन से उतने कोमल भी। इसलिए जीवन में विभिन्न परिस्थितियों में उनके द्वारा ऐसे कार्य प्राय: होते रहते हैं, जिन्हें हम शहरों में बैठकर असम्भव कह देते हैं, यह सत्य है कि कभी-कभी 'थ्रिल' का मोह ऐसे चरित्रों को एक अस्वाभाविक परिणति की ओर ले जाता है। 'गदल' और 'फूल' जैसी अच्छी कहानियों में भी यह दोष आ गया है।

ग्राम-कथा की एक बहुत विशिष्ट देन कबीले या उपेक्षित जनसमूह के जीवन का चित्रण भी है। कंजड़, नट, मुसहर, मिराशी, हिजड़े, रमन्तू नर्तक, भील, कलावे आदि यायावरीय और पिछड़ी हुई उपेक्षित जातियों के जीवन का अध्ययन आदिम और आधुनिक संस्कारों तथा परिवर्तनों को समझने में बहुत सहायक होता है। इस दिशा में हिन्दी कहानी में अभी उस प्रकार का उत्साह नहीं है जैसा होना चाहिये। 'आर-पार की माला', 'संपेरा', 'पापजीवी', 'बिन्दा महाराज' में मैंने ऐसा प्रयत्न किया है। जयसिंह की भी कुछ कहानियाँ नट्टिनों और कलावों के जीवन पर आधारित हैं। 'विदापत' गाने वाले नर्तकों के जीवन पर रेणु ने अपनी प्रसिद्ध कहानी 'रस-प्रिया' लिखी थी। बँगला, मराठी तथा अन्य भाषाओं में इस प्रकार की कहानियों का काफी विकास हो रहा है। समरेश वसु (नटी-पूजा) तथा माडगूलकर (वनगरवाड़ी) आदि लेखकों में यही विशेषता पाई जाती है। इस प्रकार के अछूते और उपेक्षित जीवन पर अब उपन्यास भी लिखे जाने लगे हैं; परन्तु यह बड़ा व्यापक और उर्वर क्षेत्र है और इस तरफ ग्राम-कथाकारों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिये।

ग्राम-कथा ने हमारी कहानी को धरती से इतना समन्वित कर दिया है कि हम उसमें हर क्षण उन्मुक्त प्रकृति और सहज जीवन का स्पन्दन सुन सकते हैं। इस छोटे से समय में मुट्ठीभर कहानी-लेखकों ने पर्वत-प्रदेश से मिथिला की अमराइयाँ तक की धरती को जो नया रूप और जीवन प्रदान किया है, वह किसी भी कथा-साहित्य के लिए गर्व की वस्तु हो सकता है। किसानों के सुख-दु:ख में यह धरती हँसती और रोती है। पशु-पक्षी के प्रति ग्रामीण जन का स्नेह और ममता का अद्‌भुत सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध में पारिवारिक स्निग्धता और स्वस्थता होती है। 'सँवरइया', 'भैंस का कट्या', 'चितकबरी' आदि कहानियों में यही जीवन उभरकर सामने आता है। प्रकृति का यह रूप-वर्णन कभी रोमांटिक हो जाता है, कभी फ़ैशन बन जाता है, कभी निरर्थक सजावट

का भी काम देता है; पर प्रकृति का सजीव चित्रण अपने में खुद एक बड़ी उपलब्धि है। रोमांटिक चित्रण भी बुरे नहीं होते। प्रेम और रोमांस का सहज किन्तु संवेदनीय रूप क्या 'सूने-अंगन रस बरसै', 'महुए के फूल', 'कोयला भई न राख' जैसी कहानियों में नहीं झलकता?

मैं यह मानता हूँ कि ग्राम-कथा को अभी कई मंजिलें पार करनी हैं। उसमें गाँव के जीवन के बुरे-भले सभी पक्ष उभरकर नहीं आये हैं, जीवन की गहराई अपने पूरे आयाम के साथ चित्रित नहीं हो सकी है। बहुत से कथाकार उसके ऊपरी रूप में ही उलझकर रह गए हैं; कई ऐसे हैं, जो ग्राम-जीवन में अनावश्यक और 'आउटमोडेड थीम' पर लिख रहे हैं; कुछ ऐसी भी कहानियाँ हैं जो बचकानी हैं। पर एक बात सत्य है कि ये भारतीय कहानियाँ हैं, भारतीय साहित्य में इनका महत्त्व है, इनमें धरती का अपनापन है, इनका रास्ता निश्चित और दिशा सही है, तो एक दिन गहराई भी आयेगी, शक्ति और क्षमता भी दिखायी पड़ेगी।

कहानी के शैली-शिल्प को लेकर आज जितनी चर्चा हो रही है, और उसके लपेट में जिस प्रकार अन्वेषण, प्रयोग, नयी संवेदना, सांकेतिकता, संप्रेषणीयता, जटिलता, दुरूहता, बिम्ब, प्रतीक वगैरा की बात कही जा रही है, यह निस्संदेह कहानी-लेखकों की शिल्प-जागरूकता का ही प्रभाव है। परन्तु शिल्प की सारी चर्चायें इतने उलझे रूप में प्रस्तुत करने की बहुत कुछ जिम्मेदारी आलोचकों की भी कही जा सकती है। एकाध लेखकों को छोड़ कर शायद ही कोई हिन्दी-कहानीकार अपने शिल्प-कौशल का नारा लगाता हो। और जो नारा लगाने वाले हैं, उनमें भी नकलची टेक्नीशियन ही ज्यादा हैं। शिल्प-कौशल की ओर ध्यान आकृष्ट करना गुनाह नहीं है, पर यह गुनाह इसलिए हो गया है कि एकाध कहानीकार तिलिस्मी दुनिया से लेकर मध्यकालीन रानी-राजा की दुनिया से सड़ा-गला कूड़ा बटोरकर उसे विरल और अलभ्य चीज़ों की दुकान की पट्टी के नीचे सजाने लगे हैं। राजेन्द्र यादव शिल्प के ऐसे ही पारखी हैं, जिनकी दुकान में हर अजीबो-गरीब माल बड़ी आसानी से मिल जाता है। असल में उनका उत्साह 'अकबरी लोटे' वाले अंग्रेज की टक्कर का है और उनकी परख का क्या कहना! दुहरी कहानियों की शैली कोई नयी चीज़ नहीं है। यह उतनी ही पुरानी है, जितनी फ्रांसिस विवेन की 'शी वांटेड टू फॉल' है। पर इधर उन्होंने 'बरगद का पेड़' और 'राजा निरबंसिया' के बारे में लिखा है कि 'राजा निरबंसिया' में और उनकी पूर्वज कहानी 'बरगद का पेड़' में यह दोष है कि दोनों को पुरानी कहानी, 'दादी कहा करती थीं' से शुरू करना पड़ता है। दो नयी और पुरानी कहानियाँ जब तत्कालीन भिन्न-भिन्न वातावरणों के सन्तुलनात्मक चित्रण के लिए जोड़ी जायेंगी, तो पुरानी कहानी हर हालत में 'दादी या दादा' से शुरू होगी। अचम्भा तो यह है कि वे अपनी 'खेल-खिलौने' कहानी को इस शैली की सर्वश्रेष्ठ कहानी बताते हैं। अब राजेन्द्र यादव को कौन बताये कि दुहरे प्लाट वाली कहानी की शैली से 'रूपात्मक प्रतीक' की शैली भिन्न होती है। 'खेल

खिलौने' में दो कहानियाँ नहीं हैं, बुद्ध की मूर्ति एक सांकेतिक प्रतीक मात्र है। अपनी बुरी चीज को अच्छी और दूसरे की अच्छी चीज को 'वाइ चांस' कहना तो राजेन्द्र यादव की आदत है और वे उससे लाचार हैं। आजकल शैली और उसमें प्रयुक्त बिम्बों-प्रतीकों आदि पर कैसा अध्ययन चल रहा है, इसका पता ऊपर की मिसाल से लग जाता है। कहानी की शैली भी उसकी वस्तु के साथ ही साथ विकसित हुई है। उलझी हुई भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अभिव्यक्ति को निरन्तर सशक्त बनाने का कार्य भी आज के कहानीकारों ने किया है। यह विषय एक स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा रखता है; यहाँ संक्षेप में उसके साथ न्याय न हो सकेगा, इसलिए इसे अधूरा ही छोड़ रहा हूँ। ● ●

नई कहानी : कुछ संग्रह

१९५९ का वर्ष हिंदी कहानी के लेखकों और पाठकों को बहुत दिनों तक याद रहेगा, क्योंकि कहानी के क्षेत्र में सैद्धांतिक और वैयक्तिक वाद-विवाद, तू-तू-मैं-मैं तथा रचना और विषय-वस्तु पर समीक्षण-परीक्षण जितना अब हो रहा है उतना शायद ही कभी हुआ हो। यद्यपि यह विवाद मूल रूप से कहानी के दो कल्पित घेरों नगर और ग्राम-कथा पर ही सीमित था, परंतु इसके अंतराल में जाने कितने प्रकार के सत्य, अर्धसत्य और सत्याभास तथा झूठ के नमूने सामने आए। यह विवाद उस 'गुरुडम' का नतीजा है जो हिंदी कहानी को विभिन्न वादों में विभाजित कर अपनी बंदरबाँट-आलोचना का प्रचार-प्रसार और मिथ्या यशोलाभ से परितुष्ट होना चाहता है। इस विवाद में आलोचना प्राय: सैद्धांतिक स्तर से स्खलित होकर वैयक्तिक रागद्वेष का शिकार बनी। सत्य तो यह है कि कोई कहानी केवल इसी कारण से श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं हो सकती कि वह इस या उस घेरे की कहानी है। कहानी के परीक्षण के निश्चित और निरन्तर विकसमान मानदण्ड हैं और यदि कहानी की समीक्षा में इनका प्रयोग न करके दूसरे अभिप्राय-दूषित तरीके अपनाये जायेंगे तो परिणाम निश्चय ही बुरा होगा। जैसा इस वर्ष की समीक्षाओं में दिखाई पड़ता है। यानी नगर-कथा कुण्ठा, सड़े-गले हृदय की सड़ांध और निराश और अपंग मन के लेखकों की विकृति है अथवा ग्राम-कथा अबुद्ध और सीमित दृष्टिकोण के लेखकों के "फैशन" और कुनवापरस्ती' का नमूना है।

नयी हिंदी कहानी पिछले वर्षों साहित्य के प्रेमीजनों के बीच जितनी चर्चा की वस्तु रही है उतनी चर्चा शायद ही किसी दूसरे साहित्यांग की हुई हो। यद्यपि कतिपय आलोचकों ने बार-बार यह शंका उठायी है कि आज की कहानी में भेदक तत्त्वों का इतना पुष्ट आधार नहीं है जिसके सहारे 'कहानी' के साथ 'नयी' विशेषता जोड़ी जाय। परन्तु यह आपत्ति कहानी के रूप-संभार और वस्तु के स्तरीय विवेचन में उलझ जाने के कारण ही उत्पन्न होती है। यदि आलोचक निष्पक्ष तरीके से आज की किसी कहानी का सही विश्लेषण करे तो उसे यह मानने में कोई संकोच न होगा कि आधुनिक हिंदी कहानी में न केवल अभिव्यक्ति-शैली या रूप-गठन के नये प्रयोग हुए हैं, बल्कि विषय-वस्तु को पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा गहराई और सूक्ष्मता से सम्हाला गया है और विभिन्न प्रकार की मानवीय संवेदनाओं को पहले की अपेक्षा अधिक तटस्थ और सांकेतिक ढंग से व्यक्त करने का प्रयत्न भी किया गया है।

फणीश्वर नाथ रेणु उपन्यासकार के रूप में काफी प्रसिद्धि पा चुके हैं। उनकी

कहानियों का संग्रह 'ठुमरी' इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है। फ्लैप की विज्ञप्ति में लिखा गया है कि 'इस प्राणाश्रयी' लेखक में जीवन की जो पकड़ है, प्राणों के प्रति जो सरल और उद्दाम अनुराग है, वह अनन्य है। इसी अनुराग-रस की निर्झरिणी इन नौ कहानियों में समरूप से तरंगित हो रही है।' 'प्राणाश्रयी' विशेषण रूपाश्रयी लेखकों से भिन्न करने के लिए चाहे जितना मौजू हो, पर यह अपने यथातथ्य और समग्र अर्थ में रेणु के कथा-साहित्य पर पूर्णतः लागू नहीं होता, क्योंकि रेणु का कथा-साहित्य भी रूपाश्रयी ही है, यद्यपि उनकी रचनाओं में रूप का विधान उन नये प्रयोगों के आधार पर नहीं किया गया है जिन्हें हम रूप या शैली की आज अनिवार्य विशेषतायें मानते हैं, अर्थात् न तो रेणु में उलझे हुए मनोभावों को व्यक्त करने के लिए प्रतीक-बिम्ब या अन्य तरह के आधुनिक साधन प्रयोग में लाये गये हैं, न तो उनकी रचनाओं में परम्परा विहित पैटर्न को परिवर्त्तित या विकसित करने का कोई प्रयत्न है।

उन्हें प्राणाश्रयी कहना सत्य की एकांगी व्याख्या होगी क्योंकि उनकी रचनाओं में जीवन के संघर्ष और समस्याओं को उठाने की कम से कम ताक़त दिखाई पड़ती है। वस्तुतः रेणु आंचलिक जीवन के बाह्य रूप के चित्रकार हैं। वह बाह्यरूप जिसमें प्राकृतिक सुषमा और चटक रंगों का आधिक्य है जिसमें ज्ञानेन्द्रियों के स्थूल विषयों की प्रधानता है..........रंग, शब्द स्पर्शानुभूति आदि के सभी करण व्यापार केवल ऊपरी सौंदर्य के चित्रण में ही सीमित हो जाते हैं। यही विशेषता उनके उपन्यासों की सफलता का मुख्य कारण है क्योंकि इस बाह्य उपकरण को जितने कौशल से रेणु ने व्यक्त किया है, उतने कौशल से इन्हें दूसरा शायद ही व्यक्त कर सके।

पर यही कौशल उनकी कहानियों का प्रमुख दोष हो गया है क्योंकि उपन्यास का बृहद् कलेवर रूप-संभार और उसकी संगीतात्मक अभिव्यक्ति के रसाधिक्य को संभालने में सफल हो जाता है, पर कहानी का सधा हुआ कलापूर्ण सीमित कलेवर इस रसातिरेक में प्रायः बहता सा प्रतीत होता है। इसी कारण बहुत से लोग रेणु की कहानियों को पढ़कर उन्हें 'बैलेड्स का गायक' कहने लगे हैं। उनकी दृष्टि से रेणु में कहानी की शैली की आवश्यक पहचान का अभाव है। ठुमरी की कहानियों के विषय में 'स्वरलिपि' शीर्षक प्रकाशकीय में कहा गया है कि 'ये सभी संयोजित कहानियाँ ठुमरी-धर्मा हैं, अर्थात् अंतर्भाग एक ही है सभी कथाओं का ? गीत के अंतर्भाग में बीच-बीच में विभिन्न स्वरों के प्रयोग से जो वैचित्र्य और कारणकार्य संपादित होता है उसको अंतर्भाग कहते हैं। एक स्वर को लेकर विभिन्न स्वरों से उसकी क्रमिक संगति दिखला-दिखलाकर किसी राग के रूप में प्रकाशित किया जाता है। ठुमरी के 'कथा-गायक' ने ऐसी ही चेष्टा की है ...' जो लेखक अपनी रचनाओं को शैली में इतना संगीतधर्मी है उसे 'प्राणाश्रयी कहना ठीक नहीं है। रेणु की नौ कहानियों में कुछ में संगीत का असंतुलित प्रयोग है यानी ये रचनाएँ बहुत ही 'लिरिकल' हैं जैसे 'रसप्रिया', कुछ में जीवन

के क्षण ज्यादा स्पष्ट और बारीकी के साथ चित्रित हुए हैं जैसे "पंचलैट" 'तीसरी क़सम अर्थात् मारे गए गुलफाम' आदि, इन्हें ही हम रेणु की सफल कहानियाँ कह सकते हैं। ये कहानियाँ कुछ अंशों में मनुष्य जीवन के संघर्ष और समस्याओं को भी व्यक्त कर पाती हैं।

जिस प्रकार कहानियों में रसाधिक्य उनकी उचित परिणति में बाधक होता है उसी प्रकार संवेदनाओं और कोमल भावों का एकाभाव भी। सत्य खुद में बहुत बड़ी बात है, पर सत्य यदि भावकल्प होकर साहित्य में नहीं आता तो वह दूसरे शास्त्रों का विषय हो जाता है। इसीलिए आवश्यक तरलता का नितांत अभाव भी चिंत्य हो जाता है। अमृतराय की 'गीलीमिट्टी' में ऐसा सूखापन बहुत है। अमृतराय ने भूमिका में लिखा है कि 'अपने गाँव से मेरा संबंध टूट सा गया है। मैं अब शहर में रहता हूँ और आस-पास जो दुनिया देखता हूँ वह जिस तरह मेरे नीम-शहराती और नीम-देहाती मन को छूती है। कभी विवेक को झंझोड़ती है और कभी मार्मिक संवेदनाओं को भीगने का अवसर देती है, उसी की कहानी सीधे-साधे शब्दों में कहना मुझे अच्छा लगता है।' गाँव से सम्बन्ध टूट जाने की कसक उचित है, इस कारण ग्राम-कथा को फैशन मान लेना ठीक नहीं है। शहर के जीवन के कटुतिक्त तथ्यों में झंझोड़ने की ताकत है और 'नीम-शहराती' मन में उसे व्यक्त करने की शक्ति भी। परिस्थितियों के तीखेपन के चित्रण और असंगतियों के चुभते हुए व्यंग्य में अमृतराय को बेजोड़ सफलता मिली है; पर उनकी कहानियों में 'संवेदना तत्त्व' का अभाव है क्योंकि उनका 'नीम-देहाती' मन वस्तुतथ्य का इतना क़ायल है कि उन्हें 'संवेदना' शायद कैशोर हृदय की चीज़ मालूम होती है, इसलिए ऐसे प्रसंगों का चित्रण करते समय उनका मन बुद्धिवादी संकोच का अनुभव करता है। रस-गन्ध, हजार मन, राख और एक चिनगारी, एक गुमनाम आदमी, आदि कहानियों में संवेदना और बुद्धिवादिता का अच्छा संतुलन है।

कविता के क्षेत्र में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना प्रयोगशील कवि के रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं, पर कहानियों से उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ किया था इस तथ्य को सामने लाने के लिए 'काठ की घंटियाँ' में उनकी कविताओं और लघु उपन्यास के साथ उनकी बीस कहानियाँ भी संकलित की गई हैं। भूमिका में वात्स्यायन जी ने काफी जांच पड़ताल के बाद यह निर्णय दिया है कि आरंभ की कहानियों में यदि हम प्रसाद की (यद्यपि अधिक सामाजिक 'प्रसाद' की ही) अनुगूंज पा सकते हैं और आरंभिक कविता में सीधी सहज भाषा में गीत लिखने वाले 'बच्चन' की छाप तो यह अस्वाभाविक नहीं है।' प्रसाद की अनुगूंज से गुंजित कहानियाँ स्वाभाविक हों या अस्वाभाविक वे नई कहानी से बहुत दूर हैं और मुझे लगता है कि इनका संकलन लेखक के कृतित्व का केवल ऐतिहास पूर्वापर विकास दिखाने के उद्देश्य से ही किया गया है। कविता के क्षेत्र में बुद्धिवादी संघर्ष के बीच कभी-कभी 'मासूमियत' एक परिवर्तन के रुप में बहुत

पसन्द की जाती है और भोलेपन को व्यक्त करने वाली पंक्तियाँ मन को छू जाती हैं, सर्वेश्वर की कहानियों में भी यह गुण है और इस कारण उनकी कुछ कहानियाँ बहुत प्यारी लगती हैं। 'कमला मर गई, बरसात अब भी आती है', 'डूबता हुआ चाँद' आदि इसके उदाहरण हैं। कुछ कहानियाँ अपनी सांकेतिकता और संवेदनीयता के कारण अच्छी बन पड़ी हैं जैसे 'पुलिया वाला आदमी' और 'सीमाएँ'।

विष्णु प्रभाकर की नयी कहानियों का संग्रह 'धरती अब भी घूम रही है' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। मूल कहानी जिसके नाम पर संग्रह का नामकरण किया गया है उनकी बहुचर्चित कहानी रही है। भूमिका में लेखक ने लिखा है कि 'यह एक अद्भुत बात है कि कहानी के क्षेत्र में हिंदी ने जितनी प्रगति की है वह भी अद्भुत है। इस क्षेत्र में न केवल कथावस्तु की दृष्टि से बल्कि शिल्प की दृष्टि से भी वह बहुत आगे बढ़ी है। आज के नवयुवक कथाकारों में ऐसे भी हैं जिन पर कोई भाषा गर्व कर सकती है। मेरे जैसा व्यक्ति तो उनके सामने बिल्कुल फीका पड़ जाता है····फिर भी इतिहास की दृष्टि से प्रत्येक युग का मूल्य होता है इसलिए यह संग्रह पाठकों के सामने आ रहा है····' पर इतिहास भी अपने रूप में कितना विलक्षण होता है।

विष्णु प्रभाकर अपनी कहानियों को फीका मानते हैं, यह उनकी शालीनता मात्र है क्योंकि पिछले १५ वर्षों में उन्होंने जिस श्रम और निष्ठा से कहानियाँ लिखी हैं वह खुद में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। आधुनिक कहानी को अपने स्थान पर कायम रखने में और उसे आगे बढ़ाने में विष्णु प्रभाकर के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। 'धरती अब भी घूम रही है' शीर्षक कहानी अपनी चुटीली व्यंग्य-संयोजना के कारण बहुत दिनों तक याद की जायगी। 'शांक ट्रीटमेंट' का इतना सुंदर उदाहरण कम रचनाओं में दिखलाई पड़ता है। ठेका, जज का फ़ैसला और नागफांस भी अच्छी कहानियाँ हैं। प्रत्येक कहानी के आरंभ में लेखक ने कुछ पंक्तियों में उस प्रेरणा की चर्चा की है जिससे प्रेरित होकर वह कहानी लिखी गई है। यह पद्धति बहुत समीचीन नहीं है क्योंकि वे पंक्तियाँ पाठकों को एक निश्चित मार्ग की ओर ले जाती हैं और वह लेखक के प्रेरणा-सूत्र के घेरे में अपने को बांध लेता है।

'अभिमन्यु की आत्महत्या' राजेंद्र यादव का नया कथा संग्रह है जिसमें कुल पांच कहानियाँ हैं····पांच नहीं चार ही क्योंकि 'खुले पंख, टूटे डैने' ग्यारह सपनों का देश नामक धारावाहिक, उपन्यास का अंश है जिसे यादव ने उक्त सहकारी उपन्यास लेखन की योजना में अपने 'शेयर' के रुप में लिखा था। 'ऐक्टर की अदृश्य आंखें, हत्यारे, माँ और अंधा शिल्पी और आँखों वाली राजकुमारी इस संग्रह की अन्य कहानियाँ हैं। यादव सेक्स, निराशा और असफल उत्साह के चित्रकार हैं। उनकी सभी कहानियों में उखड़े हुए लोगों की वेदना और निराशा को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। मन से अभिमन्यु और कर्म से आत्महंता····यही उनकी कहानियों की थीम है। भाषा की भूल

भुलैया, शैली का अनगढ़पन और इस अनगढ़ता को ऊँची भूमिका पर रखकर पाठकों को शहदजाल में लपेटने का कौशल ये उनकी प्रमुख विशेषतायें हैं। यादव का अन्धा शिल्पी अपनी आँखों वाली राजकुमारी से कहता है—जब उसने अपनी मांसल भुजायें उसकी जांघ पर रख दीं—"मैं मूर्तियाँ इसीलिए बनाता रहा हूँ और आगे भी इसलिए बनाऊँगा कि निरन्तर सौंदर्य की सृष्टि, नित्य सौंदर्य की सृष्टि होती रहे—सौंदर्य आनंद उत्पन्न करेगा और आनंद जीवन को ताजा करेगा....." लेखक उन तमाम लोगों के विरोध में अपनी आवाज़ बुलन्द करता है जो 'सौंदर्य के ताज़ा आनंद' को ठीक न मानते हुए निषेधवादका प्रचार करते हैं। प्रश्न सौंदर्य के महत्त्व या उसके उपयोग का उतना नहीं है जितना आँख होने और आँख न होने का। और अंततः यह प्रश्न तो रहेगा ही अन्धे शिल्पी के सौन्दर्य को आँखों वाले लोग अपना आदर्श मानते हैं या नहीं।

'वापसी' चंद्रगुप्त विद्यालंकार की कहानियों का संग्रह है जिससे कहानी क्षेत्र की ओर पुनः उनकी 'वापसी' का पता चलता है। एक जमाने में 'काम-काज' जैसी शैली और वस्तु दोनों दृष्टियों से सफल कहानियाँ लिखने वाले चंद्रगुप्त विद्यालंकार अरसे तक अपने 'कामकाज' में लगे रहे। उनकी कहानियों का वह लेखा अब नहीं रहा, उनमें शैली और वस्तु दोनों का ठहराव स्वाभाविक है। लेखक ने भूमिका में बड़ी परेशानी के साथ यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कहानी एक है उसमें नई कहानी और पुरानी कहानी का झगड़ा खड़ा करना ठीक नहीं है और ऐसा झगड़ा वे ही खड़ा करते हैं 'जो कहानी की नवीनता और सार्वभौमिकता से अनजान हैं' वे आगे कहते हैं 'फिर कोई चीज़ नयी है इसी कारण अच्छी नहीं कही जा सकती और कोई चीज़ पुरानी है इसी कारण वह हेय नहीं मानी जा सकती'। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयं' के श्लोक का अनुवाद देकर वह आने अपना अभिमत इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—'साहित्य की पुकार सार्वभौम और सर्वकालीन है क्योंकि वह स्थायी अनुभूतियों और चिरन्तन सत्यों का चित्रण करता है' साहित्य के मूल्यों की चिरन्तनता उनकी स्थिरता में नहीं बल्कि उनके विकास के सातत्य में है और गुप्तजी जिसे चिरन्तन कहते हैं असल में उसे ही लोग धाराच्युत और रूढ़ि कहते हैं। कूटस्थ सार्वभौमिकता साहित्य में कभी गुण नहीं मानी गई है। नयी कविता के साथ नयी कहानी की तुलना करके गुप्त जी इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि 'नयी कविता पुरानी कविता से अधिक लोकप्रिय अधिक उन्नत अथवा अधिक प्रभावशाली नहीं है, इस नयी कविता के स्थायित्व की परीक्षा होना अभी बाकी है, इसलिए वे पुरानी कविता लिखें और नए कहानीकार व्यर्थ का 'नया-नया' का नारा न लगायें"....बात उचित है। नये लोगों को इसपर गंभीरता से विचार करना चाहिए क्योंकि हर बात जिसे पुराने लोग अतिरिक्त ईमानदारी और गंभीरता से कहते हैं वह सब 'बुढ़भस' ही नहीं होती और अन्त में इतना और कह देना आवश्यक है कि इस संग्रह में कहानियों से कहीं अधिक विचारोत्तेजक बातें भूमिका में प्रस्तुत की गई हैं।

शानी का संग्रह 'डाली नहीं फूलती' और मन्नू भंडारी का 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' इसी वर्ष प्रकाशित हुए हैं। संग्रह मेरे देखने में नहीं आए इसलिए उन पर कोई राय देना ठीक नहीं है। वैसे दोनों की स्फुट कहानियाँ इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं में निकलती रही हैं। शानी ने मध्यप्रदेश के आदिवासियों पर अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों की शैली में ताजगी और स्वच्छंदता है तथा उनकी कथावस्तु नारी जीवन की घुटन निराशा और दमित वासनाओं की विभिन्न परिस्थितियों से संवलित है।

राजेंद्रकिशोर का कहानी संग्रह 'मत्स्यगंधा' उनकी तेरह कहानियों का संग्रह है। राजेंद्रकिशोर कवि के रूप में जाने माने व्यक्ति हैं और जिस प्रकार अपनी कविताओं की विचित्रता, विवेक-संतुलन, शैली आयाम और अप्रत्याकृति के लिए वे प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार उनकी कहानियों में भी एक विचित्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की है। राजेंद्रकिशोर की कहानियों में नवीन भाषा-प्रयोगों के पीछे शरत्चन्द्र की विकृत भावुक रोमांसप्रियता का दर्शन होता है। उनकी कहानियों में बुद्धिवादिता का आरोप भी है जो उन्हें हमेशा नीरस बनाने का कार्य भी करती है। नारी के प्रति एक संभ्रम मुद्रा का भाव तथा अपने आहत मन के लिए अवांछित दुलार का बहाना इन कहानियों को बहुत बड़ी खूबी है। यों 'मत्स्यगंधा' तथा 'रेणु की गुड़िया का दूल्हा' पाठकों को रुचेगा।

इन संग्रहों की सरसरी परिक्रमा करने वाले पाठकों से यह तथ्य छिपा नहीं रहेगा कि क्या आंचलिक क्या नगर—दोनों ही क्षेत्रों के कथाकार अब अपने को दुहराने लगे हैं। रेणु की ठुमरी में कुछेक कहानियाँ ऐसी अवश्य हैं, जो इस बात की प्रमाण हैं कि उनकी अनुभव-पूँजी अभी पूरी तरह चुकी नहीं है जबकि इसके ठीक विपरीत राजेन्द्र यादव वह माहौल रचते हैं जहाँ खोखली, पुरानी, किताबी अनुभूतियों के लिए चमत्कारिक शिल्प की खोज एक अनिवार्यता बन जाती है। उनका शिल्प भी निर्मल के शिल्प की तरह संस्कारपूर्ण कलाकारिता पर जो नये बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से उत्पन्न होती है, आधारित नहीं है बल्कि कथा के "ट्रिक्स" और टेकनीक के "स्टंट" को प्रश्रय देने के कारण "कुतूहली शिल्प" की कोटि में परिगणित किया जा सकता है। विष्णु-प्रभाकर बावजूद इसके कि यादव और रेणु दोनों से कई मामलों में पुराने पड़ते हैं, कई अच्छी और सच्ची कहानियों का सृजन करने में सफल हुए हैं। कारण स्पष्टतः उनकी वह दृष्टि है जो फैशनों से अलग रहकर कथ्य को प्रेषणीय बनाने की ईमानदारी से पुष्ट और परिपक्व है। ● ●

नई कहानी : संरचना का प्रश्न

'नई कहानी' नाम हिन्दी की आधुनिक कहानी के लिए कुछ वर्षों से दिया जाने लगा है। पर अपने अत्यल्प जीवन-काल में ही यह नाम एक बहुत बड़े विवाद को खड़ा कर चुका है। बित्ते भर के बित्तन मियाँ और तीन बित्ते की दाढ़ी। अभी तक तो पुराने ढंग के आलोचक और पुराने खेवे के साहित्यकार ही इस "नई" विशेषण को देख कर चौंकते रहे हैं, अब कुछ नये कवि और नये कथाकार भी इसका विरोध करने लगे हैं। पहले मत वाले विरोधियों का यह कहना है कि नई कहानी नाम ही ग़लत है, क्योंकि आज की कहानी ने कुछ भी ऐसा नहीं दिया है, वस्तु और शिल्प के क्षेत्र में कुछ भी ऐसा नया नहीं जोड़ा है, जिसके कारण उसे नई कहानी कहा जाये। कहानी अपने उसी पुराने ढर्रे पर चल रही है जिस पर सुदर्शन-प्रेमचन्द, जैनेन्द्र-जोशी के जमाने में चला करती थी। फ़र्क सिर्फ 'पहले और बाद' का है पुराने या नये का नहीं। दूसरे मत को मानने वाले कहीं ज्यादा आतंकवादी और आक्रामक हैं, वैसे वे अपने को 'नया' विशेषण से अलंकृत करना गुनाह नहीं समझते। इन मतवादियों का कहना है कि 'नई कहानी' नामक चीज नई कविता के समानान्तर कदापि नहीं है, क्योंकि उसमें उन तमाम वस्तु और शिल्प सम्बन्धी नवीनताओं का अभाव है, जिसे हासिल करके नई कविता 'नई' कहलाने की अधिकारी हुई है। इन्होंने तो यहाँ तक कहना शुरू किया है कि 'नई कहानी' में जीवन की 'क्राइसिस' या संकट का चित्रण ही नहीं हो रहा है। सामाजिक यथार्थ का सही रूप कविता में आ रहा है और तथाकथित 'नई कहानी' के लेखक इस यथार्थ से पलायन करते हैं या कर चुके हैं। फिर क्या 'नई कहानी' नाम की चीज हो ही नहीं सकती ? क्या कहानी के क्षेत्र में कोई ऐसा माई का लाल नहीं है जो उसे 'नई कविता' के धरातल पर पहुँचा सके। और इधर बड़ी खोज-बीन के बाद इस तरह के प्रतिभावान् कथाकारों का अन्वेषण किया जा रहा है जिनकी संख्या दो-तीन तक पहुँच चुकी है। ऐसी स्थिति में वह 'नई कहानी' जिसे आज से कुछ साल पहले 'नई' के बिल्ले से विभूषित किया गया था आज पुरानी हो चुकी है, पलायनवादी हो चुकी है।

'नई कहानी' को समझने के लिए इन आरोपों-प्रत्यारोपों को समझना जरूरी है क्योंकि ये आरोप भले ही एकांगी हों, केवल पूँछ या पैर देखकर ही हाथी को साँप जैसा या खम्भे जैसा बताने की कोशिश करते हों—इनके माध्यम से आज की कहानी की कुछ प्रवृत्तियों का सही पता लगाया जा सकता है।

असल में १९५० के पहले वाले दशक में हिन्दी कहानी एक सुषुप्त साहित्य विधा का रूप धारण कर चुकी थी। जैनेन्द्र, यशपाल, 'अश्क' के ठीक बाद आने वाले लेखकों

ने कहानी को बहुत गम्भीरता से स्वीकार नहीं किया, फलस्वरूप उसमें जीवन की समष्टि और गत्वरता का प्रायः अभाव दिखाई पड़ता है। प्रयोगवादी कविता का आन्दोलन सन् ४२-४३ से आरंभ हो चुका था और काव्यविधा के रूप में कविता की चर्चा ज्यादा हो रही थी। कहानी स्वयं इस ह्रास या गतिरोध के लिए उत्तरदायी थी। क्योंकि मानवीय सम्वेदना के स्थान पर उसमें या तो प्रगतिवादी नारेवाजी की आवाज़ सुनाई पड़ती थी या मनोवैज्ञानिक फार्मूलों के ढांचे में कुछ मानसिक स्थितियों का ढलाव किया जा रहा था।

१९५० के आसपास कहानी के क्षेत्र में भी कुछ गति आई। कारण जो भी रहा हो, इस समय से कहानी के क्षेत्र में एक अजीब किस्म की सरगर्मी दिखाई पड़ने लगी। इस सरगर्मी का प्रमुख कारण आंचलिक अथवा ग्राम-कथाओं का सहसा बड़े पैमाने पर उपस्थित होना था। ग्राम-कथायें प्रेमचन्द के युग में भी लिखी गईं और प्रेमचन्द की बेहतरीन कहानियाँ इसी प्रवृत्ति की पोषक बन कर आईं। प्रेमचन्द गाँव के जीवन के द्रष्टा थे इसमें शक नहीं; पर वे अपने आदर्शवादी तथा सुधारवादी नीति के कारण गाँवों को बहुत गहराई से, विभिन्न आयामों की सम्वेदना के साथ देख न सके। उनकी कहानियों के ग्राम उपन्यासों में भी साफ ढंग से न आ सके; क्योंकि उन पर शहर की लम्बी छायायें हमेशा औसत से अधिक गाढ़ी होकर पड़ती रहीं। १९५० के बाद की ग्राम-कथा में गांवों के अछूते जीवन का बड़ा आत्मीयता पूर्ण चित्रण दिखाई पड़ता है। कारण यह था कि ये कथाकार ठेठ गाँव से सीधे रूप में सम्बद्ध थे। प्रेमचन्द ने गाँवों को जितने व्यापक रूप से देखा था, उससे आगे बढ़कर, गहराई में प्रवेश किये बिना, इस दिशा से कुछ दे पाना असम्भव था। प्रेमचन्द से भिन्नता लाने के लिए इन कहानीकारों ने स्थानीय रंग या 'लोकल कॅलर' का प्रयोग किया। प्रेमचन्द का गाँव हिन्दुस्तान का या कम से कम उत्तर भारत का कोई भी गाँव हो सकता था, परन्तु नई ग्राम-कथा के ग्राम समस्या और जीवन की सदृशताओं के बावजूद एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। क्योंकि भिन्नता स्पष्ट करने वाले प्राकृतिक दृश्य, बोली, वेशभूषा, स्थानीय रीति-रिवाज, आमोद-विनोद तथा नाच-गान आदि में भी काफी अन्तर है। मैं यह नहीं कहता कि ये चीजें ही कहानी को कहानी बनाती हैं, जैसा बहुत से आंचलिक कहानी के आलोचक समझते हैं; किन्तु ये चीजें आंचलिक कथा को सही परिवेश प्रदान करती हैं। हाँ, यदि कहानी में सिर्फ परिवेश ही रहे, और उस पर मानव-जीवन के संघर्ष उभरें ही नहीं, तो स्थिति जरूर चिन्त्य हो जाती है। इस आंचलिकता को समृद्ध बनाने में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के कथाकारों ने बहुत बड़ा काम किया। राजस्थान, हरियाना या जाट-भूमि, पहाड़ी, भोजपुरी, अवधी, मैथिली जीवन की गहराइयों को व्यक्त करने वाली अनेक कहानियाँ इस अरसे में उभरती नजर आईं। इसमें बहुत से कथाकार भले ही फैशन के रूप में आये हों, और उन्होंने ग्राम-कथा से हिन्दी को वैसे ही सजाया जैसे शहरी बाबू अपने ड्राइंग रूम को बबूल के कांटे या नागफनी से सजाते हैं, अथवा 'फोक आर्ट' के नमूनों से दर्शकों को चौंकाते हैं।

ऐसे लोग भदेस शब्दों के इस्तेमाल, बोली के प्रयोगों के अनमेल प्रयोग, तथा ऊपर-ऊपर के जीवन की बातें चमका कर अपना प्रचार करते रहे। पसीना, मेहनत, मसक्कत ऐसे शब्दों का प्रयोग कर देने भर से गाँव की ज़िन्दगी की यथार्थता व्यक्त नहीं हो जाती। ऐसे कथाकार अपनी रोमानी चाशनी में डूबाकर सस्ती सम्वेदना को व्यक्त कर अच्छी प्रतिष्ठा पा गये, पर हिन्दी के पाठक को कथाकार और कथागायक में फर्क करना मुश्किल नहीं लगा। इन सब त्रुटियों और कमजोरियों के बावजूद ग्रामकथा आज की हिन्दी कहानी की बड़ी सशक्त प्रवृत्ति है और इसकी देन को नकारा नहीं जा सकता है। कमसे कम इसने जीवन की स्वस्थता, संघर्ष, कुरूपता और सुन्दरता को इस रूप में उभारा कि दूसरी तरह की कहानियाँ लिखनेवाले भी व्यक्तिगत 'फ्रस्ट्रेशन' से मुक्त हुए और खुले में सांस लेने लगे।

शहर के कथाकारों ने इस अरसे में मध्यवर्गीय जीवन को बड़ी गहराई से चित्रित करने का प्रयत्न किया। अपनी सामाजिक और मानसिक परिस्थितियों के कारण जन-धारा से कटे हुए व्यक्तियों के संघर्ष को जिस कौशल और मार्मिकता के साथ उभारा गया वह सन् ५० के पहले की शहरी कहानियों में प्रायः नहीं मिलता। एक दर्जन ऐसे चरित्र इन कहानियों में आये जो अपनी निराशापूर्ण दर्दनाक जिन्दगी से समझौता न करके बेहतर जीवन के लिए संघर्ष करते रहे। क़स्बे और शहर के लोगों पर लिखी गई ये कहानियाँ विभिन्न मानवीय सम्वेदनाओं की रंगत में पूरी तरह डूबी हुई हैं। इन में ऐसी कहानियों का अभाव नहीं है जहाँ लेखक अपने पात्रों से तटस्थता के संबन्ध की रक्षा नहीं कर पाए हैं। कभी कभी सेक्स की विवृत्ति में लेखक खुद डूबते नजर आते रहे हैं। कभी-कभी फार्मूला के आधार पर आधुनिकता को उपस्थित करने का प्रयत्न भी किया गया है। पर इस अरसे की शहरी कहानियों में वस्तु की नवीनता और विभिन्न 'एंगिल' से मध्यवर्ती जीवन को चित्रित करने की कोशिश अवश्य दिखाई पड़ती है। इधर कुछ नये कहानीकार सामने आये हैं जो आधुनिकता के नाम पर काफी-प्यालों की भाप पर तैरती अर्धनग्न अथवा नग्न छायाओं, रॉक-एन-रोल के तर्ज के सस्ते कलावादी मूल्यों, नकली वाडिश के कम्पन और अनजानी अँधेरी घाटियों की सैर का घोर वर्णन करने लगे हैं। इनमें नैतिकता का संकट, नये बिम्ब और प्रभाव व्यञ्जक विदेशी प्रतीकों का आधिक्य देखकर नये कवियों ने इन्हें काफी शह देना शुरू किया है। किन्तु जैसे आज की नई कविता सप्तकों के अपेक्षाकृत व्यापक धरातल को छोड़कर नीचे उतर आई है, वह असंस्कारी कवियों की नग्न-बुभुक्षा, क्षीणवीर्य कामुकता तथा खानगी ऐन्द्रिक अतृप्ति का विषय बनती जा रही है, वैसे ही तथाकथित 'नई कहानी' भी अपना नया रास्ता खोजती जा रही है। जैसे नई कविता में सारी शब्दावली सिमिट कर कुछ सौ 'जार्गन वर्ड्स' या खोखले शब्दों का ढेर रह गई है, वैसे ही तथाकथित नई कहानी में भी संकोच और ह्रास के लक्षण नजर आने लगे हैं। आश्चर्य तब होता है जब प्रगतिवादी आलोचक जो

सिद्धान्त रूप में मार्क्स का नाम लेकर यथार्थ ओर स्वस्थता का नारा लगाते हैं, व्याव-हारिक रूप से इन मर्यादाच्युत असामाजिक कविताओं और कहानियों की तारीफ का पुल बाँधते हैं, और इन्हें ही सर्वथा 'नई' होने का प्रमाण पत्र बाँटते हैं। गोया 'नया' विशेषण सामाजिक विकृति और अनैतिकता का ही नाम है। इन्हें बताना होगा कि 'बादलों के घेरे' और 'आर्द्रा' जैसी कहानियाँ क्यों पुरानी हैं और क्यों उपर्युक्त गुणों से विभूषित 'पियानोवादी' कहानियाँ नई हैं।

इस अरसे में हिन्दी कहानी ने शिल्प की दिशा में बड़ी प्रगति की। मैं तो यह कहना चाहूँगा कि उसके नयेपन का बहुत बड़ा आधार इसी शिल्प-प्रयोग में निहित है। नई भाषा, चित्रात्मक अभिव्यक्ति, तथा अन्य तरह के अनेक प्रयोग इस बात के सबूत हैं। लोकतत्त्व, लोककथायें, परम्परा के नये संदर्भ और कला के नये परिवेश सभी कुछ इस नई कहानी के तत्त्व हैं।

नई कहानी और नई कविता के बीच बहुत बड़ा अन्तराल देखने या खोजने वाले कविता-प्रेमी आलोचक असल में बदतोव्याघात दोष से पीड़ित हैं। नई भाषा या अभि-व्यक्ति या मूल्य यदि साहित्य में प्रतिष्ठित हो रहे हैं तो वे साहित्य की प्रत्येक विधा में कमोवेश मात्रा में प्रतिफलित होंगे। ऐसा नहीं कि वे कविता को तो अत्यन्त नूतन और आधुनिक बना रहे हैं और कहानी को पीछे की ओर धकेल कर किशोरीलाल गोस्वामी के युग में ले जा रहे हैं। इस प्रकार की धारणा का प्रचार करने वाले वस्तुतः कहानी पढ़ते नहीं और यदि पढ़ते हैं तो मानना होगा कि वे "कहानी कल्चर" से वंचित लोग हैं। वे मनबहलाव के लिए कहानी पढ़ें, तो कोई हर्ज़ नहीं, आलोचक की हैसियत से उन्हें कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। यदि आधुनिकता कोई प्रवृत्ति है और वह साहित्य में पिछले १० वर्षों से प्रतिष्ठित हो चुकी है तो १९६० में यह कहना कि कविता ही नये भावों के वहन में सक्षम है, कहानी में नया कुछ नहीं, वस्तुतः कलाओं को खानों में बाँटकर उन्हें परस्पर विच्छिन्न करने के अपराध का भागीदार होना है। सर्वमान्य सार्वभौम प्रवृत्तियाँ कला के सभी क्षेत्रों और विधाओं को समान रूप से प्रभावित करती हैं। साहित्य ही नहीं (जिसमें कहानी, कविता और दूसरी विधाएँ भी शामिल हैं) संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला सभी इस तरह की व्यापक प्रवृत्ति से प्रभावित होती हैं। हाँ, यह सही है कि कभी किसी कालावधि में किसी विशेष कला या विधा के क्षेत्र में कुछ ज्यादा सक्षम प्रतिभाएँ प्रकट होती हैं और उस कला या विधा को उस युग की केन्द्रीय विद्या बना देती हैं। पिछले दिनों यानी १९५५ से ६० तक के कालखंड की मुख्य विधा नई कविता प्रतीत हो रही है; पर इस आधार पर कहानी को 'नई' न मानना और उसे किशोरीलाल गोस्वामी से जोड़ने की कोशिश करना निश्चय ही दृष्टिदोष है।

कहानी की पाठप्रक्रिया का अधूरा ज्ञान या अज्ञान भी इस उलझे हुए कुहरीले माहौल

को बल देता है। लोग प्रायः भूल जाते हैं कि कविता सविशेष वाक् की प्रक्रिया है, जब कि गद्य सामान्य वाक् की। अतः कविता में भाषा की शिल्पगत विशिष्टताएँ जिस मात्रा में दिखाई पड़ेंगी, उसी मात्रा में कहानी में ढूँढ़ पाना कठिन तो होगा ही, अनुचित भी होगा। कहानी की संरचना कविता से भिन्न आधार और उपादानों से की जाती है। वह शिल्प की दृष्टि से डायरी, स्केच, रिपोर्ताज़, संस्मरण आदि गद्य विधाओं को छूती है या उनके निकट दिखाई पड़ सकती है, उसमें कविता की छाया पड़ सकती है, वह कविता नहीं हो सकती। इसलिए नई कहानी को नई कविता के प्रतिमानों के आधार पर विश्लेषित करने का प्रयत्न उतना ही ग़लत है, जितना नई कहानी को नई कविता से विच्छिन्न मानने या उसके प्रभावों से अलग रखने का दुराग्रह। ● ●

कथा-समारोह : तीन दिनों की एक डायरी

●

कलकत्ते के कथा-समारोह [दिसम्बर ६५] के बारे में सोचता हूँ तो पहला व्यक्ति जो सामने खड़ा होता है वह है हिन्दुस्तानी सेठ। स्वतंत्रता के बाद से हिन्दुस्तानी सेठ काफ़ी बदला है। वह अंग्रेज़ी ज़माने का लक्ष्मीवाहन ही नहीं है। अब वह नेहरू के हिन्दुस्तान में आत्मविश्वास उपलब्ध करने वाला पूँजीपति है। वह पैसे से राजनीति खरीदता है अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए। इधर वह पैसे से साहित्य भी खरीद रहा है, कुछ अपने अहं की तुष्टि के लिए, कुछ यह दिखाने के लिए कि वह सांस्कृतिक रूप से भी महत्त्व पाने का अधिकारी है। वैसे वह साहित्यकार नामक प्राणी की 'कृतघ्नता' से भी वाक़िफ़ है। इसलिए सांस्कृतिक मामलों में उसकी पहल थोड़ी सावधानी की होती है। वह अपने नज़दीकी साहित्यकारों की आड़ में साहित्य-सूत्र संचालित करना चाहता है। उसके पास पैसा है। अब सेठ-परिवारों की नयी पीढ़ी उसका उपभोग भी कर रही है, काफ़ी आधुनिक कहे जाने वाले ढंग और ढर्रे से। कला और साहित्य-समारोहों को भी वह 'उपभोग' का ही एक ढंग और ढर्रा समझती है। यहाँ सेठ खुद सक्रिय नहीं होता, पैसे को सक्रिय करता है। नज़दीकी साहित्यकारों के माध्यम से साहित्यिक बटोरें करा देता है। ऐसी बटोरों से दुहरा लाभ है। एक तो कुछ मनोरंजन हो जाता है, थोड़ा अहं तुष्ट होता है, दूसरा यह कि साहित्यकारों को आपस में लड़ते-झगड़ते देख कर उसे लगता है कि वह व्यर्थ ही अपने को लक्ष्मीवाहन समझ कर हीनता-ग्रंथि का शिकार हो रहा है, और ये लोग भी तो खासे मामूली आदमी हैं।

इस कथा समारोह का दूसरा व्यक्तित्व वह है जिसे सेठ-धर्मी साहित्य-प्रेमी कहा जा सकता है। ऐसे लोग काफ़ी अच्छे आदमी हैं। साहित्य और कला के प्रति इनके मन में प्रेम है। किन्तु प्रेम बिना पैसे के हवाई क़िला भर होता है। पैसा मिलना चाहिए, तभी सांस्कृतिक गतिविधि बनी रहेगी। इसलिए ये सेठ को सहते हैं, सहते रहे हैं और यह इनका अब स्वभाव बन गया है। ऐसे लोगों का प्रयत्न रहता है कि ऐसे समारोह ठीक से सम्पन्न हों। कुछ होता रहे इसलिए मैं इस सेठ-धर्मी साहित्य-प्रेमी व्यक्तित्व के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूँगा कि इसने इस समारोह को सफल बनाने का अपनी ओर से भरसक प्रयत्न किया।

इस कथा समारोह का तीसरा व्यक्तित्व वह है जो दूसरे से जुड़ा है। यह तीसरा व्यक्तित्व दूसरे से इसीलिए जुड़ा है कि वह मूलतः चौथे से जुड़ा रहना चाहता है। चौथे व्यक्तित्व को साहित्य में 'गुट' कहा जाता है। यह तीसरा व्यक्तित्व अपने गुट की ओर से दूसरे व्यक्तित्व को प्रभावित करके, अपने लोगों के लिए अधिक से अधिक सम्मान व

विज्ञापन पाने का प्रयत्न करता है। गुटीय आसक्ति दूसरे गुटों के लिए विरोध का निमंत्रण होती है। ऐसा न होता तो बक़ौल इसराइल, कलकत्ते के बहुत से साहित्य-कारों को साहित्यकार मानने में रमेश बक्षी को आपत्ति क्यों होती। परिणाम यह कि कलकत्ते के इस कथा समारोह में स्थानीय कथाकार कहीं दिखाई न पड़े। हर्षनाथ, शरद देवड़ा, अवधनारायण, छेदीलाल गुप्त, कृष्णबिहारी मिश्र, इसराइल आदि अलग रहे। इनकी ओर से सम्मेलन के प्रति विरोध सूचक एक परिपत्र भी निकला था। सुना, बीच में इन दोनों गुटों में समझौता कराने के लिए दिल्ली के एक 'विचवइत' कथाकार हवाई जहाज़ से आये-गये, मगर समझौता न हो सका।

इससे हमें असंतुष्ट नहीं होना चाहिए। पर मैं असंतुष्ट हूँ, क्योंकि मैं विभिन्न विचार-धारा रखने वाले साहित्यकारों के सह-अस्तित्व में विश्वास रखता हूँ। गोकि इस सह-अस्तित्व को नापसन्द करने वाले लोग इसका अर्थ व्यक्ति के भीतर नये-पुराने का सह-अस्तित्व समझ लेते हैं और आधुनिक रूसी कलाकारों के ख़िलाफ़ ८ मार्च १९६३ को दिये गये ख्रुश्चोव के सह-अस्तित्व विरोधी भाषण का हिन्दी में उल्था करते रहते हैं। मेरी लोकतंत्र में आस्था है और मैं मानता हूँ कि आधुनिक भारतीय परिवेश में जहाँ हम एकांगी दृष्टिकोण रखने के लिए अभिशप्त हैं, साहित्यकारों के सह-अस्तित्व का विरोध करना ख़तरनाक़ चीज़ है। इसीलिए हमें विरोधी विचारधारा रखने वाले साहित्यकारों की हमेशा प्रतीक्षा रहनी चाहिए; ताकि हमारी दृष्टियों का संघर्ष हमें सतह पर तैरने से रोक सके। और फिर एक दूसरे के विचारों की टकराहट [एनकांउटर] से संभव है कोई न कोई रास्ता निकल ही आए।

२४ दिसम्बर १९६५

शिक्षायतन से अलग, बाहर, विक्टोरिया मेमोरियल के पासघोड़ों की दौड़ जारी है, और शिक्षायतन के सजे हुए हाल में कथाकारों की। पुरानी पीढ़ी, नई पीढ़ी और ताज़ी पीढ़ी—पुरानी पीढ़ी में सबसे अधिक आक्षेप के पात्र जैनेन्द्र बने, या बनाये जाते रहे हैं। परिणामतः इस पूरे कथा समारोह के त्रिकोण के शीर्ष पर जैनेन्द्र स्थित दिखाई पड़े, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। जैनेन्द्र पुरानी पीढ़ी के सबसे ज़बरदस्त कहानीकार हैं, इसमें भी शक नहीं। उन्हें कुछ लोग विचारक या चिन्तक भी मानते आते हैं—ऐसे लोगों को अन्तिम गोष्ठी के खीजे हुए जैनेन्द्र को देख कर कुछ अटपटा लगा होगा, पर जैनेन्द्र को यह सब काफी अच्छा लगा था और अभी, पिछले बुधवार, ५ जनवरी को मेरे घर पर इसी प्रसंग में उन्होंने यह स्वीकार भी किया कि यह सब जिन्दग़ी का तमाशा है, और मैं इसका पूरा मज़ा लेना चाहता हूँ। जैनेन्द्र और भगवतीचरण वर्मा में यही अन्तर है। जैनेन्द्र कहानी को मज़ा या मनोरंजन नहीं मानते पर कहानी पर चलने वाली गर्म और आरोप-प्रत्यारोप भरी बहसों में मज़ा लेते हैं। भगवती बाबू कहानी को मनोरंजन मान लेते हैं, और पेशेवर कथाकार को अपना प्राप्य,

अतः सैद्धान्तिक गोष्ठियों में वे उखड़े-उखड़े से नज़र आते हैं। नागर ज़िन्दगी में मज़ा लेने वाले मस्तमौला हैं, अतः उनका फक्कड़पन पीढ़ियों की सीमाओं को लाँघ जाता है और जो भी कोई मिले "भइए, वाह वा" के ममत्त्व-भरे आलिंगन से उबर नहीं सकता।

ऐसी हालत में पहली गोष्ठी में 'जीवन दृष्टि' का प्रश्न कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं बना। क्या यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है? आज का कहानीकार कहना चाहता है, नहीं। और शायद इस प्रकट-गुप्त 'नहीं' ने लोगों को इतना उकसाया कि 'लेखक-पाठक आमने-सामने' वाली गोष्ठी में श्रीमती कुंथा जैन, डा० प्रतिभा अग्रवाल और श्रीमती किरण जैन ने लेखकों पर लगभग गुस्सा होते हुए पूछा कि यदि कोई जीवन-दृष्टि ही नहीं है आपके पास, तो दूसरों पर बकवास लादने का प्रयत्न क्यों? ज़ाहिर है कि पाठक कहानीकार से से यथातथ्य वर्णन भर नहीं पाना चाहता। वह 'कुछ और' चाहता है। इस 'कुछ और' के बारे में लेखक बहुत सावधान है, यह मान लेना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। मुझे अक्सर लगता रहा है कि लेखकों से कभी-कभी अजीब आशाएँ और आकांक्षाएँ बाँध ली जाती हैं। ऐसा शायद इसलिए कि जीवन को हम अपने से भिन्न एक 'स्थिति' मान लेते हैं, और उसकी समस्याओं से परेशान हो कर बने-बनाये समाधानों की खोज में निकल पड़ते हैं। चूँकि लेखक हमेशा से ही जीवन का पारखी माना जाता रहा है, इस-लिए यह आशा स्वाभाविक है कि उसके पास कोई कवच या खोल या बचाव-सामग्री होगी जिसे पहन कर जीवन की लपटों में कूदा जा सकता है। मैं यह मानता हूँ कि प्रश्न बेमानी नहीं है, पर इस पर सोचने-बिचारने का अवसर ऐसे समारोहों से अलग ही होता होगा। समारोह में जीवन-दृष्टि की व्यवस्था या तो फ़िर जैनेन्द्रीय आवाज़ में 'कुछ है भी, कुछ नहीं भी' के ढंग पर दी जाती है या फिर भगवती बाबू की तरह 'सब कुछ मनोरंजन' के ढंग पर। कमलेश्वर से यह आशा थी कि वे कुछ कहेंगे। और नहीं तो इस समस्या की पेचीदगी को ही सभी पहलुओं के साथ उभार कर सामने रख देंगे, पर लगता है कि जैनेन्द्र की उपस्थिति 'दिल्ली वाले कहानीकारों' को भड़काने के लिए काफ़ी होती है। कमलेश्वर ने नयी कहानी का इतिहास बताना शुरू किया और उसे भारतेन्दु के साथ जोड़ कर जीवन और यथार्थ के प्रति उसकी सम्बद्धता को रेखांकित कर दिया। मैं बार-बार सोचता रहा कि ऐसा लम्बा इतिहास क्यों ढूँढ़ा जा रहा है? जैनेन्द्र से कोई न जुड़ना चाहे तो न जुड़े, प्रेमचन्द से भी जुड़ने में शायद नये कहानीकारों को आपत्ति हो, क्योंकि उनसे 'ग्रामकथा' का एक दुःस्वप्नमूलक आन्दोलन कभी जुड़ता रहा है, फिर मोहन राकेश, यादव से ही नयी कहानी की शुरूआत मान लेने में क्या हर्ज है? नयी कविता के समानान्तर नयी कहानी को विकसित मान लेने की जहमत से बचने के लिए भारतेन्दु के पास पहुँचना तो सचमुच ही रामस्वरूप चतुर्वेदी के उस आरोप को प्रमाणित करता है कि नयी कहानी किशोरीलाल गोस्वामी से जुड़ी हुई है। सुदर्शन, कौशिक, प्रसाद, प्रेमचन्द, यशपाल सभी जीवन-दृष्टि देते रहे हैं। इस दिशा-द्रान ने हमारे

समाज को आज वहाँ पहुँचा दिया है जहाँ न दृष्टि है न राह। नया लेखक इसी स्थिति से टकरा रहा है। वह एक अर्थहीन ज़िन्दगी से जूझ कर उसे अपने हिसाब से सार्थक बनाने के लिए संघर्ष कर रहा है। उसके समानान्तर ज़िन्दगी जीने वाला पाठक अपनी ही तरह विवश और परेशान लेखक को ठीक से तलाश कर ले यही बहुत है।

इसी शाम एक गोष्ठी और हुई। विषय था, "समकालीन कथा साहित्य में बदलती हुई जीवन दृष्टि: भारतीयता का परिप्रेक्ष्य"। इस गोष्ठी पर भी जीवनदृष्टि की रहस्य-मयता छायी रही। श्री लक्ष्मीनारायण लाल ने मार्क्सवाद का नाम लिया और यथार्थ को जीवन दृष्टि का केन्द्रबिन्दु माना। लक्ष्मीनारायण लाल के लिए जितने सीधे जीवन के ये प्रश्न लगते हैं उतने ही विश्वासपूर्ण मार्क्सवादी समाधान। हरिशंकर परसाई भी प्रगतिवाद के प्रति आग्रह रखते हैं—उनका यह कथन कि" पूँजीवादी युग का अभिशाप यह नहीं है कि उसमें हृदय परिवर्तन में बाधा होती है, बल्कि यह कि वहाँ हृदय ही नहीं होता"—लक्ष्मीनारायण लाल के समूचे जोशमूलक नारों से कहीं ज्यादा प्रभावशाली था। सच तो यह है कि समूचे विश्व में मार्क्सवादी यथार्थ के किताबी समाधानों के मिथक टूट गये हैं। यदि वे समाधान इतने सही और आसान होते तो फिर इन्हें बाक़ी साहित्यकार भी वैसे ही दुहरा देते जैसे लक्ष्मीनारायण लाल दुहराते हैं। मार्क्सवाद एक ज़माने में जरूर बड़ा आश्वस्तकारी लगता था, परन्तु जो भी जीवन की समस्याओं को गहराई से समझना-बूझना चाहते हैं, उनका समाज के बाह्य कलेवर में सीमित, सिर्फ़ वस्तुपरक सामूहिकता के छिछले स्तर से सम्बद्ध इस विचारधारा के प्रति मोहभंग हो चुका है। इसके विरोध के खतरों को भी मैं स्वीकार करता हूँ जैसा कि हरिशंकर परसाई ने कहा कि आत्मानुभूति शब्द अपने में पूरा नहीं है, पर लेखक को यह फ़र्क़ करना तो चाहिए ही कि कहाँ उसकी आत्मा बोलती है और कहाँ उसका अवसरवाद। आत्मा, अवसरवाद और यथार्थ—इन तीन शब्दों को भी उनके सही परिप्रेक्ष्यों में विश्लेषित कर दिया जाता तो शायद इस गोष्ठी का उद्देश्य कुछ न कुछ पूरा हो जाता। यथार्थ के प्रति उत्कट संसक्ति आवश्यक है, किन्तु अपनी आत्मा के प्रति संचेतना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। वस्तुत: आधुनिक सामाजिक परिवेश के प्रति जागरूक हर लेखक बाहरी यथार्थ और अपनी आन्तरिक अनास्था से जूझ रहा है। हम इस स्थिति से इतने परेशान हैं कि हम हर परिवर्तन को चाहे वह किसी भी रूप में आए, स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। चीनी आक्रमण, पश्चिम की बीटनीक पद्धतियाँ, क्रुद्ध, बीमार पीढ़ियों के रंग-ढंग, सभी हमको स्वीकार्य हैं, यदि वे हमारी स्थितियों में कुछ परिवर्तन ला सकें। इस बेहद परेशानी की हालत में हम यह सोचना नहीं चाहते कि ये परिवर्तन क्या हमारे लिए फ़ायदेमंद भी होंगे। इसी संदर्भ में मैंने कहा था कि हम परिवर्तन चाहते हैं, बड़ा कूड़ा जमा हो गया है चतुर्दिक् उससे हम मुक्ति चाहते हैं, किन्तु साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि परिवर्तन हमारी इच्छा के अनुकूल घटे, हमारे सृजन का अंग बने। हम परिवर्तित

होने की अपनी स्वतंत्रता खो कर परिवर्तन ला भी सकें, तो वह क्या देगा ? कम से कम हमें इतनी तो स्वतंत्रता होनी ही चाहिए कि परिवर्तन की लपटों में कूदते वक्त यह सोचने के लिए हम स्वतंत्र हों कि इसमें हम कितना जलाना और कितना बचाना चाहते हैं। न भी बचे तो भी यह एक जागरूक लेखक का प्रयत्न तो होता ही है। इसी को दृष्टि में रख कर प्रभाव और अनुकरण का अन्तर किया जा सकता है। श्रीकान्त वर्मा ने इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया था कि साहित्य मानवीय वस्तु है, उसकी अपील किसी एक देश या भाषा तक सीमित हो कर नहीं रह सकती। उन्होंने फ्रांज़ काफ़्का का उदाहरण देते हुए कहा कि वह हमें अच्छा इसलिए लगता है कि वह गहरे स्तर पर मानवीय संबन्धों से जुड़ा है, और जहाँ भी मनुष्य है, अपने को उससे बँधा हुआ पाएगा। श्रीकान्त के इस कथन से आपत्ति हो सकती है, प्रश्न काफ़्का का नहीं, प्रश्न उन 'ड्रेन पाइपों' का है, जिन्हें पहन कर हम अपने को अन्तर्राष्ट्रीय मानवता से जुड़ा-जुड़ा अनुभव करते हैं और जो ऐसा नहीं करते उन्हें दक़ियानूस या पुराना मान कर गर्म साँसें छोड़ते रहते हैं। एक कृत्रिम अनावश्यक और सृजनहीन तत्व को जो गहरे स्तर पर शायद ही कभी मानवीयता से जुड़ता हो, आधुनिकता के स्थान पर प्रतिष्ठित करके पूजते रहते हैं।

२५ दिसम्बर १९६५

२४ की शाम की गोष्ठी अक्सर हाथ से छूटती रही थी। आगे की गोष्ठियों के बारे में भी शंकाएँ उठने लगी थीं। २५ तारीख की सुबह की गोष्ठी का विषय था—"हिन्दी कथा साहित्य : उपलब्धियाँ, उभरती दिशाएँ और आधुनिकता के संदर्भ में अपेक्षाएँ"। गोष्ठी को एक ठोस आधार प्रदान करने का कार्य स्व० देवीशंकर अवस्थी ने किया। उन्होंने कहा कि हिन्दी कथा-साहित्य में ६० के बाद से एक नयी पीढ़ी आ गयी है। यहाँ अब तक की तीनों ही पीढ़ियों के लोग हैं। '५० के पहले की पीढ़ी [जैनेन्द्र आदि की] यथार्थ के सृजन पर बल देती थी, '५० के बाद की पीढ़ी में यथार्थ की अभिव्यक्ति को प्रमुखता मिली। सन् '६० के बाद की पीढ़ी यथार्थ की खोज में लगी हुई है। इस प्रकार उन्होंने आधुनिकता की ऐतिहासिक प्रक्रिया को स्पष्ट किया। उन्होंने सन् पचास के बाद की पीढ़ी की कुछ चुनी हुई कहानियों तथा सन् ६० के बाद की कहानियों को साथ-साथ रख कर अन्तर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि 'बिन्दा महराज', 'आर्द्रा' और 'चीफ़ की दावत' जैसी कहानियों में यथार्थ की अभिव्यक्ति का सूक्ष्म प्रयत्न अवश्य है, पर ये कहानियाँ आधुनिकता के बोझ को सँभाल नहीं पातीं। इन कहानियों में पाठक पात्र, घटना तलाश लेता है, पर सन् ६० के बाद की कहानियों में जो जीवन व्यक्त हो रहा है वह अतर्क-जगत् है, जिसमें सब कुछ खो चुका है।

देवीशंकर ने '६० के बाद के जिस नये दौर का जिक्र किया, उस पर इधर विचार होता रहा है। सन् ६० के बाद की कहानी में सम्वेदना का स्तर बदला है, इसमें शक नहीं। किन्तु यह परिवर्तन किस ओर हुआ है, इस पर भी विचार होना चाहिए। सन्

६० के बाद की नयी कविता और नयी कहानी को, उसके बदले हुए स्वर को कुछ प्रवृत्तिमूलक आलोचक एक खास रंग में, एक राजनीतिक उद्देश्य से उपस्थित करना चाहते हैं। कुछ लोग इस नये स्वर का मूल कारण केरल में साम्यवादी सरकार की बर्ख़ास्तगी और चीनी आक्रमण जैसी घटनाओं में ढूँढ़ना चाहते हैं। 'कल्पना' १७१ में नागेश्वरलाल ने अपनी टिप्पणी में इसी बात की ओर संकेत किया है [जनवरी, '६६, पृष्ठ ६२] इसे और भी साफ़ करने के लिए कुछ लोग सन् ६० के स्थान पर सन् ६२ से इस नये स्वर का आरंभ मानने पर जोर देते हैं। जो लोग चीनी आक्रमण के साथ सन् ६२ से हिन्दी कविता और कहानी के क्षेत्र में नया दौर ला रहे हैं. वे शायद सन् ६५ को भी एक दूसरे नये दौर का कारण मान लें, क्योंकि इस वर्ष पाकिस्तानी आक्रमण ने भी साहित्य की संवेदना को कुछ न कुछ बदला ही होगा। वस्तुतः यह एक राजनीतिक हथकंडा मात्र है, जो हमेशा ही साहित्य के अध्ययन को गलत दिशा देने के लिए काम में लाया जाता है। ऐसे लोग सन् ६० के बाद के साहित्य को बिलकुल ही गलत परिप्रेक्ष्य में रखने का कार्य कर रहे हैं। सन् ६० के बाद के साहित्य में चाहे कुंठा हो, चाहे संत्रास और चाहे आत्महत्या की भावना का अतिरेक उसमें लेखक की निजी स्वतंत्रता के स्वर की प्रधानता है। इसमें सन्देह नहीं। संत्रास या आत्महत्या के अनुभव की तीव्रता ही इस बात का प्रमाण है कि ये लेखक चीजों, स्थितियों और क्षणों को बिलकुल 'निजी ढंग' से झेलने के लिए उत्सुक हैं। पश्चिमी साहित्य में भी ये भावनाएँ स्वतंत्रता की उत्कट अनुभूतियों से जुड़ी रही हैं, इसलिए इनमें केरल में साम्यवादी सरकार की बर्ख़ास्तगी से उत्पन्न संत्रास और 'जाव लगी हुई अभिव्यक्ति का मौनवाद' खोजना गलत जगह पर अपनी पार्टी-बद्ध आस्था को निवेदित करना ही कहा जाएगा। ग़लत अनुमान लगाने की अपेक्षा सन् ६० के बाद के लेखकों से यह पूछ लेना काफ़ी होता कि क्या इनकी नयी सम्वेदना के पीछे उपर्युक्त दोनों राजनीतिक घटनाएँ कारण मानी जा सकती हैं। देश-काल, सामाजिक स्थिति आदि के बारे में मैंने इसी संदर्भ में कुछ प्रश्न उठाये थे। कथा-समारोह में उपस्थित किसी भी नये कहानीकार [सन् ६० के बाद के] ने उपर्युक्त घटनाओं का ज़िक्र नहीं किया। उसका ज़ोर जब भी रहा अपनी 'निजी अनुभूतियों' पर था, सामाजिक संसक्ति और व्यक्तिगत दृष्टि पर था। वे इससे ज़रूर परेशान थे कि जैसा रवीन्द्र कालिया ने कहा कि 'मृत्यु, त्रास, भय, अनास्था और विश्वासहीनता को ग़लत रूप में नयी पीढ़ी के साथ नत्थी किया जा रहा है।' वे अपने देशकाल के प्रति उदासीन भी नहीं हैं जैसा कि दूधनाथ सिंह ने कहा कि 'हम अपने देशकाल की स्थितियों के भीतर ही सच हैं।' इस प्रकार की जागरूक पीढ़ी के बारे में यह कहना कि प्रयत्न 'अँधेरे की चीख' बन कर रह जाएगा, कोई अर्थ नहीं रखता।

शाम की गोष्ठी में विचारणीय विषय था—'हिन्दी कथा साहित्य : समकालीन बोध और दायित्व'। इस गोष्ठी के प्रमुख वक्ता राकेश और कमलेश्वर थे। दोनों ही वक्ताओं

ने समकालीनता को सन् ५० वाली अपनी पीढ़ी के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया। राकेश ने यह कहा कि साहित्यकार आत्महत्या की बातें करता है, आत्म-हत्या नहीं करता, दोनों में उतना ही अन्तर है जितना दुःख झेलने और दुःख की बातें करने में। बहुत से लेखक व्यावसायिक ढंग से कुण्ठा, आत्महत्या आदि की बातें कर रहे हैं। बहुत से लोग राजनीतिक दबाव में आ कर सामाजिकता का विरोध करते हैं। कमलेश्वर की स्थापना यह रही कि समकालीन के संदर्भ में सन् ५० के बाद की पीढ़ी का दृष्टिकोण पुराने से बिल्कुल भिन्न रहा, क्योंकि इनके साहित्य में रास्ता जीवन से साहित्य की ओर हुआ। नयी कहानी ['५० की पीढ़ी वाली] दायित्वबोध से जुड़ी है। प्रतिबद्धता उन लेखकों की नियति है। उनकी दृष्टि से नयी कहानी विकसित होती हुई प्रक्रिया का संवेदन थी, जब कि सन् १९६० के बाद की कहानी प्रतिक्रिया का एक स्रोत है।

प्रतिबद्धता का अर्थ अपने गुट के प्रति प्रतिबद्ध होना ही मान लेना चाहिए, क्योंकि कमलेश्वर या राकेश की परिभाषा या कथन से किसी को उतना विरोध नहीं जितना उनकी आत्मकेन्द्रिता से, जो एक तरफ़ जैनेन्द्र की पीढ़ी को निरर्थक कह कर अपनी आधुनिकता की मनमानी व्याख्या करवाती है और दूसरी ओर सन् ६० के बाद के विकास को प्रतिक्रिया कह कर उसे दायित्वहीन ठहराती है। यह मज्झिमनिकाय' एक अद्भुत आस्था से मंडित है जो अपनी पूर्व पीठिका के प्रति उतना ही असहनशील है जितना भविष्य के विकास के प्रति ईर्ष्यालु। इस प्रकार की 'कालखंड' सीमित आधुनिकता स्वतोव्याघात से पोड़ित है जो व्यावसायिकता को तर्कों के मिथ्या आवरण में छिपा लेने का नाटक करती है। पिछली पीढ़ी के प्रति रोष 'स्वाभाविक प्रक्रिया का संवेदन' है तो आगे की पीढ़ी को 'प्रतिक्रिया' करने का हक़ न देना निश्चय ही अधिनायकवाद का निर-पराध शिकार बनना है।

२६ दिसम्बर १९६५

अब तक गोष्ठियों की सीमाएँ और संभावनाएँ स्पष्ट हो चुकी थीं। इन गोष्ठियों में श्रीकान्त वर्मा अपनी निःसंकोच ईमानदार प्रतिक्रिया के कारण काफी ध्यान आकृष्ट करने लगे थे। परिणामतः एक अनावश्यक बहस उठने लगी थी, कहानी और कविता के सम्बन्धों पर। उन्हें कहानी में घुसपैठिया माना गया। श्रीकान्त ने अपनी सहज प्रतिक्रिया में कहानी को कविता से अवर विधा घोषित किया; पहले भी कर चुके हैं। इतना पर्याप्त था कि नयी कहानी के प्रति पूर्णतः 'प्रतिबद्ध' लोग क्रोध से आविष्ट हो गये। कविता और कहानी को दो भिन्न-भिन्न कटघरों में बन्द कर देने की प्रवृत्ति ने राजेन्द्र यादव को भी दबोच लिया था; वरना २६ दिसम्बर को प्रातःकाल होने वाली शिल्प गोष्ठी में वे अपने अपेक्षाकृत साफ़-सुथरे निबंध में यह न कहते कि—'दो निकटतम विधाएँ एक दूसरे के लिए खतरा होती हैं।' उन्होंने निर्मल वर्मा के शिल्प को नापसन्द किया, जो कोई बात नहीं, यह उनकी रुचि का सवाल था, पर उसकी खराबी का कारण

'कविता' के मत्थे मढ़ दिया जिसे श्रीकान्त वर्मा ढोने को तैयार नहीं हुए और उन्होंने शिल्प और अनुभूति के सूक्ष्म सम्बन्धों की सही व्याख्या करते हुए राजेन्द्र यादव के लचर शिल्प की बखिया उधेड़नी शुरू कर दी। कविता से कहानी को अलगाने वाले प्रायः यह भूल जाते हैं कि शिल्प के मामले में एक नया कवि कहानीकार की अपेक्षा कहीं ज़्यादा शिक्षण के दौर से गुज़रता रहा है। कारण स्पष्ट ही यह है कि कविता पर, उसके शिल्प और सूक्ष्म गठन के विभिन्न पहलुओं पर, अरसे से देश और विदेशों में विचार होता आ रहा है। काव्य और नाटक पर लम्बी समीक्षा-परम्पराएँ विद्यमान हैं। कहानी सम्पूर्ण विश्व में एक नयी और अजनबी विधा रही है। उसकी उपलब्धियों और संभावनाओं पर अभी पूरी तरह विचार नहीं हो सका है। कहानी के शिल्प पर विचार करने के लिए स्वस्थ, तटस्थ और उदार मन की आवश्यकता है। यदि कहानी के शिल्प को ठीक से समझने, विकसित करने, और आजमाने के लिए कविता के शिल्प पर व्यक्त विचारों से मदद मिलती हो तो उससे बिदकने की आवश्यकता नहीं है। अमर्ष में भर कर एक दूसरे पर आरोप करना बहुत आसान है, मगर एक शक्तिशाली और नाना संभावनाओं से भरी हुई नाजुक साहित्य-विधा को, जो कहानी है, सही ढंग से विकसित होने, फलने-फूलने की स्वतंत्रता देने के लिए एक अनासक्त संसक्ति चाहिए। कहानी न सिर्फ कविता से बल्कि अपनी निकटतम सहयोगिनी दूसरी विधाओं और कलाओं से शक्ति लेती रही है। कहानी की भाषा पिछले पन्द्र वर्षों में जिस ढंग और ढब से बदलती रही है, उसे पूरी तरह समझने के लिये काफ़ी सूक्ष्म स्तर के अध्ययन की आवश्यकता है। कविता की भाषा पर पिछले दस वर्षों में एक दर्जन से अधिक अच्छे निबंध लिखे गये हैं, पर कहानी की भाषा पर कोई एक भी अच्छा निबंध मेरे देखने में नहीं आया। कविता के शिल्प के प्रति जागरूक कवि-आलोचकों की एक पूरी की पूरी पाँत मिल जाएगी, पर अरसे बाद कहानी के शिल्प पर श्री राजेन्द्र यादव का यह निबंध दिखाई पड़ा है जो अपवाद ही कहा जाएगा। यदि सचमुच हम में कहानी के प्रति सही आस्था और संसक्ति है, तो वह सामूहिक प्रयत्न के रूप में इसकी समृद्धि के लिए संकल्पित होनी चाहिए, व्यर्थ के झगड़ों में उसे बर्बाद करने से कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा।

एक बात और : एक बंगला कथाकार ने कथा समारोह पर होने वाले खर्च को दृष्टि में रख कर एक हिन्दी प्राध्यापक से पूछा—"मोशाय एटि केतो खरच परिलो ?'

"करीब बीस हजार," प्राध्यापक का उत्तर था। "बापरे, कुड़ि हज़ार····ए कथाटि आमार कल्पनातीत।"

● ●

मांस के दरिया में फ़ौलाद का आकाश

समसामयिक दो लेखकों की कृतियों की सहसमीक्षा हमेशा ही अनेक उत्तरदायित्वों और ख़तरों से भरी होती है। एक ओर जहाँ तुलनात्मक स्थितियाँ अनायास ही कई प्रकार के नये प्रश्नों और बिन्दुओं को उभारती हैं, वहीं अनावश्यक रूप से तारतम्य खोजने के कारण वस्तु-परकता में बाधा भी पहुँच सकती है। कमलेश्वर और मोहन राकेश के संदर्भ में उपर्युक्त जोखम और भी बढ़ जाता है, क्योंकि इन दोनों का नाम एक विशिष्ट कथा-स्थिति से जुड़ कर अक्सर साथ-साथ लिया जाता रहा है। दोनों ही नयी कहानी के माने हुए कृती हैं। यहाँ समीक्षा उनके अलग-अलग संग्रहों पर ही आधारित है, उनके अब तक के समग्र कथा-सर्जन पर प्रकारांतर से ही चर्चा हुई है।

मैं बहुत प्रयत्न करके भी इन दोनों कथा-संकलनों पर यत्किंचित् उभयनिष्ठ चर्चा से, जो स्वभावतः उठती है, अपने को रोक नहीं पा रहा हूँ। इन दोनों संकलनों की कहानियों को न सिर्फ़ रचना-काल की दृष्टि से बल्कि आज की व्यापक भावभूमि की दृष्टि से भी कहीं न कहीं एक खाने में रखा जा सकता है। इस निष्कर्ष के पीछे स्थूल कारण सिर्फ़ इतना ही नहीं है कि ये दोनों अक्षर प्रकाशन से छपे हैं या कि दोनों एक ही कथामाला के अंतर्गत प्रकाशित होने के लिए आमंत्रित किये गये थे। वैसे राकेश ने अपनी पुस्तक की भूमिका में (जो पत्र रूप में छपी है) अपने संकलन को 'नयी कहानी: नये संकलन' सीरीज़ में छापे जाने पर एतराज़ किया था, क्योंकि उन्हें इस सीरीज़ के उपर्युक्त नाम से 'नयी कहानी के अर्थ और संदर्भ के सीमित होने की आशंका हुई थी।' क्योंकि उक्त सीरीज़ में छपे कथा-संग्रहों में उन्हें कोई ऐसा प्रयत्न नहीं दिखा, 'जिससे समकालीन कहानी की विविधता के अंतर्गत एक व्यापक अन्विति की खोज में और सहायता मिल सकती।' मोहन राकेश का उपर्युक्त मंतव्य बहुत ही सही और नयी कहानी की तथ्यात्मक स्थिति के अनुकूल है। 'नयी कहानी' शब्द पिछले वर्षों, खास तौर से कमलेश्वर के 'नयी कहानियाँ' के संपादक होने और रहने के काल में व्यापक अर्थ-संकोच के दौर से ग़ुजरा और कई साहित्येतर स्थितियों के कारण नयी कहानी का संबंध दो-तीन व्यक्तियों के साथ इस क़दर जोड़ा जाता रहा, गोया नयी कहानी हिन्दी साहित्य की कोई व्यापक विधा न होकर दो-तीन हमदम दोस्तों के बीच की 'कामन गर्ल फ्रेंड' हो। इस परिप्रेक्ष में मोहन राकेश का उपर्युक्त कथन काफ़ी साहित्यिक उदारता से ओतप्रोत कहा जायगा, इसलिए इसे पढ़ने पर मुझे प्रसन्नता हुई, यह कहना स्वाभाविक ही है।

राकेश के इस 'एतराज़' के बावजूद यदि मैं दोनों कथा-संग्रहों पर कुछ देर के लिए 'युगपत' चर्चा करना चाहता हूँ, तो इसीलिए कि उपर्युक्त 'एतराज़' के बाद भी इन कहानियों में, दोनों लेखकों की कहानियों में समकालीन कहानी की विविधता की उतनी पुष्टि नहीं होती, जितनी अनावश्यक और ऊपरी समानता यानी स्तरीय एकरूपता की। 'मांस का दरिया' की बारह और 'फ़ौलाद के आकाश' की नौ कहानियों में से कई में परिवेशगत और विचारगत समानता है; किन्तु यह समानता उस तरह की नहीं है, जैसी इधर के अति नवीन अनेक कहानीकारों की अनेक कहानियों में स्वयं प्रकाशित रूप में उभर कर दिखाई पड़ती है। अति नवीन कथाकारों की रचनाओं में समानता कथा-वस्तु के गहरे संकोच और 'ट्रीटमेंट' के हमशक्ल अन्दाज़ों के कारण उभरी है, जब कि राकेश और कमलेश्वर की कतिपय कहानियों के बीच परिलक्ष्य समानता नगर-जीवन के ऊपरी बोध और उसके सतही सर्वनिष्ठ स्तर से चिपके रहने के कारण उत्पन्न हुई है।

बहुत पहले हेनरी जेम्स ने बड़े-बड़े नगरों पर पर लिखे जाने वाले कथा-साहित्य के बारे में विचार करते हुए लिखा था कि "इनका वातावरण इतना अमौलिक और सार्वभौम होता है कि एक नगर से दूसरे नगर के जीवन को अलग कर पाना कठिन होता है। ये जादूगर के मुहावरों की तरह होते हैं घिसे-पिटे और निरर्थक।" (दे० क्रिएटिव प्रासेस आँफ़ हेनरी जेम्स : मैकार्थी) और अगर नगर-जीवन के ऊपरी वातावरण का का मोह और उसके चित्रण की प्रवृत्ति प्रबल हुई तो स्वभावत: अनेक कहानियों में एकरूपता और परिवेशगत सतहीपन अपने आप प्रधानता पा जाता है। दफ़्तर, सड़कें, बसें, रात को फ़ुटपाथों पर सोये या बेमतलब भटकते इन्सान, रिरियाते कुत्ते, नाना तरह की मशीनों और गाड़ियों के शोर, बाज़ार, दूकानें, शो-केस, बस, शेड, धुंध की जालियाँ, सड़क के खंभे, चाय-काफ़ी की ट्रे, ऐशट्रे, ड्राइंग रूम, बीयर, काफ़े, स्कूटर आदि नि:संदेह-नगर-जीवन के अविभाज्य और अपरिहार्य तत्व हैं, किन्तु एक प्रौढ़ लेखक से यह आशा करना अस्वाभाविक नहीं होगा कि वह इनकी अनुवर्तिता से बचे, क्योंकि ये चीजें सांकेतिक प्रतीकार्थों के रूप में ही स्वीकृत हो कर नगर-बोध को तीव्र करती हैं, पूँछ की तरह जुड़ कर कहानी को सिर्फ़ सुस्त और बेडौल बनाने के अलावा इनका और कोई महत्त्व नहीं होता।

इस दृष्टि से कमलेश्वर की कहानियों में राकेश की अपेक्षा अधिक ताज़गी और उपर्युक्त दोष से बचने की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। कारण स्पष्ट ही यह है कि कमलेश्वर की 'युद्ध', 'दुखों के रास्ते', 'दिल्ली में एक और मौत' इन तीन कहानियों को छोड़ कर बाक़ी कहानियाँ परिवेशगत लदानों से इस तरह बरी हैं कि वे कहीं भी घट सकती हैं, किसी मामूली क़स्बे में या फिर गाँव में भी। इस चीज़ को कोई कहना चाहे तो यों भी कह सकता है कि कमलेश्वर की अपेक्षा राकेश की कहानियों में नगर-जीवन के ऊपरी स्तर का आग्रह ज्यादा प्रबल है या कि कमलेश्वर की आत्मा में अब भी बंबई

और दिल्ली के लंबे प्रवास के बाद भी क़स्बे का आदमी ही बसा हुआ है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि कमलेश्वर की कहानियों में राकेश की अपेक्षा सार्वभौम या नवीन स्थितियाँ ज़्यादा साफ़ उभरती हैं और वे परिवेश की चटक रेखाओं को सही ढंग से दवाये रहती हैं। मैं यह मानता हूँ कि परिवेशगत एकरसता और एकरूपता सिर्फ़ नगर-जीवन की कहानियों में ही नहीं, किसी भी क्षेत्र की कहानियों में आ सकती है, चाहे वह गाँव की हों या क़स्बे की। मेरा एतराज़ सिर्फ़ उस मोटी ख़ोल से है, जिसमें हर कहानी को लपेटने की कोशिश की जाती है और इस कोशिश का यदि परिमाण अमौलिकता और एकरूपता ही हो तो इसे वरेण्य नहीं कहा जायगा।

इन दोनों ही लेखकों की कुछ रचनाओं में वस्तुगत समानता भी दिखलाई पड़ती है। इसे प्रचलित युगबोध भी कहा जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद के साहित्य में नयी और पुरानी पीढ़ियों के संघर्ष की स्थितियाँ किसी से छिपी नहीं हैं। सन् १९५७ के आसपास से, यानी' ५७ के आम चुनाव के बाद पुराने सत्तालोभी यथावत स्थिति के मोही नेतृवर्ग के कार्यों से नवयुवकों का जो मोह-भंग हुआ, उसने इस संघर्ष को और भी अधिक तीव्र किया। नये और पुरानों के बीच का यह संघर्ष नाना कोणों और परिप्रेक्ष्यों को समेटते हुए जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त हो गया। तनाव की यह स्थिति धीरे-धीरे युग-बोध अथवा एक आधुनिक मूल्य की महत्ता ग्रहण करने लगी। हिंदी कहानी में पिता-पुत्र के बीच का खिचाव बहुत उभर कर सामने आया। उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानी इस खिचाव को सामने ले आने का आरंभिक प्रयत्न होने के कारण बहुत चर्चित हुई। तब से ले कर आज तक अनेक कहानियाँ इसी थीम पर नये और अति नवीन दोनों ही वर्गों के कथाकारों द्वारा लिखी गयीं। मनोवैज्ञानिक इसे नये तरह का 'एडीपस काम्प्लेक्स' कह कर समझाना चाहेगा और समाजशास्त्री इसके भीतर एक नयी वर्ग-चेतना का दर्शन करेगा, पर हिंदी पाठक के सामने ये कहानियाँ बहुत ही पेचीदा मसला पेश करती हैं, इसमें शक नहीं। कमलेश्वर की कहानी 'ऊपर उठता हुआ मकान,' और राकेश की कहानी 'जंगला' इसी युगबोध पर आधारित हैं। किंतु क्या 'वापसी,' ऊपर उठता हुआ मकान,' 'जंगला' अथवा 'पिता' शीर्षक से लिखी इधर की कई कहानियों को एक ही ख़ाने में रखा जा सकता है? क्या' ६० के पहले के और साठ के बाद वाले लेखकों के 'एडीपस काम्प्लेक्स' में कोई गुणात्मक या तनाव का आनुपातिक अन्तर नहीं है? या फिर' ६० के पहले वाले कथाकारों की इसी तरह की कहानियों में भी अलग-अलग तरह का अन्तर नहीं दिखता? कमलेश्वर की कहानी 'ऊपर ऊठता हुआ मकान' एक विशिष्ट कहानी कही जा सकती है, क्योंकि इसमें लेखक ने एक उड़ते हुए बोधात्मक मूल्य या नारे को पकड़ कर कहानी नहीं लिख दी है, बल्कि यह कहानी लेखक की अपनी सांद्र अनुभूतियों से जुड़ कर काफी सजीव हो गयी है। इस तरह की कहानियों की सफलता-असफलता का मानदण्ड कहानी की प्रमाणिकता या वास्तविकता को ही माना जा सकता

है। मुरारी बाबू और गौरी तथा किशन और शांता के बीच की टकराहट फ़ार्मूलों पर आधारित नहीं प्रतीत होती। 'जंगला' कहानी में भी फ़ार्मूलावाद या खानापूरी का माहौल नहीं है। लेखक वहाँ भी ईमानदार ही है, पर कहानी बहुत अधिक प्रभावशाली या तनावभरी नहीं हो पाती, क्यों ? कारण यह है कि 'जंगला' कहानी का भगत आधुनिक स्थितियों से उत्पन्न तनाव का शिकार नहीं बनता। वह अपने रक्त में एक और तरह की पुरानी प्रवृत्ति ढोता रहता है, जो एक विधवा को पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करने में हिचकती है। फूलकौर ताना देती हुई कहती है—"(तब तो तुम) हाय-हाय करते थे कि दूसरे की ब्याह कर छोड़ी हुई औरत घर में कैसे आ सकती है।" या फिर भगत का यह कहना कि "मुझे क्या फ़र्क पड़ता है, ठाकुर जी की सेवा के लिए मैं कुएँ से किरमिच के डोल में पानी ले आया करूँगा।"

ये स्थितियाँ कहानी को प्रचलित युगबोध से अलग करती हैं। इसी कारण पाठक वहाँ उस तरह के तनाव का अनुभव नहीं करता, यह और बात है कि 'जंगला' कहानी में कुछ भिन्न कोण और मुद्दे भी उभरते हैं, जैसे भगत और फूलकौर के संबंध ही कौन बड़े प्रशंसनीय थे कि वे दूसरों में ग़लती खोज रहे थे।

पर ये दोनों कहानियाँ बहुत सफल होते हुए भी साठोत्तरी लेखकों की कहानियों के तनाव तक नहीं पहुँच पातीं, कारण स्पष्ट है कि तनाव सिर्फ़ कहानी में ही नहीं, लेखक के मन में भी होना चाहिए। उसका भोक्ता न होने के कारण प्रामाणिक स्थितियाँ भी 'टेंशन' के उस बिंदु को नहीं छू पायेंगी। अस्ल में एक ही युगबोध को आत्मसात् करने वाले समूह के भी कई-कई वर्ग होते हैं और इनके बीच का आनुपातिक अंतराल सिर्फ़ कृत्रिम बौद्धिक सजगता से ही मिटाया नहीं जा सकता, उसके लिए आत्मभोग की स्थिति के भीतर से गुज़रना भी ज़रूरी है।

कमलेश्वर की 'तलाश' और राकेश की 'ग्लासटैंक' कहानियों में भी समानता ढूँढ़ी जा सकती है। यहाँ स्थितियों का उलझाव दूसरी तरह का है। यहाँ समस्या माता और पुत्री के इर्द-गिर्द घूमती है। 'डैडी' दोनों ही कहानियों में हैं। एक में 'पापा जैसे डगमगा गये हों और चुपचाप जैसे घर से चले जाना चाहते हो......पापा सिर्फ़ खामोश बैठे रहते थे।' वहीं दूसरी में 'डैडी सुनते हुए भी न सुनते अख़बार या किताब में आँखें गड़ाये रहते।' स्थितियों के अनुसार दोनों डैडियों में अंतर भी काफ़ी है। 'तलाश' के डैडी अपनी पत्नी से पूरी तरह कट चुके हैं, इसलिए शाश्वत खामोश हैं जब कि 'ग्लासटैंक' के डैडी की पत्नी तीसरे व्यक्ति के उतना निकट नहीं है यानी कोई "नाता-रिश्ता नहीं है, फिर भी सोचती थी कि......।" और इस कारण 'ग्लासटैंक' के डैडी खामोश नहीं रहते। तीसरे व्यक्ति से दिखावटी बातचीत कर लेते हैं और उसकी अनुपस्थिति से उत्तेजित हो कर बहुत दिनों के भूले हुए सिगार को मुँह से भी लगा लेते हैं। आश्चर्य यह

है कि दोनों कहानियों की पुत्रियाँ माँ की 'स्थितियों' को बहुत ही सहानुभूति से देखती हैं। शायद पुत्र और पुत्री के मनोविज्ञान में बहुत अंतर होता है। 'तलाश' की सुमी ममी का बहुत ख्याल करती है और उनके जन्म-दिन पर नर्गिस के फूलों का गुच्छा ले जाती है और 'ग्लासटैंक' की नीरू सोयी हुई ममी की आँखों में झुके आँसू को हल्के से पोंछ देती है और सिर पर थपकियाँ देती रहती है। 'ग्लासटैंक' में एक विशिष्टता यह भी उभरती है कि तीसरा व्यक्ति अपनी उम्र के कारण ममी और नीरू, दोनों ही की सहानुभूति का पात्र बन जाता है, जबकि 'तलाश' का तीसरा व्यक्ति प्रायः गुमनाम रह जाता है।

क्या इन कहानियों से यह अभिप्राय निकाला जाय कि पुत्रियों के भीतर इस तरह की स्थितियाँ किसी व्यापक सामाजिक प्रश्न से जुड़ी हुई हैं। पुत्र विद्रोह कर सकता है पर पुत्रियाँ आर्थिक और सामाजिक कारणों से ममी जनों के साथ इस तरह बँधी हुई हैं कि वे उन्हें अपना प्रतिस्पर्धी भी मानती हैं और आदर्श भी। तलाश की सुमी "महीने में एक बार जब ममी का तन इतना तेज़ महकता था तो बार-बार किसी न किसी बहाने उनके कंधों पर अपना सिर रख देती थी।" हालाँकि "बीस की वह थी और उनतालिस की ममी।"

'ग्लासटैंक' की नीरू सुनहली मछलियों की 'इमोशनल लाइफ़' के बारे में अपनी सहेली से सवाल करती-करती शरमा जाती थी और शायद अपनी 'ममी' की स्थिति से बहुत वाक़िफ़ होने के कारण, या कौन जाने अपने भीतर भी कोई भेद हो, अपनी सहेली को आगाह करना चाहती है : 'चाहा उससे कहूँ कि शादी न करे।'

लगता है, पुत्रियाँ पुत्रों की अपेक्षा ज्यादा समझदार होती हैं। वे अपनी ममीजनों की घुटती ज़िंदगी से बहुत सहानुभूति दिखाती हैं। एक से बँध कर रहने वाले पुराने आदर्श का खोखलापन समझने के कारण ये नये ज़माने की बेटियाँ यदि अपनी माताओं की बेबसी और किसी अन्य के प्रति उनके झुकावों को बहुत उदारता और सहानुभूति से समझना चाहती हैं तो इसे बुरा क्यों माना जाय।

मेरे ख्याल से इन कहानियों के पीछे छिपी पुत्रियों के चेहरों में किसी अहम सामाजिक नुक़्ते की तलाश इन कहानीकारों के साथ ज़्यादती होगी। उन्होंने समाजशास्त्री बनने का कहीं दावा भी नहीं किया, वे तो सिर्फ़ कहानी लिख रहे थे और पढ़ी-लिखी लड़कियों को दृष्टि में रख कर, जहाँ माँ-बेटी के बीच के संबंधों का रहस्योद्‌घाटन काफ़ी आकर्षण की चीज़ होता होगा। हेनरी जेम्स ने कहा था कि 'प्वाइंट ऑफ़ व्यू' को निर्धारित करने में दर्शक या श्रोता या पाठक का भी अहम महत्व होता है, इस पर एज़रा पाउंड ने ग़लत तो नहीं कहा था कि जिसे मैं हेनरी जेम्स की अपनी चीज़ समझता था वह 'दर्शक' तो होमर में भी विद्यमान था। (ए बी सी ऑफ़ रीडिंग, पृ०

४३)। जब दर्शक का इतना महत्व है तो फिर दर्शिकाओं का क्यों न हो ? और फिर यहाँ कोई ज़मीन भी नयी तोड़नी हो ऐसी बात नहीं; इस तरह की थीम पर हज़ारों कहानी औ र उपन्यास अंग्रेज़ी प्रकाशकों की कृपा से सर्वत्र प्राप्त हैं।

एक और थीम है, जो दोनों ही कहानीकारों को बहुत रुचती है। यानी पति-पत्नी के बीच तनाव और उनके दरम्यान किसी तीसरे का प्रवेश। किसी 'तीसरे आदमी' का प्रवेश तो 'तलाश' और 'ग्लासटैंक' में भी है, पर वह स्थिति मात्र बन कर रह जाता है; वर्ण्य या कथ्य नहीं बनता। क्योंकि वहाँ माँ और पुत्री वाली समस्या ही प्रधान रहती है। यह कोई 'तीसरा' समस्या के रूप में कमलेश्वर की कहानी 'दुखों के रास्ते', 'जो लिखा नहीं जाता' तथा राकेश की कहानी 'फ़ौलाद का आकाश' में उपस्थित होता है।

सभी जानते हैं कि यह समस्या भी कोई नयी चीज़ नहीं है। हिंदी में 'कवि की पत्नी' और बंगला में 'घरे-बाहिरे' के बीच दर्जनों ऐसी कथा-कृतियाँ मिल जायँगी, जिसमें इस थीम को उठाया गया है। इसलिए उपलब्धि या नवीनता समस्या को सिर्फ़ बारीक से बारीक कोण से देखने और ट्रीटमेंट के कौशल में ही हो सकती है। आधुनिक युग की विवाहिता 'तीसरे' की ओर आकृष्ट क्यों होती है? ललिता और बलराज के बीच बीरेंद्र इसलिए आया कि 'नौकरी के सिलसिले में जब वह दिल्ली चला गया था और घर लौट कर आना उसके लिए एक अग्नि-परीक्षा-सा हो गया था', तो उसकी अनुपस्थिति में ललिता और वीरेंद्र के साथ-साथ रहने से 'धीरे-धीरे सब कुछ बदल गया था।' (मांस का दरिया, ३९) हम वीरेंद्र, ललिता और बलराज के मानसिक तनाव को और परिस्थितियों से उत्पन्न उलझाव को 'अप्रमाणिक' तो नहीं कह सकते, किन्तु सब कुछ मिला कर कहीं कुछ ऐसा ज़रूर है, जो इस कहानी को अवास्तविक बनाये रहता है। दो-दो बच्चों की माँ, पति की अनुपस्थिति में वीरेंद्र की ओर इतनी आकृष्ट होती है कि तलाक़ हो जाता है। ऐसी हड़बड़ाहट भारतीय नारी की विशेषता नहीं है, और यदि हो भी तो वह बीच की स्थिति में झूलती भले रहे, तलाक़ की इच्छा कम ही करती है। 'जो लिखा नहीं जाता' की सुदर्शना और महेंद्र के बीच चंदर का प्रवेश इसलिए हुआ कि सुदर्शना और चंदर में प्रेम था। उसने महेंद्र से विवाह किया तो चंदर को भुला कर, पर यादें नहीं भूलीं और 'तीसरा आदमी' पति-पत्नी के बीच व्यवधान बन कर घुस आया। 'फ़ौलाद का आकाश' की मीरा अपने सहपाठी राजकृष्ण को भूल न सकी, यद्यपि वह 'झूठे आदर्शवाद में पड़ कर उसे और अपने को छलता रहा।' यानी अब वह मंत्री है और मीरा स्टील प्रोजेक्ट के आँकड़ाबाज़ (पद का नाम नहीं दिया है, इसके सामने ग्राफ़ और आँकड़ों के काग़ज़ बहुत फैले रहते हैं) रवि की पत्नी बनी, जिसके बारे में मीरा को लगता कि वह 'प्यार करते वक़्त भी मन ही मन चुंबनों की गिनती करता होगा।'

इन कहानियों को पढ़ते बार-बार लगता है कि आधुनिक समाज में जो फ़ौलाद के आकाश से घिरता जा रहा है, ऐसी स्थितियाँ आना स्वाभाविक हैं। मैं मानता हूँ कि तलाक़ अदने से अदने कारण या बहाने से घटित हो सकते हैं, पर ऐसी चीज़ें अखबारों की ख़बर के लायक़ तो हैं, एक प्रामाणिक कहानी में इससे अधिक सामाजिकता और उसकी जानकारी अपेक्षित होती है। पता नहीं क्यों उपर्युक्त कहानियाँ कृत्रिम वातावरण और स्थितियों के बीच गढ़ी हुई सी लगती हैं। ऐसा शायद इसलिए कि इन कहानियों की नायिकाएँ चाहे वह ललिता हो, सुदर्शना हो या मीरा हो, असाधारण रूप से भावुक, सौंदर्यप्रेमी, नाज़ुक और व्यक्तिनिष्ठ दिखायी गयी हैं। इनमें बदली परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बदलने और गर्म-सर्द झोंकों को सहने की शक्ति कम दिखायी गयी है, जो आज भी भारतीय नारी की सर्वमान्य क्षमता कही जा सकती है। इसी कारण ये कहानियाँ आधुनिक बदलते हुए समाज की एक जीवित समस्या को छूती तो हैं, पर उससे टकराती नहीं हैं।

कमलेश्वर ने अपने संकलन में एक भूमिका भी दी है। इसलिए उनकी कहानियाँ पढ़ते समय उनके विचारों के तारतम्य में कथनी और करनी के तालमेल पर ध्यान जाना अनिवार्य हो जाता है। कमलेश्वर ने लिखा है कि "पिछले दस-पंद्रह वर्षों में कुछ गज़टेड आलोचकों के कारनामों के कारण एकाएक प्रगतिशीलता, जनवादी दृष्टिकोण आदि शब्दों से लेखकों को परहेज हो गया है। इतना ही नहीं, इन शब्दों से उन्हे डर भी लगने लगा, मेरे लिए वे शब्द डर का कारण नहीं हैं, वे मेरी शक्ति हैं।" (मांस का दरिया, पृष्ट ८)। मैं कमलेश्वर के इस साहसिक कथन की दाद देता हूँ। वे क्षण, अस्तित्व, मृत्यु, अँधेरे की चीख आदि बहुप्रचलित बिन्दुओं पर भी खूब डट कर सोचते-विचारते हैं, पर सर्वत्र उन्होंने अपनी भूमिका में इन शब्दों पर यथार्थ जीवन, सामाजिक संदर्भों आदि शब्दों को वरीयया दी है। एक एक बड़ी बात है। यानी अपनी भूमिका के माध्यम से कमलेश्वर ने प्रगतिवादी आलोचकों के कारनामों से परेशान होते हुए भी प्रगतिशील जनवादी साहित्य के प्रति अपनी अटूट आस्था का इजहार किया है।

उनके उपर्युक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में 'युद्ध', 'मांस का दरिया', 'दल्ली में एक और मौत', 'फ़ालतू आदमी', नीली झील' और 'बदनाम बस्ती' नामक कहानियों को रख कर पढ़ने वाले पाठक को निःसन्देह नयी रोशनी मिलेगी। 'युद्ध' कहानी में भूख और बेकारी तथा बमबारी, तीनों को एक पंक्ति में रख'कर रेखांकित किया गया है। मांस का दरिया' शरीर विक्रय करने वाली औरतों की ज़िंदगी का नग्न यथार्थ सामने ले आती है। 'दिल्ली में एक मौत' देशरक्षा के जनून के भीतर एक परायी मौत के नजदीकी दुःखों का इजहार है। 'नीली झील' का महेश पांडे अपनी धनी पत्नी की मौत पर उसकी यादगार में मंदिर बनवाने के प्रयत्नों की निस्सारता समझ जाता है और बर्बर शिकारियों से आक्रांत नीली झील को खरीद लेता है, ताकि बेचारे पक्षियों की हत्या बंद हो

सके। 'बदनाम बस्ती' अंग्रेजी शासन के भीतर अपना अधिकार, अस्तित्व और सम्मान खोती एक बस्ती की कहानी है जो प्रतीक रूप में पूरे हिन्दुस्तान के शोषण का ऐतिहासिक दस्तावेज़ बन जाती है। 'फ़ालतू आदमी' ग़रीब देश में जन्म लेने वाले हर बच्चे के अवांछित अवतरण पर व्यंग्य है।

इन कहानियों की प्रगतिशीलता इनके विषय से ही स्पष्ट है, पर प्रगतिशीलता का पारम्परिक अर्थ समझने वाले मुझ जैसे पाठकों को कहीं-कहीं भारी हैरानी भी होती है। भूख, बेकरी और युद्ध, ये परस्पर कहीं न कहीं संबद्ध हैं, यह तो पुराने प्रगतिशील लेखक और विचारक भी अक्सर कहते रहे हैं। 'युद्ध' कहानी के बेकार युवक को अपने पर खीझ होती है कि 'आखिर अब तक वह दिल्ली में कुछ कर क्यों नहीं पाया और कुछ नहीं तो रहने और खाने भर को तो कुछ कर लेता····लेकिन उसने कोशिश तो कोई उठा नहीं रखी। 'जाहिर है कि वह एकदम बेकार और परेशान है। एन० सी०सी० की पुरानी खाकी कमीज ही सिर्फ़ उसके पास बची है। वही कमीज़ पहन कर वह साथ के यात्रियों के मन में अपने प्रति आदर का भाव जगाता है। एक यात्री सिगरेट पेश करता है और उसके काँपते बदन पर अपनी चादर डाल देता है। उसके पूछने पर कि क्या आप मोर्चे मे छुट्टी पर लौट रहे हैं, वह झूठ बोलता है कि जी हाँ। 'वह सोचता है कि भूख या बेकारी उसे घर ले जा रही है या बमबारी।' भूख, बेकारी और बमबारी को एक पंक्ति में रख देने से ही इनके सामाजिक संदर्भों और आंतरिक जड़ों की परीक्षा नहीं हो सकती। इन्हें परस्पर संबद्ध दिखाना भी होगा। इतना बेकार होते हुए भी वह एक बार भी फ़ौज में भरती होने की बात नहीं सोचता ? युद्ध के कारण जो तरह-तरह की सक्रियताएँ बढ़ीं, उनसे उस बेकार को कहीं तो सहारा मिल सकता था, पर वह यह सब कुछ नहीं सोचता। शायद लेखक से यह पूछना अनुचित होगा कि उसे सिर्फ़ दिल्ली में बेकार घूमने का शौक था अथवा युद्ध से नफ़रत। यदि युद्ध से नफ़रत है तो इसे कहीं स्पष्ट नहीं किया गया, उल्टे युद्ध की खबरों के साथ अपनी सेनाओं के बढ़ाव पर लेखक बहुत खुशी व्यक्त करता है। तो फिर उसका नायक बमबारी से भागता क्यों है ? कुछ भी कहीं स्पष्ट नहीं होता। 'नीली झील' का महेश पांडेय अपने से अधिक उम्र की धनी महिला से विवाह करता है। उसके मरने पर सूद पर दिये रूपयों को बड़ी क्रूरता से वसूलता है। वह अपनी पत्नी की याद में मंदिर बनवाना चाहता है, पर ऐन मौक़े पर उसकी प्रगतिशीलता जगती है और वह मंदिर बनवाने का इरादा छोड़ देता है, पर करता क्या है ? रुपये लगाकर नीली झील खरीद लेता है, जिसके 'सवन हंसों और जलमंजरी की खूबसूरती से वह पागल रहता था।' झील पर तख्ती टँगी कि 'यहाँ शिकार करना मना है।' मंदिर बनवाना निःसंदेह बोर्जुवा ख्याल है पर क्रूरता से सूद के रुपये वसूल कर चिड़ियों की हिंसा रोकने के प्रयत्न को क्या महेश पांडेय की व्यक्तिगत रुचि सौंदर्य-बोध अथवा 'बुद्धं शरणं गच्छामि' कहा जाय ? व्यक्तिवादी प्रगतिशीलता

का यह काल्पनिक लोक किसे मनोमुग्ध नहीं करता। 'कुछ नहीं कोई नहीं' कहानी का चरना डाकू बन जाता है, क्यों ? उसका बाप पुलिस का दीवान किसी और औरत से नाजायज़ संबंध रखता है। वह माँ की ख़ातिर बाप से लड़ता है तो बाप झूठे इलज़ाम में फँसा कर उसे जेल दिला देता है, नतीजा यह कि चरना जमानत पर छूट कर आया तो झूठे इलज़ामों को सच करने के लिए डाकू बन गया। बाप की प्रेमिका की ओर ख़ुद भी आकृष्ट हुआ, पर रूहानी जज़्बातों के साथ। मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि ऐसी पुराने तर्ज़ की आदर्शवादी और रूमानी कहानी भी कमलेश्वर लिख सकते हैं !

और इस श्रेणी की सबसे अधिक प्रगतिशील कहानी है 'मांस का दरिया'। इधर कमलेश्वर के 'धर्मयुग' में प्रकाशित 'ऐयाश प्रेतों का विद्रोह' शीर्षक लेखों के संदर्भ में अक्सर इस कहानी की चर्चा होती रही है। यह अश्लील कहानी नहीं है, प्रगतिशील कहानी है और मैं यह मानता हूँ कि इस कहानी में ऐसा कुछ नहीं है, जिसके आधार पर कमलेश्वर के 'धर्मयुग' वाले लेखों की सच्चाई पर कोई आँच आती है। मैं इसे अधिक से अधिक एक पुरानी कहानी कह सकता हूँ। प्रिंस कुप्रिन के 'गाड़ी वालों का कटरा' और मंटों की अनेक कहानियों से जिनका परिचय होगा, उन्हें इस कहानी में कोई नवीनता नहीं मिलेगी। कुत्सित यथार्थ की अभिव्यक्ति का ताप बल्कि कुप्रिन और मंटो की तुलना में यहाँ कमज़ोर और न्यूनतर ही लगेगा।

'मांस का दरिया' संग्रह में एक छोटी सी कहानी और बच जाती है, जिसे मैं इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी मानता हूँ—कहानी है 'दूसरे'। न इसमें प्रगतिशीलता है न इसमें पिता-पुत्र काम्प्लेक्स वाली बात है, न इसमें किसी 'तीसरे' के प्रवेश की समस्या है, यानी यह कहानी नये-पुराने किसी भी बहुचर्चित भाव-बोध से और फ़ार्मूलों से जुड़ी हुई नहीं है, पर बावजूद इन तमाम चीज़ों के, एक बहुत ही सफल कहानी है। ख़ुद अपने से अपने अस्तित्व के साधन न जुटा सकने वाले परिवार पर 'दूसरे' कैसे हावी हो जाते हैं। घर का अपना नितांत निर्णय ही नहीं होता कहीं। 'घर में मशीन आये या न आये, इसे अपनी अनुपस्थिति में ही क़र्ज़दार तय कर लेते हैं। माँ को और बच्चे हों या न हों इसका फैसला पड़ोसी कर चुके हैं, पिता जी चुनाव में किसे वोट दें, ये दूसरे तय कर लेते हैं। इसी कारण जब कहानी के अंत में सुनीता की शादी भी दूसरे तय कर देते हैं तो पाठक सुनीता के अंतिम वाक्य में कि 'जैसा आप लोग ठीक समझें' बहुत कुछ पा जाता है।

राकेश की अपनी ज़मीन कमलेश्वर से काफी भिन्न है। जनवादी प्रवृत्तियों के प्रति किसी भी प्रकार का आग्रह या दुराग्रह राकेश में नहीं मिलेगा। इसी कारण राकेश की कहानियाँ किंचित पुराते तर्ज की भले लगें, अखबारी कतरनों से भरो-भरी कम ही जगहों पर लगती हैं। 'युद्ध', 'दिल्ली में एक मौत' या 'बदनाम बस्ती' जैसी पत्रकारिता राकेश के व्यक्तित्व से मेल नहीं खाती। राकेश का अपना क्षेत्र उच्च मध्यवर्गीय जीवन के इर्द-

गिर्द केंद्रित रहता है। इस समाज की अतृप्ति, मिथ्या आडंबर-प्रदर्शन, खोखलेपन को राकेश ने बहुत सूक्ष्म ढंग से उभारा है। यद्यपि राकेश का खुद का क्षेत्र बहुत सीमित है; पर उसे देखने के नये कोण उनकी अपनी विशेषता हैं। इन कहानियों में लेखक की निर्मोही तटस्थता राकेश की एक अंदरूनी शक्ति का प्रमाण देती है। 'सेफ्टीपिन' का नायक उच्च वर्ग के मर्द और औरतों के क्षुत्कातर आत्मा और मुखौटों से ढँके चेहरों की भीड़ में बटन-रहित पैंट की जगह लगे सेफ्टीपिन की चुभन को इस ढंग से महसूस करता है कि यह अनायास चुभन ही व्यंग्य बन जाती है। 'सेफ्टीपिन' कहानी का व्यंग्य काफ़ी सजीव है। 'सोया हुआ शहर' और 'एक ठहरा हुआ चाकू' शहरी जीवन के अपराध-पेशा गिरोहों की ज़िंदगी को सामने ले आती हैं। मैं 'ज़ख्म' कहानी को भी इसी गुच्छे में रखना चाहूँगा। ये तीनों ही कहानियाँ 'रात की बाँहों में शहर' शीर्षक के अंतर्गत रखी जा सकती हैं। लड़कियों का अवैध व्यापार, बेकारी और टूटते हुए अहं के नीचे ज़ख्मी व्यक्तित्व के युवक और बदकार भीड़ से टकराते कमज़ोर व्यक्तियों का भय—ये तीनों ही कहानियाँ हमारी बदलती हुई ज़िंदगी की साक्षी हैं किंतु बावजूद काफ़्काई छौंक के जो अंतिम दो कहानियों में काफ़ी उभर कर आयी हैं, ये तीनों ही कहानियाँ राकेश के व्यक्तित्व के सामने प्रश्न-चिन्ह ही लगाती हैं। 'मलबे का मालिक' 'आर्द्रा' यहाँ तक कि 'एक और ज़िंदगी' वाले ताज़े, डायरेक्ट और बैलोस राकेश की जगह घिसे, बासी, बेबस राकेश ही दिखायी पड़ते हैं। 'चौगान' जैसी कमजोर कहानी रही-सही आशा को भी मसल देती है।

कथ्य से काफ़ी कुछ निराश हो कर मैं कहानियों के शिल्प या आधुनिक शब्दावली में कहें तो 'ट्रीटमेंट' की ओर झुका। दोनों ही कथाकार बहुत बड़े कलाकार भी माने जाते हैं। प्रकाशक ने राकेश को 'नाजुक उँगलियों का सशक्त हस्ताक्षर' और कमलेश्वर को 'स्वप्नजीवी मासूमियत' से बना व्यक्तित्व कहा है। मैंने इन उपाधियों के पीछे छिपे रहस्य को जानने की बहुत कोशिश की। राकेश की नज़ाकत उनकी कवित्वमयता में और कमलेश्वर की स्वप्नजीवी मासूमियत उनकी रोमांटिक भाषा में छिपी मिली।

राकेश के दो चित्रण :—

(१) उसे लगा कि सितारा लान की घास पर उतर आया है, वहाँ से आँख झपकता हुआ उसे ताक रहा है। वह उठी और रबड़ की चप्पल वहाँ छोड़ कर लान में उतर गयी। पास जा कर देखा कि शबनम की एक अकेली बूँद उस सितारे को अपने में समेटे हैं। (फ़ौलाद का आकाश, पृ० ७१)

(२) सड़क के उस तरफ़ पत्थर के खंभों से डोलचे की तरह लटकते कुमकुमे एक सी रोशनी नहीं दे रहे थे। रोशनी उनके अंदर से लहरों में उतरती जान पड़ती थी, जो कभी हल्की और कभी गहरी हो जाती थी। रोशनी के साथ-साथ कारिडोर की

दीवारों, आदमियों और पार्क की गयी गाड़ियों के रंग हल्के गहरे होने लगते थे। बिजली के तारों के ऊपर आसमान से सट कर अँधेरा पास के कोने में बच्चे की तरह दुबका था। (फ़ौलाद का आकाश, पृ० ११४)

इन चित्रणों को ध्यान से देखने से पता चल जायगा कि राकेश की भाषा सपाट और सहजता के बीच अर्थ की सूक्ष्मता प्रकट करने वाली नहीं है। यह अलंकृत भाषा है, जिसमें कलाकार की चित्रात्मक रुझान छायावादी अंदाज़ों में रूमानी बिंबों की ढाल लिये शहरी परिवेस से टकराती रहती है। रात के समय, शबनम की एक अकेली बूँद में तारे की परछाई खोजने वाले लेखक को नाजुक उँगलियों वाला कहना स्वाभाविक है।

इसके ठीक विपरीत कमलेश्वर की भाषा अलंकृत कम से कम मिलेगी, अलंकृत नहीं है, यह मैं नहीं कहता, पर उसमें एक और तरह की 'स्वप्निलता' डालने की कोशिश ज़रूर नज़र आयगी। उदासी, मायूसी, जुदाई, अकेलेपन आदि के क्षणिक भावपूर्ण पर अक्सर आने वाले टुकड़े भाषा को बीच-बीच में बेहद गंधीली बना देते हैं।

(१) उसने बहुत धीरे से दरवाज़े को धक्का दिया। वह भीतर से बंद था। जब तक वह सोयी थी, तब तक दरवाज़ा बन्द नहीं किया गया था। कमरे से आवाज़ें भी आती रहीं और भिड़े हुए दरवाज़े की सेंध से रोशनी का आरा-सा गिरता रहा था। रोशनी मोमिया काग़ज़-सी चिलमिलाती रही और उस झीनी लकीर में सिगरेट का धुआँ तरह-तरह के पैटर्न बनता रहा था। वह बड़ी देर तक उन अक्सों को देखती रही थी। (मांस का दरिया, पृ० ८)

(२) जब तक बिस्तर लगे, हल्की बूँदाबाँदी होने लगी थी। सर्दी और भी बढ़ गयी थी। थोड़ी देर में बच्चे भी सो गये थे। किसन और शांता भी लालटेन बुझा कर सो गये। लालटेन धीमी-धीमी जल रही थी। अँधेरे में मकान हमेशा की तरह धसकता जा रहा था। सारा घर ख़ामोश था। (मांस का दरिया, पृ० ६)

(३) चारो तरफ़ एक अजीब सी बेबसी व्याप रही थी। शाम का धुँधलका गहराता जा रहा था। पेड़ निस्तब्ध खड़े थे। घर की इमारत में अँधेरा बेतरह भरता जा रहा था, पता नहीं सुदर्शना ने क्या महसूस किया था। (मांस का दरिया, पृ० ७५)

(४) मानसरोवर और कैलाश से आये देवहंसों को वह देखता रहा था जो गंधर्वों के देश से आये थे प्रवास के लिए। कोमल और पवित्र पक्षी। हल्की किरणों से सोना पतारी के पंख चमचमा उठे। उसका मन उदासी से भर गया! इन परदेशी पक्षियों से क्या नाता जोड़ना।

उदास, मायूसी, प्रवासी, परदेशी पक्षियों का नाता, ये सभी मिलजुल कर रोमांटिक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं। कमलेश्वर को इस तरह के वर्णनों से बेहद मोह है, मैं इसे बुरी चीज़ नहीं मानता, वैसे रोमांटिसिज्म को भी बुरा क्यों कहा जाय?

कमलेश्वर और राकेश की भाषा का मूल, दोनों ही लेखकों के सांस्कृतिक परिवेश में छिपा हुआ है। किसी ज़माने में अयोध्या प्रसाद खत्री ने एक पुस्तक लिखी थी 'खड़ी बोली आंदोलन'। उसमें उन्होंने खड़ी बोली की चार स्टाइलें बतायी थीं। मौलवी स्टाइल मुंशी स्टाइल, पंडित स्टाइल और मास्टर स्टाइल (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५९९)। खत्री जी यदि आज सोचते तो उन्हें एक और स्टाइल ढूँढ़नी पड़ती यानी साहब स्टाइल।

कमलेश्वर की भाषा की मूल प्रवृत्ति मुंशी स्टाइल की है, जब कि राकेश की साहब स्टाइल। कमलेश्वर फ़ारसी के बहुत रवाँ शब्दों के इस्तेमाल से अपनी भाषा में जहाँ कलात्मक सलवटें डालते हैं, वहीं राकेश अंग्रेजी शब्दों ओर उन्हीं के रूपांतरित मुहावरों द्वारा यह कार्य करते हैं। कहना न होगा कि प्रेमचन्द से विकसित होने वाली हिंदी कहानी की भाषा मूलतया मुंशी स्टाइल ही रही है और इस दृष्टि से यदि पाठकों को कमलेश्वर की भाषा में ज्यादा रवानी और गमक मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। पर यहीं एक और बात भी लगती है। विविध प्रकार की चीज़ों से टकराने के लिए जिस तरह की भाषा, यानी काफ़ी ढाँचाहीन भाषा चाहिए, उसकी संभावनाएँ कमलेश्वर की अपेक्षा राकेश में ज्यादा हैं। क्योंकि रवाँ और प्रवाहपूर्ण होते हुए भी कमलेश्वर की भाषा में प्रयोग की शक्ति और नवीनता कम है।

मुझे यह कहने में ज़रा भी झिझक नहीं कि इन दोनों ही कथाकारों की भाषा आज के अति नवीन लेखकों की तुलना में काफ़ी अलग दिखायी पड़ती है। अनलंकृत, सपाट सीधी भाषा में बारीक से बारीक बात कह जाने की कोशिश यहाँ कम दीखती है।

अत्याधुनिक खड़ी बोली के गद्य में इधर नये अंदाज विकसित हुए हैं। ये अंदाज वैसे तो प्रयोगवादी कविता के दिनों से ही छिटपुट दिखायी पड़ने लगे थे, पर इनका व्यापक प्रचलन इधर जाकर हुआ। यो अंदाज सिर्फ भाषागत ही नहीं, विचारगत भी है। भाषा में अरूपीकरण की प्रवृत्ति कई तरह के कौशलों का उपयोग करती है। अन्यथाकरण या डिस्टार्शन आधुनिक चित्रों में खूब चलता रहा है। अति नवीन लेखक भी इसका इस्तेमाल करते हैं। नये कवि भी। बहुत से नये प्रतीक बिंब या फिर टूटे हुए चित्र या भिन्न-भिन्न पदार्थों के टुकड़ों के मेल से बनाये जाते भिन्न अर्थसूचक पदचित्र नयी भाषा में खूब चलने लगे हैं। मुझे यह देखकर बहुत प्रसन्नता हुई कि राकेश और कमलेश्वर अपने को अति नवीन भाषा के अंदाजों से परिचित बनाये हुए हैं। पर कहीं-कहीं ये नये कौशल इनके द्वारा प्रयुक्त होकर बहुत भोंड़े भी लगते हैं—

कमलेश्वर की कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

"खिड़की से मैंने उसका टूटा हुआ धड़ देखा था। वह धड़ ठिठक-ठिठक कर आगे

बढ़ रहा था, इसी टूटी हुई सड़क पर, जो खिड़की की सिम्तों में क़ैद है। बरामदे में एक सूटकेस और बलराज के पैर....। सड़क का टूटा हुआ हिस्सा कुछ और बड़ा होकर उसी खिड़की में अँटका हुआ था। नीचे सड़क पर चलते हुए सिर थे जिनमें कानों की जगह झूलती हुई बाँहें थीं।"

मैं जगह-जगह ऐसे टुकड़ों की बार-बार अनुवर्तिता देख कर बड़ा परेशान हुआ। आखिर इतनी ख़ासी अच्छी भाषा लिखने वाला कमलेश्वर जैसा आदमी इस कबंध-युद्ध में काहे टूट पड़ा। कहानी में आगे जाकर एक वाक्य मिला—'ललिता का संकट यही है कि वह शायद हम दोनों में से किसी को भी संपूर्णतः नहीं चाहती' (मांस का दरिया, पृ० ४८)

ओह ! तो संपूर्ण की जगह असंपूर्ण दिखाने के लिए यह काट-छाँट की गयी है। भाषा में अन्यथाकरण का कौशल ज्यामिति-शास्त्र का कोई फ़ार्मूला नहीं है कि उपपत्ति और निष्कर्ष के बीच गणित सही-सही ढंग से बिठा दिया जाय। ऐसा करने से ख़तरनाक स्थिति आ सकती है, जिसे 'मीनिंग ऑफ़ वर्ड्स' का लेखक भाषा का 'आउट आव गीयर' (पृ० २११) होना कहता है।

कामू और काफ़्का की कहानियों की अत्यंत सीधी-सादी सपाट भाषा के जादू से सभी परिचित हैं। सपाट भाषा में व्यक्तित्व पैदा करना कठिन काम है। संयोजक अव्यय अथवा संबंधसूचक सर्वनामों का बिना इस्तेमाल किये छोटे-छोटे वाक्यों के माध्यम से समय और घटना-चक्र के तारतम्य को वे जिस ख़ूबी से व्यक्त करते हैं, वह ईर्ष्या की चीज़ है। पर लंबी-लंबी साँस खींचने वाले को जल्दी-जल्दी छोटी साँसें लेने में कितनी दिक़्क़त हो सकती है, इसका नमूना राकेश की ये पंक्तियाँ दे सकती हैं—

"**फिर** वहीं रख कर किताब बंद कर दिया। उसे पलंग पर छोड़ कर उठ खड़ा हुआ। **फिर** पलंग से उठा कर मेज़ पर रख दिया और खिड़की के पास चला गया।

लौट कर कुर्सी पर आ गया। कितनी ही देर बैठा रहा। **फिर** एकाएक उठ कर किताब को हाथ में ले लिया। **फिर** वहीं रख दिया। अंदर जाकर छुरी ले आया और डबलरोटी की स्लाइस काटने लगा। **फिर** आधे कटे स्लाइस को वैसे ही छोड़ कर खिड़की के पास चला गया।" (फ़ौलाद का आकाश, पृ० ६७)

कुल नौ पंक्तियों में पाँच बार 'फिर-फिर' साँस फूलने का द्योतक है। यह राकेश की अपनी शैली नहीं। राकेश लंबे-लंबे फंदे वाले काव्यात्मक वाक्यों के माहिर हैं या फिर कथोपकथन के। उन्हें इस तरह के प्रयत्नों में पड़ने की क्या ज़रूरत।

राकेश की शैली में प्रतीकात्मकता का बहुत ही सचेत पुट दिखायी पड़ता है। 'ग्लास-

टैंक', 'जंगला', 'फ़ौलाद का आकाश', 'सेफ़्टीपिन', 'ज़ख्म' यानी इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ प्रतीकात्मक शीर्षक लिये हुए हैं। "प्रतीकों का बहुत ही सचेत और नाज़ुक कार्य-व्यापार होता है। प्रतीकों को भाषा का सहायक साधन-मात्र न मान कर उनसे व्यापक अतिक्रांत अर्थ-दोहन की कोशिश प्रायः भ्रम की सृष्टि करती है।" मार्टिन टर्नर का बादलेयर के विषय में यह कथन (स्क्रुटनी, ग्रीष्म १९४३, पृ० २९६) बार-बार विचार करने की चीज़ है। 'फ़ौलाद का आकाश', 'जंगला' आदि कहानियों में प्रतीक काफ़ी व्यापक स्तर पर कथ्य को उद्भासित करते हैं, जब कि 'ग्लासटैंक' या 'ज़ख्म' कहानी के आरंभ के प्रतीक ऊपर से जोड़े हुए आरोपित जैसे लगने लगते हैं। प्रतीकों को अन्यापदेशिक या रूपक की तरह इस्तेमाल करने का यही ख़तरा होता है।

भाषा में नाटकीयता का पुट भी राकेश का मनपसंद कौशल है। कहना न होगा कि आज की नयी कहानी में इस तरह के तत्त्व अत्यल्प मात्रा में ही स्वीकार्य होते हैं।

दो आदमी काफ़ी देर से तल्ख ढंग से बातें करते चले जा रहे हैं। सहसा....'ट्रैफ़िक की आवाज़ से हट कर एक और आवाज़—आसमान में बादलों की गड़गड़ाहट। मैंने ऊपर की तरफ़ देखा।' (फ़ौलाद का आकाश, पृ० १२५)

नाटकीयता का मोह कभी-कभी इतना गहरा हो जाता है कि लेखक परिच्छेद, पर परिच्छेद, यों लिखता चला जाता है, जैसे नाटक के आरंभ में निर्देश दिया जा रहा हो। राकेश की मशहूर कहानी 'ज़ख्म' का आरंभ इस मोह का सर्वाधिक बदसूरत नमूना है—

'हाथ पर ख़ून का एक लोंदा....सूखे और चिपके हुए गुलाब की तरह। फ़ुटपाथ पर औंधे पीपे से गिरा गाढ़ा कोलतार....सर्दी में ठिठुरा और सहमा हुआ। एक दूसरे से चिपके पुराने कागज़....भींग कर सड़क पर बिखरे हुए। खोदी हुई नाली का मलबा....झड़ कर नाली में गिरता हुआ। बिजली के तारों से फँसा आकाश....रात के रंग में रँगता हुआ। चिकने माथे पर गाढ़ी काली भौंहे....उँगली और अँगूठे से सह-लाती जा रही। (पृ० ११३) यह कहानी का पहला परिच्छेद है। इसी शैली में चार-पाँच परिच्छेद और दिये गये हैं। वाक्यगठन की यह अदा, यानी संज्ञा पहले और कृदंतज विशेषण अंत में, इतनी कृत्रिमता पैदा करते हैं कि बहुत सी चीजों को एक में समेटने का लेखकीय उद्देश्य बिल्कुल दब जाता है। दूसरी ओर लोंदा, कोलतार, पुराने काग़ज़ के टुकड़े, आकाश और भौंहें परस्पर असंबद्ध होने के कारण न तो अर्थ में कोई सांकेतिकता ले आ पाते हैं और न तो प्रतीक ही बन पाते हैं।

भाषा संबंधी और भी बातें हैं, जिन्हें मैं निबंध लंबा होने के डर से छोड़ रहा हूँ। इतने पर भी यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि राकेश की भाषा में रँगाई बहुत ज्यादा है, सहजता और सीधापन (डायरेक्टनेस) का अभाव है। अनेक अवसरों पर अनावश्यक

और हल्की स्थितियों में बहुत बारीक बात खोजने की प्रवृत्ति भाषा को काफ़ी उलझा देती है जैसे पृ० ५३ का बंबई 'शहर और मेरिन ड्राइव की शाम से' शुरू होने वाला पैरा। यह सही है कि राकेश की भाषा में बारीक से बारीक स्थितियों को प्रकट करने की छटपटाहट सर्वत्र दिखायी पड़ती हैं, जो इस बात का सबूत है कि लेखक स्तरीय अर्थों से संतुष्ट नहीं होता और गहराई में उतरने का प्रयत्न करता है। यह प्रवृत्ति निःसंदेह संभावनाएँ जगाती है।

● ●

मुखौटा मार्क्सवादी : चेहरा "आउटसाइडर" का

[निर्मल का कथा साहित्य]

निर्मल आधुनिक कथा-साहित्य का काफ़ी चर्चित नाम है। नये लेखकों में वे शायद अकेले लेखक हैं, जिन्हें समान रूप से कवि-कथाकारों और पाठकों की भी, प्रशंसा प्राप्त है। सन्' ६० के बाद की 'नयी कविता' के अनेक कवि अपने को निकटतम पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा कहानीकार निर्मल वर्मा के साथ जोड़ना उचित समझते हैं। उनकी दो कृतियाँ हमारे सामने हैं। उपन्यास 'वे दिन' और नया कहानी-संग्रह 'जलती झाड़ी'।

'जलती झाड़ी' संग्रह की दस कहानियों में क़रीब सात कहानियाँ भाव, वस्तु और परिवेश की दृष्टि से 'वे दिन' उपन्यास की खुरचन मालूम होती हैं। 'माया-दर्पण' और 'दहलीज', 'कुत्ते की मौत' इस घेरे से बाहर प्रतीत होती हैं।

निर्मल वर्मा का पूरा कथा-साहित्य स्मृति-सर्जन का साहित्य है, अर्थात् उनकी अधिकांश कहानियाँ ओर उपन्यास भी, पिछले दिनों की स्मृतियों पर आधारित हैं। 'वे दिन' जो अब बीत गये हैं, पर एक आवाज पीछे छूट गयी है और दरवाज़े पर पड़ने वाली अनजान दस्तकें तक, 'मैं' (जो लेखक का ही एक भावात्मक समीकरण है) को बेचैन कर देती हैं। उसका दिल धड़कने लगता है और उसके कानों में अधीर, आग्रहपूर्ण, आँसुओं से भींगी एक आवाज़ गूँज उठती है—'सच बताओ, क्या तुम बिल्कुल विश्वास नहीं करते?' स्मृतियों का यह दंश लेखक की सर्जनात्मिका शक्ति का मूल प्रेरणा-स्रोत है। निर्मल ने अपने यात्रा-संस्मरण 'चीड़ों पर चाँदनी' की भूमिका में लिखा है—"अरसे के बाद अपने इन स्मृति-खंडों को दोबारा पढ़ते समय मुझे एक अजीब सा सूनापन अनुभव होता रहा है, कुछ वैसा ही रीता अनुभव, जब हम किसी ज़िंदा फड़फड़ाते पक्षी को क्षण भर पकड़ कर छोड़ देते हैं, उसकी देह हमसे अलग हो जाती है, लेकिन देर तक हथेलियों में उसकी धड़कन महसूस होती रहती है। एक दूरी का अभाव जो सफ़री सूटकेस पर विभिन्न देशों के लेब्लों पर लटका रहता है, उन्हें न रख पाने का मोह रह जाता है, न फेंक पाने की निर्ममता ही जुड़ पाती है।"

'सफ़री सूटकेस' से प्राप्त साहित्यिक तोहफ़ों पर भी अनेक देशों के लेब्ल लगे हैं। परिणामतः दस कहानियों में से क़रीब पाँच कहानियों और पूरे उपन्यास की कथाभूमि विदेशी है। "उन सूनी, कभी न खत्म होने वाली शामों में हम उन अनजाने देशों के बारे में सोचा करते थे, जो हमेशा दूसरों के लिए हैं, जहाँ हमारी पहुँच कभी नहीं होगी।

तब कभी कल्पना भी नहीं की थी कि एक दिन अचानक अपने छोटे से कमरे, ग्रामोफोन, काग़ज़-पत्रों को छोड़ कर बरसों 'सात समुद्र पार' रहना होगा।" ('चीड़ों पर चाँदनी' की भूमिका) हिंदी पाठकों में से अधिकांश के लिए ऐसी यात्राएँ आज भी अकल्पनीय ही हैं। इसीलिए उनके लिए निर्मल के कथा-साहित्य में आकर्षण दोहरा मालूम होता है। यात्रा-वर्णन और कहानी का यहाँ एकत्र सम्मिलन जो है। दोनों ही पुस्तकों के फ़्लैप पर लेखक के बारे में लिखा गया है—"इस बीच वामपंथी विचारधाराओं से अधिक प्रभावित हुए। तीन वर्ष प्राग में रह कर आधुनिक चेक साहित्य पर शोध-कार्य। यूरोप के अन्य देशों की लंबी यात्राएँ, प्राग से आइसलैंड तक।" 'चीड़ों पर चाँदनी' यात्रा-वर्णन पढ़ने वाले पाठक निर्मल के व्यक्तित्व को काफ़ी स्पष्ट ढंग से समझ भी चुके हैं। एक सैलानी युवक का व्यक्तित्व जिसने ब्रेख्त के उदास नगर को देखा है, रोती हुई मर्मेड के शहर में रातें गुज़ारी हैं, पेरिस का निष्प्राण जीवन (स्टिल लाइफ़) देखा है। ये यात्राएँ उन्होंने मात्र यात्री की तरह नहीं, बल्कि आधुनिक भावबोध से युक्त वामपंथी विचारधारा से प्रभावित एक सचेत साहित्यकार की तरह संपन्न की हैं। इसी कारण जब वे जर्मनी से गुज़रते हैं तो उनकी मानसिक आँखों के आगे एक मृत पीढ़ी का अतीत कौंधता है, और उन्हें लगता है कि जो समय सबके लिए बीत गया है, वह उनके लिए अभी तक जीवित है प्रतीक्षारत, और जब तक उसे अन्य प्राणियों की तरह वे भोग नहीं लेते, वह 'उनसे' छूटेगा नहीं।" (चीड़ों पर चाँदनी', पृ० ७) शीतयुद्ध, विसंयोधी शिविर और ब्रेख्त जैसे लेखक का विरोधाभास, नाइट-क्लबों, चंडूखानों, शराबखानों, सिनेमा-हाउसों, गलियों, सड़कों में सर्वत्र-सर्वदा एक अनजाना 'भय' और 'आतंक' उनकी आत्मा में 'वनैले जानवर की तरह फुफकार' उठता है। टूरिस्ट बस के जर्मन मार्गदर्शक से वे उलझ पड़ते हैं और उसके अहमक़पने पर सोचते हैं—"कौन सी सीमा पर जाकर कम्यु-निज़्म का विरोध फ़ासिज्म का चेहरा अपना लेता है, मुझे नहीं मालूम।" ('चीड़ों पर चाँदनी', पृ० २१) उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय युवक-समारोहों में भाग लिया है और एलिस की आँखों में डैन्यूब का नीला रंग देखा है।

निर्मल वर्मा के इस व्यक्तित्व से परिचित होने के कारण जब मैंने 'वे दिन' उपन्यास के फ्लैप पर पढ़ा कि हर पात्र का अपना अतीत है, जो योरप की युद्धोत्तर पीढ़ी की अभिशप्त छाया से जुड़ा है और उपन्यास के विभिन्न पात्रों को जोड़नेवाली एक रहस्यमय नियति भी है, जो छोटी से छोटी घटना को अर्थवत्ता प्रदान करती है, तो मुझे सहज ही विश्वास हुआ कि युद्धोत्तर योरप के जीवन का एक सीधा संवेदनात्मक परिचय तो मिलेगा ही, साथ ही उस 'रहस्यमय नियति' के बारे में भी कुछ स्पष्ट अवबोध होगा, जिसका ज़िक्र निर्मल वर्मा की हर कहानी, यात्रा-वर्णन या रेखाचित्र में होता रहता है।

'वे दिन' का वाचक 'मैं' (जिसे कामू के शब्दों को उधार ले कर कह सकता हूँ कि निर्मल वर्मा हैं और नहीं भी हैं। हैं इसलिए कि वह उनके खून-मांस का ही समी-

करण है और नहीं है इसलिए कि वह कोई भी यूरोप-प्रवासी भारतीय हो सकता है), एक दिन टूरिस्ट एजेंसी में बुलाया जाता है, जहाँ उसका मुख्य अधिकारी उसे आस्ट्रिया से आये कुछ जर्मन यात्रियों के लिए, जो थोड़ी अंग्रेजी भी जानते हैं, एक दुभाषिये की आवश्यकता बता कर उसे यह काम सौंपना चाहता है। स्पष्ट ही इस हिंदुस्तानी विद्यार्थी को यह काम एक छोटी आर्थिक सहायता के रूप में वह देना चाहता है। कुछ अग्रिम पैसे भी मिलते हैं। उस रात वह 'पेलिकान' में देर तक बैठा रहा। वोद्का पी।' छात्रावास के चौकीदार पीटर को देर से आने की खीझ से बचने के लिए तीन क्राउन दिये। पीटर ने दो पत्र दिये, एक बहन का, जिसे देख कर उसकी उत्सुकता मर गयी। थानथुन, बर्मी छात्र जिसे टी० टी० कहा जाता है, फ्रांज़ पेटर और उसकी 'लड़की' यानी 'गर्ल फ्रेंड' मारिया—ये तीन पात्र और हैं, जो इस उपन्यास में गाहे-बेगाहे आते रहते हैं—मुख्य कथा होटल 'योरुपा' की दूसरी मंजिल क० न० ११, में अपने लघुवयस पुत्र मीता के साथ ठहरी रायना रैमान और कथा-'वाचक' 'मैं' के साथ चलती रहती है। कथा कुल ढाई दिन की है। 'मैं रायना को प्राग घुमाता है, वहाँ के सभी दर्शनीय स्थान और चीज़ें दिखलाता है। बीच-बीच में फ़ुर्सत पा कर वह अपने तीनों मित्रों की खोज-खबर भी लेता रहता है। • 'मारिया को अंग्रेजी नहीं आती थी, फ्रांज को चेक। मुझे और टी० टी० को जर्मन। और कभी-कभी हम जल्दी में बोलते हुए लड़बड़ा जाते थे कि किसके साथ हमें किस भाषा में बोलना चाहिए।' फ्रांज प्राग से बाहर जाने के लिए अनुवेश-पत्र चाहता है। फ्रांज जर्मन है। मारिया उसके साथ तभी जा सकती है, जब वह उसकी पत्नी हो। पर फ्रांज अनुवेश-पत्र के लिए नहीं, अपनी इच्छा और अवसर पर ही मारिया से विवाह कर सकता था। मारिया भी यह जानती है, फ्रांज और टी० टी० तथा 'मैं' भी। इसलिए कोई कुछ कर नहीं सकता।

रायना पहले भी प्राग आ चुकी है, पर सब कुछ भूल गयी है। उस दो ही चीज़ें याद हैं, कासल के पास का 'सेंट वाइट्स' और यहूदियों का पुराना क़ब्रिस्तान। सेंट वाइट्स इसलिए याद है कि रायना अपने पति जाक के साथ वहाँ तब रुकी थी, जब वे 'गाथिक' स्थापत्य पर किताब लिख रहे थे। अब जॉक से उसका संबंध टूट चुका है। मीता को पति-पत्नी बाँट लेते हैं, कभी वह माँ के साथ रहता है, कभी बाप के साथ। रायना को कहीं बँध कर एक शहर में रहना पसंद नहीं। यहूदी क़ब्रिस्तान इसलिए याद है कि वह नाज़ी अत्याचारियों की हल्की याद दिला जाता है।

प्राग की गलियाँ, पतझड़ के दृश्य, क्रिसमस की ख़ुशी और इन सभी को लपेट लेने वाले दृश्यों के बीच एक खूबसूरत सैलानी औरत की ज़िंदगी जीने की अथक तमन्ना, कोन्याक, वोद्का, शेरी, चियांती तथा बियर के दौर, नाच, रातें, शाम, कुहरा, चाँदनी और''''मैं''''कहता गया—'मेरे होंठ इस बार उसके मुँह पर आये आधे वाक्य पर जम

गये। उसका मुँह निर्वाक सा उठा रहा, कुछ देर तक मैं सांस नहीं ले सका····मीता आता होगा।' उसने कहा।

"मैं कुछ देर पहले रोमांटिक मूड में दूरस्थ नदी की आवाज़ का बखान कर रहा था, तो वह उसका मज़ाक उड़ा रही थी और अब ख़ुद बहुत प्यासी थी, तो उसने शरारत से मुस्कराते हुए कहा—'सुनो वह वहाँ है, कौन ? वह नदी, डार्क एंड डीप।'

और फिर दूसरे दिन रात को रायना मीता को अकेला छोड़ कर जैसा वह अक्सर करती थी, 'मैं' के साथ छात्रावास आयी। छात्रावास के उस कमरे में वह काफ़ी खुल सी गयी। उसने जॉक से अपने अलगाव का कारण बतया—उसे लगता कि जॉक के साथ घर में रहना कान्सन्ट्रेशन कैंप में रहने की तरह है····इसलिए वह उससे बाहर आ गयी।

और उस कमरे में उस रात दोनों ही सहसा अकेले हो गये थे। अकेलापन जो दुख, पीड़ा और आँसुओं से बाहर है, जो महज जीने के नंगे बनैले आतंक से जुड़ा है—जिसे कोई दूसरा व्यक्ति निचोड़ कर बहा नहीं सकता।

"उस अज्ञात ने मुझे आतंकित कर दिया, किन्तु कुछ देर के लिए, फिर वह भय मर गया और अँधेरे में उसकी जगह चमकते मोती की तरह उग आयी एक मर्मान्तिक चाह। उसने हम दोनों को अपने में घसीट लिया।····और तब हमें लगा कि हम चाह से परे चले गये हैं, उसके पार जाकर एक दूसरे में लौट आये हैं, एक दूसरे के अलगाव को भेदते हुए, फिर मुझे कुछ सुनायी न दिया।····डूबने के पहले एक पल, स्मृति-सुख, पीड़ा, संयम जो हमने संग भोगा था, और जिसे आने वाले दिनों में अकेले भोगना था, सबको उतार कर हमने पलंग के पैताने रख दिया था, अपने-अपने कपड़ों के संग।"

इन सभी आतंक और भय, और चाह के दृश्यों की पीठिका में एक प्रश्न भी उठा। रायना कहती हैं, "क्या तुम्हें बुरा लगा। यह शायद अनैतिक है, मैं नहीं चाहती थी कि यह तुम्हारे साथ हो, तुम्हें पछतावा तो नहीं। मैं नहीं चाहती कि एक दूसरे को बाद में पछतावा हो। दैन इट इज़ मिज़री।" उत्सुकतावश 'मैं' पूछता है कि "क्या तुम्हारे संग अक्सर ऐसा होता है····दूसरे शहरों में ?" और वह निःसंकोच बोली, "हाँ, होता है, मैं ज़्यादा दिन अकेले नहीं रह सकती।"

यह है 'वे दिन' की संक्षिप्त 'पिकनिक प्रेम-कथा', जो विशिष्ट स्थलों, विशिष्ट स्मृतियों और विशिष्ट स्थितियों के कारण सहज ही आकर्षक लगती है। इसे लेखक 'रोमन हॉलीडे' के मूड में क़ाफ़ी रस ले कर धीरे-धीरे अनावृत करता गया है। पूरी कथा में, बीच-बीच में, युद्ध और विसंयोधी शिविर जैसे दो-एक शब्द बीजमंत्र की तरह ज़रूर आये हैं, पर पूरी कथा को युद्धोत्तर योरप की अभिशप्त पीढ़ी की छाया से जोड़ने का कोई ठोस आधार कहीं दिखायी नहीं पड़ता। फ्रांज़, मारिया के चरित के भीतर भी युद्ध का आतंक और वैयक्तिक संबंधों को तोड़ने की उसकी निर्ममता अभिव्यक्त नहीं हो सकी है।

मैंने शुरू में कहा था कि 'जलती झाड़ी' संग्रह की कम से कम पाँच कहानियाँ भी इसी भाव-भूमि से संबद्ध हैं। मीता अपनी माँ की ज़िंदगी का जो भी अर्थ समझता रहा हो, इतना सधा हुआ वह ज़रूर है कि उसकी इच्छाओं की पूर्ति में वह कहीं भी बाधक नहीं बनता। मीता का चरित्र जैसे 'अंतर' और 'पहाड़' कहानी की समस्या का ही विवश समाधान है। 'अंतर' कहानी के 'मैं' को 'उसके' साथ बाहर सोने की आदत पड़ गयी थी, होटल की जो बचत होती थी, उसे वे बियर पर ख़र्च कर देते थे। शुरू में उसे 'डर' लगा था, और आज वह अस्पताल के प्रसव-कक्ष में पड़ी है। 'मैं' उससे मिलने जाता है, अपने डफल बैग में, आड़ू और अनानास के टिन, पनीर, सलामी, तथा लीपा सिगरेट के पैकेट भर कर। वह बड़ी ख़ुश थी, उसने उसका हाथ चादर के नीचे अपने पेट पर खींच कर कहा था, "अब मुझे बड़ा हल्का सा लग रहा है, डॉक्टर ने कहा कि एक महीना पहले आ जाती तो इतनी कमज़ोरी नहीं होती। अब हम कभी भी जा सकते हैं, अब कोई झंझट नहीं।" जाते वक़्त उसने 'मैं' को पकड़ कर उसका चेहरा अपने वक्ष-स्थल से लगा लिया था, पर वह चला गया तो उसने उसकी लायी चीज़ों को क़रीने से लपेटा और बाहर अँधेरे में फेंक दिया। 'पहाड़' कहानी के नव दम्पति बच्चे को लेकर सुहाग रात की स्मृतियों को ताज़ी करने पहाड़ आये हैं। पहाड़ के बारे में माता-पिता से अक्सर चर्चा सुन कर बच्चा जिज्ञासा करता रहता था कि क्या हम पहाड़ जायँगे। और वे पहाड़ आये। बच्चे को सोता देख जब पति ने पत्नी के कंधों पर हाथ रख दिया तो वह सिहर उठी और उदास होकर बोली—"हमें इसे यहाँ नहीं लाना था।" कथा-वाचक को सुखी दम्पति देखने में अच्छे लगते हैं और कहीं वे एक दूसरे को चाहते भी हों, तब तो चमत्कार ही लगता है।

यह एक समस्या है और शायद बहुत महत्त्वपूर्ण भी है, पर इसका मुख्य कारण 'जलती झाड़ी' है, जहाँ उत्तरदायित्वहीन अपरिचित जोड़े मिलते हैं, और एक धधकती सी गरमाहट झाड़ी के बाहर निकलती रहती है, बीच की हवा को छीलती, मंत्रमुग्ध साँप की तरह बल खाती हुई। और एक आमंत्रण के वशीभूत होकर जब अनाम नायक ख़ुद झाड़ी की ओर बढ़ता है तो ठहर जाता है सोचता हुआ कि—'ज़िंदगी में जवाबदेही का लमहा एकदम किस तरह आ जाता है, जब हम उसकी बहुत कम प्रतीक्षा कर रहे होते हैं।' उस रात 'मैं' ने आत्महत्या नहीं की, यद्यपि वह यदि कोशिश करता तो शायद कर सकता था। जवाबदेही की यह भावना, जो उसे आत्महत्या करने यानी पतन से रोकती है, वही भावना 'अंतर' कहानी और 'पहाड़' की समस्याओं का समाधान भी बन सकती थी, जब कि समाधान मीता जैसे निरपराध शिशु पर माँ की ज़िंदगी में अव-रोध न बनने की भारी जवाबदेही लाद कर उपस्थित किया गया है।

'वे दिन' उपन्यास के बारे में 'जवाबदेही' का प्रश्न उठाना लेखक के साथ अन्याय होगा। पूरा उपन्यास जैसे उस सैलानी औरत के साथ 'मैं' के शारीरिक संपर्क के उद्देश्य

की पूर्ति के लिए नियोजित प्रतीत होता है। और यह सही है कि शारीरिक संपर्क की सुखद स्मृतियाँ भी टीस जगाती हैं, किंतु हर शहर में किसी भी व्यक्ति के साथ संबंध करने की इच्छुक रायना की जुदाई पर 'मैं' की कातरता के प्रति सहानुभूति का भाव काफ़ी सस्ता ही लगेगा। इस उपन्यास में सभी चरित्र चाहे वह 'मैं' हो, चाहे वर्मी विद्यार्थी टी० टी०, चाहे जर्मन फ्रांज़ या फिर मीता और रायना, विदेशी हैं, प्राग की धरती से असंपृक्त, आरोपित। उस धरती से संपृक्त और उसके परिवेश से प्रसूत सिर्फ़ दो ही चरित्र हैं, छात्रावास का चौकीदार पीटर और मारिया। कहना न होगा कि दोनों ही 'अप्रधान चरित्र' हैं; किंतु सत्य यह है कि सिर्फ़ ये दो ही वास्तविक चरित्र प्रतीत होते हैं। बाक़ी चरित्र लेखक की आकांक्षाओं और प्रयोगों की कठपुतली जैसे हैं, जीवन के ठोस यथार्थ से कटे हुए। रायना और 'मैं' की मिथुन-लीला के उद्‌घाटन की अपेक्षा पीटर और मारिया के चरित्रों के विश्लेषण में युद्धोत्तर योरप की ज़िंदगी के सही बीज-बिंदुओं की प्राप्ति की संभावना कहीं ज़्यादा थी।

वामपंथी विचारधारा से प्रभावित निर्मल वर्मा के 'परिंदे' संग्रह की, प्रगतिशील प्रतिबद्ध आलोचक डॉ० नामवर सिंह ने समीक्षा करते हुए लिखा था—'निर्मल की अधिकांश कहानियाँ अतीत की स्मृति हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक आवेग की भावुकता को कम करने के लिए ही निर्मल समय का इतना अंतराल दे देते हैं।' भावुकता के बारे में डॉ० नामवर सिंह इस दिलबस्तगी के बाद भी जैसे आश्वस्त न हुए और इसी कारण उन्होंने शंका की है : 'चूँकि भावुक व्यक्ति किसी भी प्रभाव से भावुक हो सकते हैं, लेकिन इसका निर्णय कैसे हो कि भावुकता निर्मल की कहानियों में है या पाठकों में।' (कृति, अक्तूबर १९६०, पृ० ६०)। मेरा ख्याल है कि यहाँ प्रश्न को बिल्कुल ग़लत कोण से उठाया गया है। भावुकता पाठक में होती है या लेखक में, इसके निर्णय का काम वैसा ही उलझा हुआ है, जैसे रसस्थिति के आधार का निर्णय कि वह सामाजिक में होती है या अभिनेता में अथवा लेखक में। निर्मल की कहानियों की विशेषताएँ बताते हुए नामवर सिंह ने लिखा है कि निर्मल ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की है; उन्होंने तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण किया है।....शब्द की अभेद्य दीवार को लाँघ कर शब्द के पहले के 'मौन जगत्' में प्रवेश करने का भी प्रयत्न किया है और वहाँ जा कर प्रत्यक्ष इंद्रियबोध के द्वारा वस्तुओं के मूल रूप को पकड़ने का साहस दिखाया है।' (वही, पृ० ६५-६६)। प्रश्न है कि क्या निर्मल ने सामाजिक संघर्ष, स्वतंत्रता, न्याय, उत्तरदायित्व, मूल्यों और मानवतावादी नियति से कतराने की कोशिश नहीं की है ? क्या उनकी रचनाएँ वामपंथी विचारधाराओं के प्रति उनकी प्रतिबद्धता का मखौल नहीं उड़ातीं ? क्या उन्होंने यथार्थ, वस्तु और वास्तविकता का अतिक्रमण नहीं किया है और वे ठोस से अमूर्त की दिशा में बह नहीं गये हैं ?

यहीं पर मुझे गोर्की का एक लेख याद आता है, शीर्षक है 'बर्लें और दूसरे ह्रास-

शील लेखक ।' उस लेख में क्षयिष्णु प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए गोर्की ने लिखा था—"इसी परिवेश में शराब से अर्धविक्षिप्त और अर्धरुग्ण अवस्था में उसने (वर्लें ने) सभ्य, कोमल और मृदु आवाज़ में अपनी अजीब प्रतीतियों को अभिव्यक्ति दी थी ।....वे 'आइसिस' के मंदिर में, मृत्यु के द्वार पर प्रार्थना करते रहे ताकि वे अस्तित्व के शाश्वत विरोधाभासों और मृत्यु के आमने-सामने खड़े होकर एक रहस्यवादी आतंक (मिस्टिकल टेरर) का अनुभव कर सकें । उनकी आत्मा में एक ऐसी 'चाह' थी जिसके कारण वे अँधेरे में ही घूर-घूर कर देखते रहे, कुछ टटोलते रहे, जिसके भीतर से बड़ा से बड़ा प्रतिभाशाली भी कोई ठोस और स्पष्ट सत्य कभी बाहर नहीं ला सकता । यह 'चाह' उनके भीतर जीवन की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं और उस स्तर में प्रवेश करती हैं जो बुद्धि और तर्क के लिए पूर्णतः निषिद्ध होते हैं, ऐसे स्तर जो मात्र भावुक हृदय से ही समझे जा सकते हैं ।" (लिटरेचर एंड लाइफ़, लंदन १९४६, पृ० ११०-१११) मौन जगत्, अँधेरा, चाह, अतिक्रमण रहस्यवादी आतंक, भावुकता और बौद्धिकता ? आश्चर्य है कि निर्मल और बर्लें के बारे में नामवर सिंह और गोर्की के विश्लेषण में कितनी अद्भुत समानता है । वर्लें की इन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बाद गोर्की का निष्कर्ष था कि "यह तमाम स्नायु-दौर्बल्य से पीड़ित लिबलिबा, आत्मकेंद्रित साहित्य धीरे-धीरे अदृश्य रूप से जनता के रक्त में प्रविष्ट होता रहा, और समाज, इस बीमारी से जिसे उसकी संततियों (वर्लें और मेटरलिंक आदि) ने अपने भीतर पाला-पोसा था तब तक संक्रमित होता रहा, जब तक वह ज़हर अदृश्य ध्वंस की समूची शक्ति के साथ पूरी तरह जज़्ब नहीं हो गया ।" (पृ० ११०) ।

यथार्थ और वामपंथी विचारधारा के प्रति किसे प्रामाणिक मानें, गोर्की को या नामवर सिंह को, इस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वामपंथी विचारधाराओं के प्रति प्रतिबद्धता का प्रश्न उठाना क्या ज़रूरी है ? यह प्रश्न कई दृष्टियों से साहित्येतर कहा जा सकता है । मैं खुद यह प्रश्न उठाने की हिमाक़त न करता, यदि निर्मल वर्मा ने 'प्रतिबद्धता' की बात न की होती । 'धर्मयुग' के 'कथा-दशक' में साहित्यकार के बहीखाते के अंतर्गत निर्मल वर्मा ने प्रतिबद्धता की घोषणा की, यही नहीं उन्होंने एक क़दम और आगे बढ़ कर कहा कि "जिन साहित्यकारों के सामने कम्युनिज़्म और फ़ासिज़्म का कोई अर्थ नहीं होता, उनके लिए साहित्य का क्या अर्थ हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता ।" उनका एक उद्धरण मैं पहले ही दे चुका हूँ, जिसमें उन्होंने साम्यवाद के विरोध को अधिनायकवाद के समानांतर कहा है । स्पष्ट ही इस प्रकार की आस्था वाले सचेत लेखक से जीवन की प्रामाणिकता और वास्तविकता के ठोस आधार की माँग करना ज़्यादती नहीं है ।

यह सही है कि राजनीति और साहित्य, प्रतिबद्धता और सर्जन, विचार और कृति

के बीच उनके स्पष्ट सम्बन्धों को अलगाने वाली कोई सीधी रेखा खींच सकना बहुत कठिन होता है। और यदि एक ही लेखक में इस प्रकार का प्रत्यवाय दिखायी पड़े तो उसे साहित्य-निर्णय का आधार बना लेना बहुत ज़रूरी भी नहीं। निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य को, जो वह है, उसी के आधार पर मैं निर्णीत करने के पक्ष में हूँ, उस विचार-धारा के आधार पर नहीं, जिसके प्रतिबद्धतानुकूल वह होना चाहिए। इसलिए, यदि मैं अप्रैल १९६५ के 'एनकाउंटर' में प्रकाशित 'लूकाच ऑन थॉमस मान' की समीक्षा के शीर्षक को थोड़ा बदल कर कहूँ कि निर्मल के कथा-साहित्य का उपयुक्त शीर्षक होगा— "मुखौटा मार्क्सवादी और चेहरा एक रूमानी 'बाहरी आदमी (आउटसाइडर) का" तो, इसे वस्तु-स्थिति का सही अवबोध ही माना जाय, लेखक के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं। क्योंकि मुखौटा के भीतर जो चेहरा है, वही सच्चा है, इसलिए ही प्रीतिकर भी।

मैं अपने इस कथन के रूप में विवेच्य कहानियों और उपन्यास की एक भिन्न दृष्टि से व्याख्या करना चाहूँगा। स्मृतियों का मोह या पुनरावर्तन रूमानी लेखक की सबसे बड़ी प्रवृत्ति होती है। वह काल्पनिक भविष्य के प्रति उतना ही आग्रहशील होता है, जितना दूर या निकट के अतीत के प्रति। यह ध्यान रखना चाहिए कि रोमांटिसिज़्म मूलतः एक उन्नयनकारी प्रवृत्ति है। और उसके इस रूप का न तो मार्क्सवाद से विरोध है और न तो यथार्थवाद से ही। किन्तु जब रोमांटिसिज़्म आउटसाइडर के दर्शन और अस्तित्व-वाद' से समझौता करता है तो न केवल कभी-कभी एक बेढंगा रूप लेता है, बल्कि अक्सर विकृति की हद तक छूने लगता है। निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य के इस अनाम 'मैं' की सबसे बड़ी भूख है 'काम'। वह एक प्रकार से हेनरी बारबूस के 'ल' एनफ़र, उपन्यास के अनाम आउटसाइडर 'मैं' की तरह सिर्फ़ एक भावना से प्रेरित है, औरत और शराब। बारबूस का अनाम नायक दरवाज़े के तालिका-छिद्र (की-होल) से नंगी औरत और संभोग के दृश्यों को देख कर स्नावयिक उत्तेजना का शिकार होता है। 'लवर्स', 'पराये शहर में', 'अन्तर आदि कहानियों के पीछे यही प्रवृत्ति है। जलती झाड़ी इस प्रवृत्ति का प्रमाणिक दस्तावेज है, जहाँ झाड़ियों के भीतर 'काम' की 'ज्वाला' जलती है और उससे सिर्फ़ तीन गज़ दूर बैठा निर्मल का नायक मंत्रमुग्ध देखता रहता है। किन्तु ये सभी चीज़ें उसे तृप्त या शांत नहीं करतीं। वह 'आउटसाइडर' इसलिए है कि कहीं भी चैन नहीं पाता। निरंतर मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता रहता है। 'काम' के प्रति उसकी रुझान एक चेतन व्यक्ति की रुझान है, इसी कारण वह हमेशा 'उसे 'नास्तिभाव' में डुबाती रहती है।

योरोपीय 'आउटसाइडर' से निर्मल वर्मा के 'आउटसाइडर' में एक बहुत बड़ा अंतर भी है। योरोपीय 'आउटसाइडर' 'भीतर' (इनसाइड) रह कर 'आउटसाइडर' बनता है; सच्चे आउटसाइडर की यही पहचान भी है, जब कि निर्मल वर्मा का 'आउटसाइडर' अभिधार्थक 'आउटसाइडर' है। कहने का अर्थ यह कि प्रवास में हर व्यक्ति अपने आप

'आउटसाइडर' हो जाता है, यह सहज स्वाभाविक है, परिस्थितिजन्य विवशता नहीं। यानी यहाँ पर 'आउटसाइडर' भी आरोपित है। 'पराये शहर में' अजनबी होना कोई खास बात नहीं। लेखक खुद कहता है—"अनजाने शहरों में कभी-कभी आत्मीयता की भूख कितनी उत्कट हो जाती है।" (जलती झाड़ी पृ० ८१) न तो इस अनाम 'मैं' को अपने देश से कोई लगाव है, न तो विदेश में वह खप पाता है। वह 'इंडिया' शब्द को सुन कर कहता है : "क्या कभी इसे पहचान पाऊँगा। इस जिंदगी में क्या कभी इस शब्द के मेरे लिए कोई मानी रहे हैं, ऐसे मानी जो भ्रमों और पूर्वग्रहों से अलग सिर्फ़ मेरे लिए हों, जिन्हें मैंने खोजा हो...." ('जलती झाड़ी', पृष्ठ० ४९)।

इंडिया के लिए जब कोई मानी नहीं, जो अपना था, तो फिर योरप के लिए क्या मानी हो सकते हैं, जो पराया है। होटल के तंग सीलनभरे अकेले कमरे में वह जो योरप का अर्थ जोड़ पाया है—'वह है टेरर ऑफ़ एनलाइटेनमेंट'। ('जलती झाड़ी', पृ० ५२)।

जो न देश के हैं, न विदेश के, वे अपने भी कहाँ हो पाते हैं। परिणामत: 'आउटसाइडर' की यह प्रवृत्ति उसे अपने शरीर से भी बाहर कर देती है—'वे दिन' का अनाम नायक अपनी नंगी देह को छू कर कहता है—"पहले क्षण कभी विश्वास नहीं होता कि यह मेरी ही देह है। मैं उन्हें छूता हूँ। मुझे तब अपनी ही छुवन अपनी देह से अलग जान पड़ती है, जैसे मेरी देह के कुछ अंग खुली रोशनी में दूसरे अंगों को प्यार कर रहे हैं, और मैं उनके बाहर महज़ एक दर्शक हूँ।" ('वे दिन', पृ० १२७)। यह अंश पढ़ते-पढ़ते अचानक मुझे लारेंस के 'सेवन पिलर्स ऑफ़ विज़डम' की ये पंक्तियाँ याद आती हैं—"और मैंने अपने को अलग हिस्सों में बँटा हुआ पाया। मेरा शरीर मुझसे अलग था और मेरी कुछ न सुनता था। मेरी विभक्त आत्माएँ कुछ कहती न थीं और मैं दृढ़ता से कुछ करने की स्थिति में न था।"....(पृ० ४६१)। अंतर यह जरूर है कि लारेंस का यह अनुभव वेदना की पराकाष्ठा में उत्पन्न हुआ था और 'वे दिन' के अनाम नायक में प्रेमिका से मिलते जाते वक़्त। कहने का अर्थ सिर्फ़ इतना है कि शरीर से भी अलग हो कर 'आउटसाइडर' एक तटस्थ द्रष्टा बन जाता है। ऐसे प्रसंग देशी-विदेशी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में एकाधिक बार आये हैं।

इस प्रकार 'वे दिन' का अनाम भारतीय प्रवासी देश-विदेश, सबसे कट कर अंतत: अपनी विचित्र धारणाओं की आत्मनिर्मित खोल में दुबक जाता है।

अब ज़रा हम इस 'आतंक' पर विचार करें। इस शब्द का प्रयोग गोर्की के उद्धरण में ऊपर आ चुका है। इसे उन्होंने 'मिस्टिकल टेरर' यानी' रहस्यवादी आतंक' कहा है और इसकी कदर्थना की है। निर्मल वर्मा ने 'आतंक' के साथ 'रहस्यवादी नियति' का प्रयोग किया है। यह 'आतंक' और 'नियति' पारिभाषिक शब्द के रूप में, खास संदर्भों में, अस्तित्ववादी साहित्य में बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। संकट, भय, आतंक, वेदना आदि का

वहाँ एक खास अभिप्राय होता है। वास्तविक अस्तित्व का उन्मीलन इन्हीं पर आधारित बताया गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध की निर्ममता इन शब्दों को एक खास अर्थ देती है। हेडगर, सार्त्र, काफ़्का और दास्तोवस्की के साहित्य में 'आतंक' शब्द अलग-अलग अभिप्रायों में प्रयुक्त हुए हैं। अपने को नाना रूपों में छिपाने का प्रयत्न भय से प्रेरित होता है। हेडगर का कहना है कि—'भय या त्रास का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि वह किसी भी वस्तु के साथ कार्य-कारण रूप में संबद्ध नहीं किया जा सकता। वह जितनी भी कोशिश की जाय, पकड़ में नहीं आता। हाथ से छूट जाता है।"

'वे दिन' का अनाम नायक कहता है—"इट इज नथिंग। तुम बार-बार अपने से कहते हो कि लगता है, तुम डर गये हो, यह कुछ नहीं है। डर कभी इतना हास्यास्पद नहीं होता। होता नहीं। वह है, फिर नहीं है। जलती-बुझती बत्ती-सा।" ('वे दिन', पृ० १६२) इसका ठीक से पकड़ में न आना ही रहस्यवादिता है।

भय का त्रास से आतंक या 'टेरर' भिन्न होता है। वार्दिएफ़ ने दोनों का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'भय या त्रास अन्त:जगत के खतरे का द्योतक है, आतंक उग्र वेदना का संवेग है जो मनुष्य के अन्तर्बाह्य दोनों को झिझोड़ कर रख देता है।' दास्तोवस्की इसी आतंक का साहित्यकार था। 'वे दिन' उपन्यास में इस आतंक या भय का जिन स्थितियों में वर्णन किया गया है, उसका सही विश्लेषण उनकी वास्तविकता स्पष्ट कर सकता है।

उस अज्ञात ने मुझे आतंकित सा कर दिया। ('वे दिन', पृ० २०८) क्या है यह अज्ञात? यह 'अज्ञात' का बोध रायना जैसी अपरिचित नारी के साथ प्रथम शारीरिक संपर्क के समय उत्पन्न हुआ। यह 'अज्ञात' काम से संबंधित है, जो बाद में मर कर 'चाह' में बदल गया था। 'लवर्स' कहानी में भी यह आकांक्षा और भय दिखायी पड़ते हैं—'उस शाम एक धुँधली सी आकांक्षा आयी थी और मैं डर गया था। लगता है, आज वह डर हम दोनों को है। गेंद की तरह कभी उसके पास जाता है, कभी मेरे पास। वह अपनी घबराहट को दबाने का प्रयत्न कर रही है, जिसे मैं नहीं देख रहा।" ('जलती झाड़ी', पृ० १५)। यह डर प्रेम की या काम की सफलता-असफलता से संबद्ध होने के कारण मानसिक प्रतीत होता है, आंतरिक या अशरीरी नहीं, जैसा वह काफ़्का में था। मैं काम से संबंधित ऐसे 'आतंक' को वास्तविक आतंक नहीं मान पाता। यदि इसे आतंक मान लिया जायगा, तो रीतिकालीन साहित्य में वर्णित नवोढ़ा के प्रथम समागम के समय उत्पन्न घबराहट और भय को भी 'आतंक' कहने में संकोच नहीं होना चाहिए। सच तो यह है कि 'वे दिन' उपन्यास का सारा 'आतंक' किताबी आतंक है, वह हमें एक क्षण के लिए भी अपने असलीपन से आश्वस्त नहीं कर पाता। अगली कहानी 'सिर्फ़ अँधेरे में चीख' बनकर रह जायगी, यह निर्मल ने कहा था। पता नहीं नयी कहानी को वे किस आतंक से जोड़ना चाहते हैं।

आतंक का वास्तविक रूप सिर्फ़ एक नयी कहानी में मिलता है, और वह कुछ दूसरी तरह की त्रुटियों के बावजूद निर्मल वर्मा की सफल और श्रेष्ठ कृति कही जा सकती हैं। कहानी है 'लंदन की एक रात'। इस कहानी का 'आतंक' वाक़ई अदृश्य नियति से प्रेरित है, जहाँ अबोध निरपराध इन्सान बलात् अपराधी बना दिया जाता है। यह व्यक्ति-व्यक्ति का आतंक होकर भी समूची मानव-नियति का 'आतंक' बन जाता है। 'लंदन की एक रात' का आतंक सच्चा है, क्योंकि वह वर्ण-विद्वेष के अमानवीय रूप से जुड़ा हुआ है। यह जोड़ या संबंध अरूप है, कहीं इसकी चर्चा नहीं है, क्योंकि 'आतंक' कभी भी स्पष्ट कारणों से जोड़ा नहीं जा सकता। बावजूद इसके इस 'आतंक' में आत्मा और शरीर को झिझोड़ देने की पूरी शक्ति है। यह अदृश्य आतंक पहली बार स्थूल रूप में सामने आया है।

"मुझे कुछ याद नहीं, सच पूछो तो मुझे यह नहीं मालूम कि मैं स्वयं चिल्लाया था या कोई बाहर की चीख मुझे सहसा झिंझोड़ गयी थी। मुझे सिर्फ़ इतना भर लगा कि मेरी साँस, एक अंधे चिमगादड़ की तरह मेरी छाती की दीवार से टकराती हुई बेतहाशा फड़फड़ाने लगी थी।....और अब वह ठोस था और सीमित था, उतना ही बड़ा जितना मैं हूँ। हम दोनों अँधेरे में बहशी जानवरों की तरह साँसें ले रहे थे। ('जलती झाड़ी' पृ० १३४–३५)।

यहाँ पर त्रास साकार हो गया और उसी के साथ 'मैं' का अस्तित्व उन्मीलित हो उठा। भय का अस्तित्व कभी भी कहीं से आकर कहीं जुड़ जाता है। 'यह भय उतना ही बड़ा है जितना मैं हूँ।' यह भी अस्तित्ववादी मुहावरा है। सार्त्र ने लिखा है—"यदि कोई मुझसे पूछे कि यह क्या है तो मैं पूरी ईमानदारी के साथ कहूँगा कि यह कुछ नहीं, एक रिक्त रूपाकार है, जो बाहर से आकर पदार्थों में इस तरह जुड़ जाता है कि उनके आकार और गुण में कोई अन्तर नहीं आता।" (नासिया, एक्वेंतिन) भय को सार्त्र ने भयानक जन्तु (मांस्टर) की तरह भाराक्रांत करने वाला बोध कहा है। निर्मल की कहानियों और उपन्यास में इसे बार-बार 'बनैला आतंक' 'भुतैला आतंक कहा गया है।

अस्तित्वबाद से जुड़ा एक और प्रश्न रहा है, जिसकी उस साहित्य में बार-बार चर्चा होती रही है, वह प्रश्न है मृत्यु का। निर्मल ने भी मौत, आत्महत्या आदि पर विचार किया है। 'कुत्ते की मौत' कहानी इस प्रश्न की ओर संकेत करती है। मुझे प्रसन्नता है कि मौत के प्रश्न पर निर्मल कहीं भी "मारविड" नहीं दिखायी पड़ते। कारण उनके अंदर की खुद की जिजीविषा हो सकती है। उन्हें अपनी ज़िंदगी से और सामान्य ज़िंदगी से भी मोह है, इसी कारण मौत के बारे में वे मानवीय संवेदना को झटक नहीं पाते। उन्होंने अपने यात्रा-वर्णन 'चीड़ों पर चाँदनी' की भूमिका में लिखा है—"घोर निराशा और दैन्य के क्षणों में भी यह ख़्याल कि मैं इस दुनिया में जीवित हूँ, हवा में

साँस ले रहा हूँ, हमेशा एक मायावी चमत्कार सा जान पड़ता है ।" ऐसे ही मायावी चमत्कार को देख कर 'कुत्ते की मौत' कहानी में डॉक्टर कहता है—"बहुत कम लोग बच पाते हैं, आपके फ़ादर बहुत भाग्यशाली हैं, जो वापस लौट आये हैं ।" ('जलती झाड़ी,' पृ० ६२) । निर्मल में जिंदगी के प्रति एक मोह है, जो सुंदर है । मुझे आश्चर्य इस बात पर जरूर है कि 'दैन्य' जिसे लेखक ने कभी सहज रूप के स्वीकार किया था, अब इन कहानियों और उपन्यास में कहीं भी उसे बेचैन नहीं करता । 'परिंदे' संग्रह में 'माया का मर्म' कहानी के नायक ने कहा था—"मैंने पहली बार बेरोजगारी के इस लंबे और उदास अर्से पर से दरिद्रता की राख को बिना दर्द के कुरेद दिया ।" लगता है, अब लेखक को यह राख कुरेदना पसंद नहीं, बल्कि प्रेम और पिकनिक में वह इस क़दर भूला है कि इस पर परत पर परत भी जमे तो उसे कोई परेशानी न होगी ।

निर्मल वर्मा की कथा-कृतियाँ बहुत ताजी और नयी मानी जाती हैं । वे हैं भी । यह ताजगी, नयापन या प्रभावात्मकता फिर किस चीज में है ? मेरी दृष्टि में यह उनकी कथा-कृतियों की बनावट 'टेक्सचर' में है । निर्मल की कहानियाँ, उपन्यास भी एक कलात्मक बुनावट की चीजें हैं । यह बुनावट काफ़ी सादी, पर सचेत है । इसी बुनावट के कारण सभी प्रकार की स्थितियाँ, परिवेश, चरित्र और अनुभूतियाँ आपस में इस तरह समन्वित हो जाती हैं कि उनके भीतर कहीं भी बिलगाव दिखायी नहीं पड़ता । एक हल्की, किंतु भीगे-भीगे रंगों की घुलावट आवश्यकतानुसार सर्वत्र छा जाती है । इसमें कठोर-मृदु, नीरस-सरस सभी प्रसंग अपनी उचित सजीवता पा लेते हैं । यह कारीगरी गाढ़े रंगों की चित्रकारी की तरह नहीं, हल्की मरोड़ों से युक्त पेंसिल ड्राइंग की तरह है, जिसमें सादगी है साथ ही आधुनिक ढंग की सुरुचिसंपन्न गरिमा भी । निर्मल ने 'चीड़ों पर चाँदनी' में आधुनिक चेक कथा-साहित्य की सबसे आकर्षक विशेषता के लिए एक शब्द का इस्तेमाल किया है 'एस्थेटिक ग्रेस' । मैं उनकी कलात्मक बुनावट के लिए भी इस शब्द को पसंद करूँगा ।

आधुनिक बिंब और प्रतीकों का सांकेतिक प्रयोग भी इस बुनावट का एक महत्वपूर्ण अंग है । यद्यपि उनके प्रतीक-चयन में रूमानियत का मोह स्पष्ट परिलक्षित है । मक़बरे, सिमिट्री, गाथिक चर्च, उड़ते कबूतर, सीगल्स, गिरजे की घंटियाँ, क्रिसमस कार्ड्स ट्रैफ़िक लाइट्स, भूरे टीले, भुतैले मकान, यहूदियों का सिनेगॉग, मैडोना, पुल, टावर, मीडोज, टेरेस, बर्फ़, धूप आदि शब्द न केवल एक विदेशी वातावरण और उसमें निःसृत आधुनिकता का संकेत देते हैं, बल्कि अपनी मूकता में चरित्रों और उनकी मानसिक स्थितियों को भी अपनी उपस्थिति और अतीत से लिपटी गाथाओं के माध्यम से एक आवश्यक संजीदगी और गहराई प्रदान कर पाते हैं । परिवेश के चित्रण में निर्मल वर्मा को कमाल की कारीगरी हासिल है । जैसा मैंने पहले ही कहा कि यह चित्रण हल्के स्याह और कुह-

रीले रंगों का है, जो उनकी भाव-वस्तु और चरित्रों की मनःस्थिति के साथ ताल-मेल बैठा लेता है।

उनकी बुनावट की एक और विशेषता है, जो कभी-कभी 'चाल' (ट्रिक) लग सकती है, पर यह विशेषता बन जाती है, खास तौर से कहानी की प्रभाव-वृद्धि में सहायक होने के कारण। यह विशेषता है समतल सपाट बुनावट में कहीं-कहीं अधखुली गाँठ लगा देने की। अनेक सूत्रों को एकत्र करके एक ऐसी शिथिल गाँठ दे देना कि वह बिखरे सूत्रों को समेटती भी दिखे, पर अपेक्षाकृत अधिक जिज्ञासु पाठक उसे खोलने का प्रयत्न करते हुए पाये कि यहाँ तो अनेक सूत्र हैं और किसी को पकड़ कर किसी भी दिशा में जाया जा सकता है। पश्चिम में आधुनिक 'पहेली' श्रेणी की कहानियों की यह विशेषता होती है कि उनकी अनेक व्याख्याएँ की जा सकती हैं। चेक कथाकार काफ़्का इसके लिए प्रसिद्ध है। निर्मल की कहानियाँ इस श्रेणी में तो नहीं आतीं, पर वे 'पहेली'-कथाओं की इस विशेषता को शिथिल ढंग से ले आने का प्रयत्न ज़रूर करते हैं। परिणामतः कहानी में जगह-जगह अधखुली गाँठें या मरोड़ें उत्पन्न हो जाती हैं। एक उदाहरण लीजिए। 'अंतर' कहानी का ज़िक्र ऊपर आया है। अस्पताल के प्रसव-कक्ष में पड़ी उस औरत ने अनाम नायक को जाते वक़्त वक्ष से लगा लिया था फिर जब वह चला गया तो उसने उसकी सौग़ात उठा कर खिड़की से बाहर फेंक दी। तो क्या उसे वह अब भी प्रेम करती थी, नहीं तो, वक्ष से लगाया क्यों? क्या घृणा करती थी यदि नहीं तो, सौग़ात को बाहर क्यों फेंका? ऐसी ग्रंथियों के चक्कर में पाठक कभी-कभी खुद अपने प्रयत्न से वहाँ पहुँच जाता है, जो कथ्य से कहीं अधिक बारीक और महत्वपूर्ण होता है। यह कौशल कभी-कभी खीझ पैदा करने का कारण भी बनता है, पर इसकी महत् संभावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अब हम संक्षेप में निर्मल की भाषा पर भी, विचार कर लें। निर्मल की भाषा सहज, सीधी और शक्तिशाली है। 'परिंदे' की समीक्षा में डॉ० नामवर सिंह ने कहा था—"ठेठ वाचक शब्द, विशेषणहीन संज्ञाएँ, उपमारहित पद, तथा स्वतंत्र वाक्य, अलग-अलग देखने पर हर शब्द मामूली, हर वाक्य साधारण, लेकिन पूरा प्रभाव ज़बर्दस्त। गद्य की रुखाई में भी वे स्थितियों के अनुरोध से कवित्वपूर्ण प्रभाव उत्पन्न कर ले जाते हैं।

निर्मल की भाषा सीधी है, ठेठ है, पर वह सपाट नहीं है। निर्मल अपनी भाषा में कलाकारी सलवटें डालने के लिए दो पद्धतियों का प्रयोग करते हैं, एक कवित्वपूर्ण भाषा, दूसरी अंग्रेज़ी के विशिष्ट प्रयोगों का स्वीकरण। कवित्वपूर्ण भाषा में उपमा भी है, और विशेषण भी। और यदि मैं कहूँ कि निर्मल ने छायावाद के परिचित चेहरों वाले प्रयोगों को अनेकशः अपनाया है, तो बहुत से लोगों को आश्चर्य होगा। यह निबंध ऐसे भी बड़ा हो रहा है, पर मैं कुछ उदाहरण देने का मोह संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

सागर एक स्वप्न है—डबडबाता स्वप्न (ज० झा० ४४), धूप के दीप (४६), समुद्र की अबाध, असीम गहनता के मानिंद रहस्यमय (४९), उद्भ्रांत छाया (५०), रहस्यमय शून्यता, निस्पंद आँखों का मौन, नीरव घड़ी, भुतैली छाया (५१), बेचैन सिसकी, सहमा सन्नाटा (५८), पूर्ण रहस्य की आतुर कातरता से भींगा क्षण (६४), रहस्यमय चमत्कार (६८), पतझर का हरा आलोक (६७), सोने के छल्लों से धूप के धब्बे, ख़ामोश हवा (६७), बादलों की सुरमई रेखा, पारदर्शी धूप, सुनहरी छाया (६८), पागल आवाज़ (७७), नीरव कोना (८०), जड़वत निस्तब्धता (८२), मंत्रमुग्ध मूच्छित (८४), धूमिल मीनारों के अधभूले स्वप्न (८७), असीम निर्भेद्य मौन, मंत्रमुग्ध साँप की तरह बलखाती हवा, निरीह कातरता (९०), आतुर विह्वल आँखें (९१), फुनगियों का हरापन सफ़ेद चाँदी में पिघलता हुआ (१००), लाल-भुरभुरे पत्तों की ओट से भूला हुआ सपन झाँकता सा (१०१), स्मृति का उद्भ्रांत पाखी (१०२), मायावी क्षण (१०६), साँप की कुंडली-सा ठंढा आतंक (११८)। कुछ उदाहरण 'वे दिन' से भी लीजिए—

आतुर प्रतीक्षा (८), सफ़ेद स्वप्निल रुई के गालों-सी बूँदें (१२), अदृश्य गंध (२८), नीरव आलोक, म्लान ठंढापन (३७), पलकों की धूमिल छाया (४०), झुटपुटी-सी मुस्कराहट (४९), सफ़ेद सागर, नीला द्वीप (५६), आवारा आतंक, निस्पंद आलोक (६८), नींद के अंतिम सिरे से लटकी पहली स्मृति (९७), भीगा-भीगा उजला मन (१०४), नीरव आलोक, निर्वाक-सा सम्मोहन, स्तब्ध कोलाहल (११८), स्तब्ध ठिठकी धूमिल छायाएँ (१२७), नशीली झुरझुरी (१४७) आदि।

यही नहीं, पतझर के वर्णन, और पत्तों के हरे आलोक, जिसकी छाया में नीरव एकांत कोना खोजने की बात इन दो पुस्तकों में कई बार आयी है। यथा 'जलती झाड़ी', पृ० १६, ४८, ६३, ६६, ६९, ७९, ८०, पृष्ठों पर किसी न किसी कोने और पतझर में गिरते उदास पत्तों का बयान ज़रूर है। एकाधिक कहानियों में एक ही दृश्य की आवृत्ति का कारण क्या है ? यह सब स्पष्ट ही रूमानी प्रवृत्ति की देन है। 'अल्मोड़े में बसंत' का पाठक हरा आलोक, वृक्षों के पीले कृश गात, पतझड़, रेशमी वायु आदि शब्दों को अच्छी तरह जानता है। यहाँ विशेषण भी है, और विशेषण-विपर्यय भी । उपमारहित पद इन्हें तो नहीं ही कहा जा सकता । 'लंदन की एक रात' कहानी में ऐसे प्रयोग अलबत्ता कम से कम हैं ।

किन्तु जैसा मैंने कहा, यह भाषा की सलवट है, मूल भाषा नहीं । दूसरे तरह की सलवट अंग्रेज़ी शब्दों और विशिष्ट प्रयोगों के इस्तेमाल से लायी गयी है । अंग्रेज़ी के प्रयोग सिद्धांततः तो ग़लत हैं ही, कहीं-कहीं अनावश्यक शब्दों के प्रयोग के कारण भाषा लँगड़ी लगती है । एक ही तरह के विदेशी प्रभावापन्न भाषा के प्रयोग अभिव्यक्ति को

काफ़ी एकरस भी बनाते हैं। निर्मल की भाषा के बारे में किसी भी पाठक की यह अपरिहार्य शिकायत हो सकती है।

अनेक स्थलों पर पात्रों के बीच कथोपकथन में वाचक ने प्रत्येक कथन के साथ मैंने कहा, उसने कहा, टी० टी० ने कहा, जैसे टुकड़ों की ऐसी फूहड़ आवृत्ति की है। (जैसे 'वे दिन', पृ० १५०–५१) कि सोचना पड़ता है कि प्रेमचंद की कुछ आरंभिक और उनके दूसरे समकालीन और पूर्ववर्तियों की अनेक रचनाओं में पात्रों का नाम देकर आगे 'डैश' मार कर जो वार्तालाप देने की प्रणाली थी, वह क्या बुरी थी ?

इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि निर्मल वर्मा की रचनाओं की मुख्य प्रवृत्ति रूमानी आउटसाइडर की है, यद्यपि उसे उन्होंने पश्चिमी जीवन से संपृक्त अभिव्यक्तियों के अनुकरण के बल पर काफ़ी आधुनिक बनाने का प्रयत्न भी किया है। उनकी कहानियों की कलात्मक बुनावट, मनःस्थितियों को व्यक्त करने की शक्ति, तथा भाषा और अभिव्यक्ति का सामर्थ्य उन्हें एक महत्वपूर्ण नये लेखक की भूमिका में खड़ा करता है।

● ●

नई कहानी : रचना और विरचना

कहानी हिन्दी साहित्य की आज सबसे अधिक चर्चित विधा बन गई है। इस चर्चा का मूल कारण शायद यह है कि अब भी कहानी एक ओर जहाँ शुद्ध साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठा पाने के लिए प्रयत्नशील है, वहीं वह लोकप्रिय व्यावसायिक स्तर पर भी अच्छी तरह जुड़ी हुई है। परिणामतः कहानी के क्षेत्र में लेखक, पाठक, सम्पादक, प्रकाशक और आलोचक-प्रचारक बहुत ज्यादा संख्या में संघर्षरत दिखाई पड़ते है। साहित्य से जीविका कमाने के उत्सुक मामूली साहित्य-व्यवसायी से लेकर काफी पूँजी वाले प्रकाशक तक कहानी पत्रिकाएँ निकालने का प्रयत्न करते हैं। इन पत्रिकाओं का कलेवर भरने के लिग सामग्री चाहिए। प्राप्त सामग्री की श्रेष्ठता का विज्ञापन होना चाहिए, अतः स्वाभाविक रूप से व्यावसायिक स्पर्धा का जन्म होता है। लघु-पत्रिकाओं को कम पैसे में या मुफ्त में प्रसिद्ध लेखकों की कहानियाँ मिल नहीं पातीं, अतः वे अप्रसिद्ध नये लेखकों को साथ लेकर आगे बढ़तीं हैं और प्रतिष्ठित मँहगे लेखकों के सृजन को नकारने या रद्दी सिद्ध करने का डौल बाँधती हैं। दूसरी ओर प्रतिष्ठित लेखक जिनकी दूकानदारी जमी रहती है, और जो प्रायः कहानी लेखन के बल पर ही जीविका चलाते हैं, इन हमलों से बचाव के लिए तरह तरह के हथकंडे काम में लाते हैं। समारोह, गोष्ठियाँ, विशेषांक आदि के माध्यम से वे अपनी दूकानदारी जमाये रखने की बेइन्तहा कोशिश करते हैं। अनेक जेबी आलोचक खड़े किये जाते हैं, प्रचार और विज्ञापन के तौर तरीक़ों को तेज और कारगर बनने की निरन्तर कोशिश जारी रहती है। ऐसी स्थिति में बहुचर्चित विधा भी साहित्यिक स्तर पर विवेचित और परीक्षित नहीं हो पाती। आज की हिन्दी कहानी के साथ यही स्थिति दिखाई पड़ती हैं। शोर-शरापे के बावजूद नई कहानी के सम्यक् विश्लेषण और समीक्षण का प्रयत्न नहीं हुआ है। उसका आज भी अपना कोई उपयुक्त समीक्ष-मानदंड विकसित नहीं हो सका है, उसे आज भी ऐसे, सर्वमान्य न सही, सही और सटीक प्रतिमानों की ज़रूरत है, जो उसके संवाँश की, अर्थपूर्ण ढंग से जाँच-पड़ताल कर सकें।

वैसे तो रचना प्रक्रिया का सीधा सम्बन्ध रचनाकार से हैं; किन्तु रचना और रचयिता के सम्बन्धों को उसका समसामयिक परिवेश न सिर्फ प्रभावित और प्रेरित करता है; बल्कि उसे निश्चित पद्धति और पैटर्न भी प्रदान करता है। इस दृष्टि से नवलेखन की रचना प्रक्रिया, समसामयिक जीवन का पूर्णतः अभिसाक्ष्य उपस्थित करती है। छायावादी कवियों की रचना प्रक्रिया इस तरह रूढ़ और वायवी हो गई थी; कि तत्कालीन

कवियों के व्यक्तित्व को देख कर उसके लक्षण निश्चित किये जा सकते थे। वहाँ दिमाग़ के ऊपर कोमल-कोमल केशपाश की सतरंगी छाँव एक आवश्यक लक्षण हो गई। पल्लव की भूमिका में पंत ने जिस रचना प्रक्रिया का उल्लेख किया उसका मुख्य उद्देश्य एक ख़ास तरह के परिवेश-निरपेक्ष सौन्दर्य की उपलब्धि थी। कोमल चित्रात्मक और ध्वन्यात्मक मसृण शब्दों की खोज का वह प्रयत्न एक रोमैंटिक भावुक "मैं" की तृप्ति का साधन था। प्रगतिवादियों की रचना प्रक्रिया जो ठीक उसकी प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई थी, समूह के बाह्य रूपाकार के चित्रण को ध्येय बना कर चली, जहाँ जार्गन शब्दों और अभिव्यक्ति की ऊपरी सतह का स्पर्श था। शिल्प के बारे में चूँकि वे काफी उदासीन थे; परिणामतः अभिव्यक्ति की सूक्ष्म स्तर की समस्यायें उनके सामने कोई खास प्रश्न नहीं बनीं।

अभिव्यक्ति की कठिनाइयों, शब्दों के अर्थहीन होने से उत्पन्न परेशानियों और निजी अनुभूतियों के लिये सही माध्यम की खोज के प्रश्नों से पहली टकराहट के संदर्भ में तारसप्तक के कवियों में से अधिकांश ने, अपनी रचना प्रक्रिया को स्पष्टीकरण करते हुए जोर "नये अभिव्यक्ति माध्यम की खोज" पर दिया। वे "राहों के अन्वेषी" बन कर सामने आये। पुरानी राह उनको व्यर्थ लगी। नई राह की खोज शुरू हुई। तार सप्तक के कवियों में भी एक "मैं" था, वह छायावादी "मैं" से भिन्न था [प्रगतिवाद में तो "मैं" था ही नहीं] पर उसमें भी कुछ न कुछ आरोप था। दर्पस्फीत अहंका, या फिर अपने को परंपरा से या पंक्ति से अलग अपांक्तेय समझने का अहसास, जो उनकी रचना प्रक्रिया को कृत्रिम नयेपन के प्रयोगों से आक्रान्त करता था।

१९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ। यह स्वतन्त्रता क्या हमारे मन में, ख़ास तौर से लेखकों के मन में कोई परिवर्तन ले आई ? मैंने कई बार इस प्रश्न पर सोचा है और मुझे लगा है कि एक परिवर्तन आया; पर यह इतना सूक्ष्म था कि इसका कोई स्पष्ट स्थूलरूप समाज पर तुरन्त दृष्टिगत नहीं हुआ। यह परिवर्तन आया सचेत बौद्धिक व्यक्ति के भीतर आत्म सम्मान की भावना के रूप में। बहुत हल्का सा यह भाव धीरे-धीरे ऐसे व्यक्तियों के अन्दर एक रासायनिक प्रक्रिया को जन्म देने लगा। स्वातंत्र्य-पूर्व का भारतीय बौद्धिक एक समूहगत प्रजा का अवशिष्ट अंग था, परिणामतः साहित्य में उस "कुछ न होने" के भाव की प्रतिक्रिया में वह अपने "मैं" पर एक मिथ्या खोल आरोपित करता था। स्वतंत्रता के बाद अपने "व्यक्ति" की खोज शुरू हुई क्योंकि स्वतन्त्रता के बोध ने उसके भीतर यह आस्था जगा दी कि प्रगति के अब सभी रास्ते उसके लिये खुले हैं। आवश्यकता सिर्फ़ उसकी अपनी योग्यता और प्रतिभा को प्रमाणित करने की है। यह सभी बातें बड़े सूक्ष्म ढंग से कहीं न कहीं उसके व्यक्तित्व को प्रभावित कर रही थीं। इन सबका परिणाम हुआ कि सचेत बौद्धिक या कलाकारों के भीतर अपने 'व्यक्तित्व' (इनडिविजुएलिटी) की खोज शुरू हुई।

प्रारंभिक नयी कहानी की रचना प्रक्रिया को समझने के लिए आवश्यक है कि हम

इस "व्यक्ति की खोज" की भावना को सामने रख कर रचनाओं का विश्लेषण करें। यहाँ 'माध्यम की खोज' का महत्त्व प्रकारान्तर से आता है, इसलिए गौण है। प्रमुखता इस "व्यक्ति की खोज" की ही दिखाई पड़ती है। व्यक्ति की खोज यानी प्रकारान्तर से अपने निजत्व की खोज।

१९५१ के आस-पास की हिन्दी कहानी में "व्यक्ति की खोज" के प्रयत्न की तीव्रता ऐसे लोगों में दिखाई पड़ी जो प्राय: नागर-जीवन की रिक्तता से अलग थे, इसी कारण वे कहानो लिखने की तात्कालिक परिपाटी से भी अलग दिखाई पड़ते हैं। दादी माँ, देऊ दादा, गुलरा के बाबा, देवा की माँ, क़स्बे का आदमी, हीरो की खोज आदि कहानियों में ऐसे व्यक्तियों की खोज है जो उसके पहले हिन्दी में नहीं थे। कुछ आलोचकों का आरोप है कि ये कहानियाँ 'नास्टैलजिया' से ग्रस्त हैं। राजेन्द्र यादव इसे "गुजरते साये" कहते हैं, जिनमें प्राचीनों के प्रति श्रद्धा की भावना धीरे-धीरे कालान्तर में उपहास में बद-लती गई। यह सही है कि युगानुरूप मोहभंग के क्रमिक दौर में श्रद्धा उपहास में बदलती गई है पर इन आरंभिक कहानियों में प्राचीनों के प्रति श्रद्धा का उतना महत्त्व नहीं था, जितना उनके रेखाचित्रों के भीतर लेखकीय "मैं" की स्थिति को अंकित करने का। और कहना न होगा कि बावजूद उसके कि ये कहानियाँ समाज के बहुत उपरले स्तर के, अथवा बौद्धिक रूप से जागरूक चरित्रों से सम्बन्धित नहीं थीं, कथाकार इनके अंकन की प्रक्रिया में कभी भी आरोपित "मैं" के शिकार नहीं हुए हैं। अर्थात् ग्राम समाज के सामान्य चरित्रों का अभिसाक्ष्य बनते वक्त लेखक उन्हीं का हिस्सा रहा है।

मैंने कभी इस तरह की कहानियों की चर्चा करते हुए इन्हें 'जातीय साहित्य" का अंग कहा था। मेरे इस कथन को बहुत ग़लत अर्थ में लिया गया है। 'जातीय साहित्य" शब्द प्रगतिवादी आलोचना की देन है; पर इसी कारण उसके अर्थ को बहुत संकुचित मान लेने की ग़लती नहीं करनी चाहिए। मैंने इस शब्द का प्रयोग 'राष्ट्रीय' जैसे शब्द से बचने के उद्देश्य से किया था, क्योंकि मैं मानता हूँ कि साहित्य में "राष्ट्रीयता" यानी संकुचित अर्थों में देशाभिमानवादी (चावनिस्टिक) राष्ट्रीयता का कोई स्थान नही होता। मानव की ज़िन्दगी और उसके युगानुरूप निरन्तर बदलते हुए मूल्य हमेशा सार्वभौम और और देश की हदबंदियों को अतिक्रान्त करते हैं; पर ये व्यक्त हमेशा ही देशकाल की सीमा में व्यतीत जिन्दगी की अनुभूतियों के माध्यम से होते हैं। मैंने राष्ट्रीय हीन भावना वाले निबंध में इसे काफी स्पष्ट कर दिया है। मैंने ग्राम कथा के लिए जब "जातीय" शब्द का प्रयोग किया था, इस वक़्त मेरा अभिप्राय स्पष्टरूप से यह था कि हमारी कहानियाँ ऐसी नहीं होनी चाहिए कि उन्हें देखकर कोई योरोपीय या अमेरिकी यह कह सके कि इसमें भारतीय क्या है ? जैसा कि इधर के बहुत से साहित्य के बारे में कहा जा रहा है। कविता फिर भी अपनी छनी हुई अनुभूतिपरक संरचना के कारण बहुत दूर तक

देश की धरती के स्थूल स्पर्श से बरी रह सकती है; पर कहानी अपनी ज़िन्दगी के प्रति अपेक्षाकृत ज्यादा संसक्ति के कारण धरती से कट कर खड़ी नहीं हो सकती।

आश्चर्य तब होता है जब आलोचक इस "जातीय साहित्य" वाले तर्क को गले के नीचे किसी क़दर उतार सकने के बाद पैंतरा बदल कर यह पूछते हैं—"जातीय तो ये कहानियाँ हैं, पर रचना प्रक्रिया की दृष्टि से इनमें नवीनता कितनी है। क्या ये नगर कथा की तुलना में स्पष्टतः पुरानी नहीं लगतीं ?" इसी प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा था कि इन कहानियों में आरोपित "मैं" बहुत अल्प मात्रा में दिखाई पड़ता है। वैसे "मैं" यहाँ लघुमानव ही है, क्योंकि जिस धरती से वे जुड़ी हैं, वहाँ की सच्चाई ले आने के लिए कथाकार को "इण्टलैक्चुअल" का लबादा उतार कर जाना पड़ता है वरना जिस प्रकार पतलून-कोट देख कर ग्रामीण जन भड़कते हैं, वैसे ही संभवतः तथाकथित आधुनिकतावादी संरचना देखकर इस धरती की अनुभूतियाँ भी भड़क कर कहानी में बधने को तैयार न होतीं।

इसी कारण इन कहानियों में "स्ट्रीम आफ़ कान्शसनेस" का बहुत जागरुक "मैं" नहीं, अति सहज और सामान्य "मैं" दिखाई पड़ता है। यानी वहाँ कथाकार पहले ग्राम-जीवन का एक सामान्य सदस्य मात्र है, कथाकार बाद में। और वैसा कथाकार तो बिल्कुल ही नहीं जो 'तीली मुँह से लगाकर सलाई पर सिगरेट घिसता हो और अपनी अदा को पेशे का विज्ञापन बना देता हो (सिगरेट घिसना शायद खफ़्तुल हवाशी का प्रमाण है क्योंकि खफ्तुलहवाशी फिलासफर बनने की पहली जरूरत है)।

इन कहानियों की रचना प्रक्रिया की एक दूसरी खूबी यह थी कि कथाकार चरित्रों के प्रति अजीब संसक्त तटस्थता का भाव बनाये रहता है। ऐसा शायद इसलिए हुआ कि इन कहानियों के लेखक जीवन जैसा है वैसा चित्रित न करके जैसा उनके मन में अंकित है, वैसा चित्रित करते हैं। यानी प्रकारान्तर से इन कहानियों में निजी अनुभूतियों का अभिसाक्ष्म ज्यादा उभरकर सामने आया है। इसी कारण इन कहानियों का शिल्प तैशुदा कथा-परिपाटी से अलग मालूम होता है। लोगों का प्रायः ऐसी कहानियों पर यह आरोप रहा है कि ये संस्मरण या रेखाचित्र हो गई हैं। यह आरोप सही है, पर इसे आरोप क्यों कहा जाये। भोगी हुई अनुभूतियों और चरित्रों के प्रति स्वाभाविक लगाव के कारण ये कहानियाँ इसी शिल्प में आ सकतीं थीं। यहीं पर इन कहानियों ने शिल्प की प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ा, यह भी मान लेना चाहिये। वे कहानियाँ शुद्ध कहानी नहीं लगीं, यही इनकी नवीनता का प्रमाण था।

१९५६-५७ तक इस दिशा में करारा ठहराव आ गया। उसके कई कारण थे। इस प्रकार की कहानियों में जिस चीज़ ने लोगों को बहुत आकृष्ट किया था, वह था स्थानीय रंग और ग्राम भाषा की ताज़गी। धीरे धीरे कहानीकारों की रचना-प्रक्रिया

पर आलोचकों और पाठकों तथा पत्र सम्पादकों की पसन्द और फरमाइश का प्रभाव पड़ने लगा। रेणु के मैला आंचल की प्रसिद्धि ने इस तरह की कहानियों पर दुहरा आघात किया। ग्राम जीवन के कथानक को लेकर चलने वाले लेखकों को स्थानीय रंग के मोह ने तथा अधिक से अधिक भदेस शब्दों के प्रयोग के आग्रह ने डँस लिया। परिणामतः भारत के वृहत्तर जीवन, यानी ग्रामीण परिवेश में होने वाले, नित नूतन परिवर्तनों, जीवन के संघर्षों, मनुष्यों के टूटते-बनते अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों, पिसती हुई आवादी की कशमकश की ओर तो उदासीनता रही, बाजारू आकर्षण के देहाती रंगों की बिक्री का दौर बढ़ गया। एक के बाद एक कथाकार इस क्षेत्र में आते रहे और उनमें से अधिकांश अपने खित्ते की अजीवोग़रीब चीजों को शहरों के बाजार में तरह तरह का लेबुल लगाकर बेचते रहे। और इस तरह "सही ढंग से भारतीय कथा सामग्री" का उपयोग करके लिखी जाने वाली सही अर्थों में नई भारतीय कहानियों के मार्ग में बाधा खड़ी हो गई। इसका परिणाम क्या हुआ हम आगे देखेंगे। हेनरी जेम्स की एक बात का उल्लेख कर दूँ जो प्रसंगानुकूल होगी। योरप भ्रमण के बाद हेनरी जेम्स ने यह अनुभव किया था कि उसका अपना कथा-क्षेत्र अमेरिका ही हो सकता है; किन्तु अमेरिका अपनी ज़िन्दगी का असली रहस्य उसी कथाकार को बता सकता है जो सचमुच की समझ रखता हो। पेरिस, लन्दन या रोम जैसे नगरों के नाम जादूगर के मुहाविरों की तरह हैं जो कलाकार का आधा काम ख़ुद व ख़ुद कर देते हैं और पाठक भ्रमों को यथार्थ मान बैठता है—जेम्स ने लिखा—"अमेरिकी कथा सामग्री पर सही ढंग से लिखने के लिए अपेक्षाकृत कहीं अधिक क्षमता और समझ की दरकार है।"

इसी काल में कहानी के क्षेत्र में एक दूसरी प्रवृत्ति भी थी। इस धारा के कहानी-कारों की मानसिक गठन या दिमागी तापमान कुछ भिन्न तरह का था। भोगी हुई अनुभूतियों की प्रधानता पर ज़ोर यहाँ भी दिया जाता है; पर इनकी आरंभिक कहानियों की रचना-प्रक्रिया परिपाटी से बहुत भिन्न नहीं हो सकी थी। इनमें कई तरह के लोग थे। कुछ पचास के पहले से ही लिख रहे थे। उनकी पुरानी कहानियों का तर्जे-वयाँ जाना पहचाना था। राजेन्द्र यादव आज भी कथन भंगी या तर्जे वयां की बात करते हैं। [धर्मयुग १३ मार्च १९६६] शुरु-शुरु में उनकी अपेक्षाकृत ज्यादा चर्चित कहानी 'एक कमजोर लड़की की कहानी' इस कथा-कथन का प्रमाण है। आज की नयी कहानी में ज़ोर कथनभंगी पर नहीं होता, भोगे को पुनः जीने की अभिव्यक्ति में होता है। यानी नई कहानी में "कथन" नहीं पुनुरुज्जीवन होता है। यह याद रखना चाहिये कि ५६-५७ के आस-पास से कविता और कहानी दोनों ही क्षेत्रों में बिखराव की स्थिति बढ़ी है। पर उसके पहले के शहरी जीवन में कोई बहुत हारमनी या सुस्थ-भाव था ऐसा नहीं। पर इस धारा की लिखी हुई कहानियों में शहरी जीवन की

रिक्तता और गहराई बहुत उभरकर सामने नहीं आई। और न तो उनकी बाद की कहानियों में ही यह बात दिखाई पड़ती है। राकेश और यादव दोनों ही पचास के पहले से लिख रहे थे; पर भावबोध की नवीनता को पकड़ने की ताक़त राकेश में ज्यादा परिलक्षित हुई। अपनी अनुभूति-जन्य सच्चाई और लचीली जीवन दृष्टि के कारण राकेश अपनी रचना प्रक्रिया को पर्याप्त विकसित और परिवर्तित करते गए जब कि राजेन्द्र यादव में कथन भंगी और शिल्प के चमत्कार का आग्रह बढ़ता गया। परिणा-मत: जहाँ राकेश "मलवे का मालिक", 'आर्द्रा' तथा 'एक और जिन्दगी' की ओर बढ़े वहीं राजेन्द्र यादव ने 'तलवार पंच हजारी, 'नीलमदेश की राजकुमारी' आदि कहानियों में शिल्प के चक्रव्यूह खड़े कर दिये। यादव की कहानियों में इसी कारण अभिव्यक्ति की पारदर्शिता के स्थान पर रूई का मोटा लवादा लिपटा दिखाई पड़ता है। जीवन दृष्टि और रचना प्रक्रिया दो हमदम कथाकारों में किस कदर अतिवादी छोरों का परिणाम दिखा सकती है, इसके ये दोनों वेहतरीन उदाहरण हैं।

ठीक इससे अलग मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, रामकुमार, उषा प्रियंवदा और निर्मल वर्मा की कहानियों में अनुभूति की सच्चाई, भोगे हुए जीवन का अभिसाक्ष्य, शहरी 'सिचु-एशन' को उनके सही संदर्भों में देखने की क्षमता का खास परिचय मिलता है। जिस से आरंभिक ग्राम कथा बाद में चलकर बाज़ारू फरमाइश का शिकार हुई, वैसी ही कुछ स्थिति इस दौर के शहरी कथा की भी हुई। पाठकों के मन को पसन्द आनेवाली चीजों के लिखने का प्रयत्न इस स्थिति का कारण बना। वरना एक पुरुष कथाकार जो भोगी हुई अनुभूतियों की प्रामाणिकता का कायल है "प्रतीक्षा" जैसी कहानी क्यों लिखता जिसमें एक प्रौढ़ा नारी का एक युवती के साथ समलिंगी सम्बन्ध चित्रित है।

५६-५७ के आस-पास से हिन्दी कहानी में विखराव की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं। पूरे देश का परिवेश धीरे-धीरे टूटने-तड़कने लगा। सभी क्षेत्रों में विघटन का भाव बढ़ने लगा। वह प्रक्रिया आज अपने अन्तिम छोर पर पहुँचने को व्यग्र लगती है। राजनीति, लोकतन्त्र, समाजवाद, बौद्धिक संस्थान, शासनतंत्र, संसद विधान सभायें—यानी सभी सामाजिक संस्थाएँ इस विखराव और टूटन का प्रमाण देंगी। मैं इस प्रसंग पर और ज्यादा विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं समझता—हम में से समी इस अलगाव, विच्छेद, विखंडन, विघटन के मुक्त-भोगी हैं। जिन्दगी की इस स्थिति से कहानी और कहानी की रचना प्रक्रिया कैसे अछूती रह सकती है? इसलिए हिन्दी में नई कहानी की सम्प्रति स्थिति में रचना प्रक्रिया का सही नाम विरचना प्रक्रिया ही हो सकता है। वस्तु चरित्र, घटनाएँ, टेक्सचर, गठन सभी की विरचना, सभी का विघटन। अकविता, अकहानी के नारे इसी स्थिति के सूचक हैं। इस विखराब, इस विघटन के भीतर से ही आज का कथाकार जिन्दगी के विखराव को सही ढंग से उपस्थित करना चाहता है।

रचना प्रक्रिया पर सचेत होने के कारण नई कहानी में जो स्थितियाँ उभरी हैं, उसे संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है। नई कहानी ने बँधे-बँधाये साँचो को तोड़ा है। कथाकार निरन्तर अपनी निजता को महत्त्व देने और व्यक्तिगत इन्द्रियबोध और अभिव्यक्ति यंत्र को संस्कारित करने का प्रयत्न करता रहा है। इसके कारण नई कहानी में जीवन को गहराई से देखने के प्रयत्न का पता ज़रूर चलता है; किन्तु पाठकों या बाजार के प्रति विशेष आग्रह का भाव उसे अंधघाटियों की ओर भी खींच रहा है। भाषा की दृष्टि से पर्याप्त उपलब्धि दिखाई पड़ती है। भाषा निरन्तर ज़िन्दगी के क़रीब होती गई है और उसमें सूक्ष्म तत्त्वों को बाँधने की शक्ति बढ़ी है। एक मिथ्या विवाद को जन्म मिला है कि कविता कहानी को नष्ट कर रही है। आरोप का कारण यह है कि नये काव्य तत्त्व कहानी में आ रहे हैं। यह तर्क बहुत भ्रामक है। असल में भाषा के अन्दर परिवर्तन सामान्यत: आ रहा है—एक ही भाषा कहानी और कविता दोनों का ही माध्यम बनेगी। मैं स्पेंडर के इस तर्क से सहमत हूँ कि युग की परिस्थितियों के कारण गद्य प्रमुख माध्यम हो गया है। और अब कवि भी अपनी काव्यात्मक प्रतिति के लिए अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में गद्य का ही प्रयोग करने की ओर प्रयत्नशील हैं। ग्रामकथा के गद्य से लेकर विरचना युगीन यानी आज के गद्य तक विकास की एक धारा है। इसे विधाओं में समेट कर खाने वन्दी करने से कोई लाभ न होगा।

विखराव या वि + रचना सम्बन्धी कहानियों के विषय में गंभीरता से विचार होना चाहिये। सामाजिक स्थिति इस सीमा पर आ रही है जहाँ आगे कोई रास्ता नहीं सूझता। ऐसी स्थिति में विखराव वाली कहानियों के अनुभूति का निरन्तर अपने तईं सीमित होना अग्रिम कहानी का लक्षण नहीं है। नई कहानी की रचना प्रक्रिया इतनी सशक्त, सक्षम और शक्तिशाली होनी चाहिये जो विखराव के समूचे कशमकश को अभिव्यक्ति दे सके। विखराव की चर्चा बहुत है, विखराव का पूर्ण रूप सामने नहीं आ रहा है। यह जितना जल्दी आ सके, आए। नई कहानी को इस पूरे परिवेश को बाँध सकने की शक्ति अर्जित करनी होगी। हिन्दी कहानी विकास की दृष्टि से ख़ासतौर से नये आयामों के प्रयोग की दृष्टि से बहुत पिछड़ी है। उदाहरण के लिए सीमाएँ तोड़ने की बात बहुत होती है पर क्या एक साथ नेत्र, श्रवण, घ्राण, स्पर्श सम्बन्धी सम्वेदनाओं को सहभुक्त रूप में अभिव्यक्त करने का कोई प्रयत्न हुआ है।

इस सिलसिले में विपिन कुमार अग्रवाल ने "क ख ग" जुलाई १९६४ के अपने लेख में बहुत दिलचस्प सवाल उठाये थे।

"मोटर रेल, हवाई जहाज, अखबार, रेडियो, सिनेमा, स्कूल आदि से घिरा हुआ आदमी जिस तरह से चारों ओर होने वाले व्यापारों को देख पा रहा है, उसमें घटनाओं के छोरों का समकक्षी हो जाना, गुत्थी हो जाना अनिवार्य है, आज के जीवन का यदि यह अंग है तो इसकी अभिव्यक्ति कहानियों में होनी चाहिये, यदि कोई कृति इस चुनौती

को स्वीकार नहीं करती तो वह पूर्व साहित्य से उधार ली हुई अनुभूति का भले ही वर्णन कर दे यथार्थ से उसका सम्बन्ध सतही होगा।

कथा साहित्य में "समय तत्त्व" के प्रयोग की यह उलझी हुई समस्या बहुत पुरानी चीज़ है, फ्लावेयर ने मादाम वावरी में इसे इन शब्दों में कहा था—"प्रत्येक आवाज एक साथ सुनाई पड़े, जानवरों का रंभाना, प्रेमियों की फुसफुसाहट, और अफसरों की कार्यालयीय बातचीत-सभी एक साथ।" जोजेफ फ्रैंक ने सेवानी रिव्यू के वसन्त १९६३ में अंक में इसपर विचार करते हुए लिखा—'चूँकि भाषा की यात्रा समय के घेरे में चलती है, इन्द्रिय बोधों का एक साथ अभिव्यक्त होना तबतक मुश्किल है तबतक समय सीमा तोड़ न दी जाए और यही कार्य फ्लावेयर करता है—"वह घटनाओं को टुकड़े-टुकड़े करके क्रिया को विभिन्न स्तरों पर निमज्जित कर देता है।"

यह एक उदाहरण मात्र है। वस्तुतः कहानी की रचना-प्रक्रिया और विचरना के दौर को सही ढंग से समझने के लिए हमारे भीतर एक व्यापक तैयारी की ज़रूरत है। जबतक पाठक और आलोचक उस तैयारी से सामने नहीं आता और कहानीकार अपने ऊपर किसी कदर का दबाव महसूस नहीं करता, कथा के शिल्प में बहुत बारीक और उच्चतर सांकेतिक क्षमताओं का विकास संभव नहीं होगा। विषय वस्तु की पकड़ जैसे मोटे सवालों को भी कहानी-समीक्षा बहुत सूक्ष्म स्तर पर सुलझाने में सक्षम नहीं दीखती। भोगी हुई अनुभूति, प्रमाणिक अनुभूति तथा इसी तरह के जज्बात जो कहानी-कारों के शब्दों में सुनाई पड़ते हैं; वस्तुतः वे रास्ते को पिच्छल ही बनाते हैं। अनुभूतियाँ अदने से अदने और बड़े से बड़े हर कथाकार के पास हैं, सवाल यह नहीं कि वे आपकी भोगी हैं या नहीं, हम मानकर चलते हैं कि भोगी हैं, सवाल है कि उन्हें बाँध पाने में आप कहाँ तक सक्षम हैं। आपके सपने और जाग्रत बयान में कितना अन्तर है? कभी हेनरी जेम्स ने लिखा था कि सफल कथाकार का मानस उस रेशमी तन्तुजाल की तरह होता है जिसमें हवा की हल्की लहर भी कम्प जगा जाती है—इस प्रतीकात्मक कथ्य का अर्थ यही था कि अनुभूतियों की पकड़ की परीक्षा इस बात पर निर्भर करती है कि उनकी अभिव्यक्ति में आपके मानस का तापमान किसी ऊँचाई को छू पाता है। यदि आप केवल "ट्रिक्स" को हो अपनाते हैं तो जाहिर है कि अनेक छोट-छोटी हरकतें जो हर अनुभूति के साथ लिपटी रहती हैं आपके मानस तन्तुजाल से छनकर अलग हो जायेंगी जब कि उन छोटी-छोटी हरकतों में ही जिन्दगी का कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण अर्थ निहित हो सकता है। जिन्हें आप नज़र अन्दाज कर जाते हैं।

असल में कहानी में अनुभूति, जो अभिव्यक्त होती है, उसका कोई बहुत महत्त्वपूर्ण अर्थ नहीं होता। कथा की सूक्ष्मता का अंग वही अनुभूति बनती है जो सामने दिखाई पड़ने वाली बात के भीतर से ऐसे अदृश्य तत्त्वों को झलका देती है, जिनका वर्णन नहीं किया जाता। [वियांड अपीयरेंस थ्रू अपीयरेंस]

यदि हम ५० के बाद की कहानियाँ का सही विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि ५५-५६ तक कहानियों में निहित आस्था की हरारत धीरे-धीरे नीचे उतरने लगी थी। उदाहरण के लिए ५० के ठीक बाद की कहानी में दादा, दादी, चाचा आदि को इस रूप में प्रतिष्ठित किया जाता था कि वे समय के कठोर चक्र में पिसते हुए भी मानवीयता से वंचित नहीं है। जिन्हें समझने की जरूरत है। धीरे-धीरे पितृवर्ग के प्रति विज्ञासा का यह भाव उनकी आधुनिक को समझने की असमर्थता के कारण खीझ और उदासीनता में बदलता गया। देऊ दादा, दादी माँ, गुलरा के बाबा, देवा की माँ आदि कहानियों में दया और सहानुभूति है, यही बाद में राष्ट्रीय जीवन के प्रति नई पीढ़ी की बढ़ती हुई निराशा और नई पीढ़ी की बेरोजगारी से ऊबी पुरानी पीढ़ी की खीझ के कारण, बाद की कहानियों में पिता-पुत्र के बीच का सम्बन्ध खिंचाव और गहन उदासीनता में बदल गया है। प्राचीन परम्परा से पोषित, सम्बन्धों में मात्र 'गाँठें' नहीं पड़तीं, जैसा ५० के बाद की कहानियों में है, बल्कि वे उस सीमा को छूने लगते हैं जहाँ 'रक्तपात' होता है। उषाप्रियंवदा की वापसी, विजय चौहान की मुक्ति, दूधनाथ की रक्तपात, मनोहर श्याम जोशी की एक दुर्लभ व्यक्तित्व, ज्ञानरंजन की पिता आदि कहानियाँ इसका उदाहरण है। अपना घोर निजी से निजी व्यक्ति भी जब इतना अनजान हो जाता है, कि उसको नये सिरे से जानने-पहचानने की उत्सुकता तक मर जाती है, तो मानना चाहिए कि हम उलझे सम्बन्धों के उस मोड़ पर पहुँच गए हैं जहाँ भटके सूत्रों को खोजने से नहीं, उन्हें झटके से मार कर तोड़ने में ही निस्तार है। यह मोहभंग वृद्ध या बुजुर्ग राष्ट्रीय कर्णधारों के सत्तालोभ और भ्रष्टाचार को देखते हुए उत्पन्न हुआ है जो आज पूरे देश की एक व्यापक प्रवृत्ति बन गया है।

झटके से तोड़ने की यह प्रक्रिया ही आज की हिन्दी कहानी का केन्द्रीय विन्दु है। इसे ही मै विरचना प्रक्रिया कहता हूँ। रचना कठिन होती है, विरचना आसान। यह एक सामान्य सांसारिक किंवदन्ती है। पर साहित्य स्तर पर 'विरचना' एक कठिन, सूक्ष्म और प्रतिभा-सापेक्ष्य प्रक्रिया है। यह सही है कि आज का कथाकार यह मानने लगा है कि उसके चारों ओर का जीवन; जो रोज के परिचित, नीरस परिवेशों की चौहद्दी में बँधा है, इस तरह अशरीरी और पकड़ से वाहर हो गया है या होता जा रहा है कि उसे कथानक, चरित्र, परिवेश, उद्देश्य की एकाग्रता आदि के पुराने चौखटे बाँधने-संभालने में बिल्कुल अक्षम है। प्रश्न है कि उसे कैसे बाँधा जाए। "कैसे" एक ओर अशरीरी विखराव को संवेद्य बनाने की रासायनिक प्रक्रिया से जुड़ा है तो दूसरी ओर इस विखराव की संवेदना को भाषा का आयाम देने की कठिनाइयों से भी। इस दोहरे खतरे से आज का कहानीकार नाना रूपों में जूझ रहा है। वैसे कहने को यह सभी कह देते हैं कि इन खतरों से बचने का एकमात्र मार्ग यह है कि कोई खास मार्ग बनाने की कोशिश ही न हो। भाषा और शिल्प के स्तर पर ही नहीं जीवन बोध और सम्वेदना के स्तर पर इस 'सहज

और सामान्य" को स्वीकार करना ही इन खतरों से निकलने का रास्ता है। पर ऐसा कहते प्रायः लोग यह पहलू भूल जाते हैं कि 'सहज और सामान्य' की उपलब्धि इतनी सहज और सामान्य नहीं होती जितनी हम समझ बैठे हैं। वस्तु के सम्बन्ध, सम्बन्धों की उलझनें, उलझनों की अर्थहीनताएँ परम्परा के चढ़ाये हुए खोल में बन्द हैं। उन पर निरन्तर परत पर परत चढ़ती रही है, इसलिए "सहज और सामान्य" को सही ढंग से उपलब्ध कर लेना एक कठिक कार्य है।

आज का हिन्दी कहानीकार इस प्रश्न से अपने अपने ढंग से टकरा रहा है। "अपने अपने ढंग" के भीतर इसी कारण वैयक्तिकता का, कभी कभी असामाजिक वैयक्तिकता का रंग बहुत गाढ़ा दिखाई पड़ता है। उसे किसी पर भरोसा नहीं है। अपने पर भी नहीं। वह अपने खंडित, नींवहीन, निरवलम्ब अस्तित्व को कोई दिशा देने के प्रश्न पर भी एक बन्धन मानकर उदासीन हो चुका है। मैं इस बात को दो अहम विन्दुओं के समक्ष रखकर स्पष्ट करना चाहता हूं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के दो ध्रुव हैं। एक पिता एक प्रेमिका या पत्नी। पिता सम्बन्धी दृष्टि परिवर्तन का विश्लेषण ऊपर हो चुका है।

परिवार से निराश युवक को पत्नी भार लगती है उसे प्रेमिका चाहिए; पर अब प्रेम न रहस्य रहा न सहारा और न तो नियति। सार्त्र ने उसे एक सामान्य "सिचुएशन" कहा है। नया कहानीकार भी उसे संभवतः ऐसा ही मानता है क्योंकि प्रेम केवल आवरण मूलक शब्द मात्र है, उसका सहज और सामान्य अर्थ है संभोग, जिसकी पूर्ति के बाद आकर्षण को बनाये रखने या उसे निभाने का प्रयत्न रोमानियत का शिकार मात्र बनना है। पचास के बाद के कथाकारों में यह प्रेम की प्रवृत्ति बावजूद समूची तत्कालीन आधुनिकता के रूमानी थी। चाहे वह "छोटे-छोटे ताजमहल हों", चाहे "सावित्री नम्बर दो", चाहे "नीली झील" चाहे "सागर पार का संगीत 'चाहे वह "ताड़ी घाट का पुल" हो या फिर "यही सच है", जैसी कहानियाँ हों, इनके भीतर एक संगीत घायल होकर ही सही गूँजता रहता था। आज की हिन्दी कहानी में यह संगीत काफी मन्द या करीब करीब चुप जैसा हो रहा है। एक पति के नोट्स, विस्तर, बातें, एक और विदाई, डरी हुई औरत आदि कहानियों में यह प्रवृत्ति साफ दिखाई पड़ती है। मैं यह नहीं कहता कि जो यहाँ है क्या वही काम्य है ? काम्य-अकाम्य की स्थितियाँ हमेशा साहित्यिक ही नहीं होतीं, यह प्रश्न उठाना एक प्रकार से साहित्य के भीतर समाजशास्त्र को वलात् घुसेड़ना है; पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रेम के इन्द्रधनुष की विरचना करते वक़्त हम गोबर को प्रतिष्ठित करने की कोशिश में क्या उपलब्ध कर रहे है, इस पर सोचें अवश्य।

मैंने यहाँ सम्बन्धों और परिवेशों के दो एक उदाहरणों के आधार पर आज की कहानी की दिशा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। विरचना और ध्वंस के इस दौर के प्रति इतने संक्षेप में न्याय कर पाना संभव नहीं है। ● ●

नई कविता की निकटवर्ती पृष्ठभूमि

●

१९४०-५० के दशक की हिन्दी कविता की समीक्षा करते समय हमारा ध्यान उसकी पृष्ठभूमि पर भी जाता है, जिसे कुछ लोग छायावाद का पतन कहते हैं, किन्तु जिसे छायावाद के उत्थान की पराकाष्ठा भी कहा जा सकता है। वस्तुतः इस दशक की हिन्दी कविता के अंकुर छायावाद की इसी उर्वर भूमि में दिखाई पड़ने लगे थे, जो समय और जलवायु की दृष्टि से इसके लिए उपयुक्त थी। छायावाद के इस सर्वाधिक विकसित काल की कविताओं का अनुशीलन करने वाला पाठक सहसा पूछ बैठता है कि आखिर हमारे समाज में वे कौन-से मूलभूत प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनके उत्तर में 'पल्लव' और 'गुंजन' के पंत को एकान्त प्राकृतिक सौन्दर्य तथा परियों और रूपसियों का छायालोक छोड़ कर 'लट खिसकाती' ग्राम युवती के धूसर केशों में लोचन उलझाने ही पड़े? और जब हम इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ते हैं, तो हमें यह कहते ज़रा भी हिचक नहीं होती कि प्रयोगवादी कविता, जिसे हम भ्रम से छायावाद के विरोध में उत्पन्न काव्य के नाम से अभिहित करते हैं, वस्तुतः उसके विकास का ही ऐतिहासिक रूप है। यह सत्य है कि छायावाद की कविता के विषय, छन्द और भाषा—यहाँ तक कि उसका पूरा कलेवर—प्रयोगवादी कविता से भिन्न मालूम होता है; पर यह भिन्नता विरोध-सूचक नहीं, विकास-सूचक ही है।

छायावादी काव्य स्वतः एक क्रांतिकारी क़दम था। सामन्तयुगीन शासन-व्यवस्था के अवशेष पर जिस समाज की नींव रखी गयी, उसमें अनिवार्य रूप से दो प्रकार के तत्त्व विकसित हो रहे थे। एक ओर बन्धनों एवं नियमों में जकड़ी भावनाएँ व्यक्ति-स्वतंत्र्य की की छाया में अपनी गुंजलक छोड़ कर लहराने लगी थीं, दूसरी ओर समाज-विरोधी शक्तियाँ, प्राकृतिक साधनों एवं विज्ञान पर आधिपत्य स्थापित कर, साम्राज्य-लिप्सा से प्रेरित, संगठित होती जा रहीं थीं। स्वार्थ और अधिकार-लिप्सा के इस युद्ध में प्रत्यक्ष सम्मिलित न हो कर भी, व्यक्ति टूटने लगा और केवल घर में चुपचाप बैठे रहने पर भी महार्घता और भुखमरी तथा दुर्भिक्ष की लपटों में वह झोंक दिया गया। ऐसी परिस्थिति में अपने व्यक्तिवादी स्वरों की झनकार बन्द करके छायावादी काव्य के नायक 'निराला' ने 'जूही की कलियों से निठुराई' कर 'बादल राग' का उद्घोष किया और 'अंगना-अंग से लिपटे' 'पर्यंक-अंक पर' काँपने वाले धनिकों की ओर से आँखें फेर कर 'कृषक अधीर' की ओर बादल मुड़ गये। पंत का पौरुष सन् ४० में अपनी कोमल-कान्त पदावली को छोड़ कर- ओज भरे-शब्दों में 'शत-शत विनाश का आयोजन' करने वाले साम्रा-

ज्यवाद को धिक्कारने लगा और उन्होंने हमारा ध्यान उन नंगे, शोषित, भूखे किसानों की ओर खींचा, जहाँ मानवता बे-मौत मर रही थी।

झाड़-फूस के विवर यही क्या जीवन-शिल्पी के घर ?
कीड़ों-से रेंगते कौन ये बुद्धि-प्राण नारी-नर।

अतः इस दशक की कविता का प्रारंभ वस्तुतः उन्हीं कवियों ने किया, जिन्होंने छायावाद का प्रारम्भ किया था ओर उसे उत्थान के अन्तिम स्तर पर पहुँचते देखा था।

'ग्राम्या' में पन्त ने गाँव की उन्मुक्त प्रकृति का दर्शन किया, साथ ही उन्होंने असभ्यता, कलह और दीनता में लिपटी मानवता को देखा, जो अंतिम साँसें गिन रही थी। पन्त जी की कुछ सीमाएँ थीं, जिनके बाहर जाना उनके लिए मुश्किल था। इसी से कहीं-कहीं उन्होंने गाँवों के जीवन का जो चित्रण किया है, वह हृदय को छूता नहीं। उनकी भाषा भी विषय के साथ छायावादी शब्द मोह, चित्र-मोह छोड़ कर जन-भाषा का रूप न ले सकी। फिर भी 'ग्राम्या' जनवादी काव्य के विकास-पथ पर मील का पत्थर बनी रहेगी।

हमारे चारों ओर जो घटनाएँ घटती हैं, चाहे उनका घटनास्थल हम से दूर हो या नज़दीक, चाहे वे जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती हों या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती हों उनका प्रभाव अवश्यंभावी है। सन् '४० के आस-पास अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो दारूण द्वंद्व प्रारम्भ हुआ, उसका प्रभाव युद्ध-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था। यद्यपि जनता प्रायः प्रत्यक्ष प्रमाणों और स्थूल सत्यों पर ही ज्यादा ध्यान देती है और ऐसी घटनाओं से तब तक प्रभावित नहीं होने लगती जब तक उनकी आँच सीधी न लगने लगे, तथापि समाज का जागरूक अंश इसके पूर्वापर परिमाणों पर विचार करने लग जाता है। इस काल में भारतीय मनीषा परस्पर विरोधी विचारों से आक्रान्त हो कर अपना पथ ढूँढ़ रही थी। ऐसी परिस्थिति में हमारे साहित्य को भी एक रास्ता चुनना था, अतः सन् '४० के आस-पास प्रत्येक साहित्यकार के मन में संघर्ष उपस्थित था, उसके विचार धुँधले थे और वह अपनी दिशा खोज रहा था। उसे छायावाद से असंतोष था। एक ओर व्यक्तिवादी काव्य 'पलायन'–सा लगता था और दूसरी ओर संघर्षों का युग प्रत्येक साहित्यकार से स्पष्टता और सरलता की माँग करता था। ऐसे युग में छायावादी कुहरे का आश्रय असम्भव था। छायावादी युग के व्यक्तिवादी कवियों ने सामाजिक नियमों एवं आतंकों के विरुद्ध जिस भाषा और जिस अभिव्यक्ति की शरण ली थी, उसका चल सकना मुश्किल था। अतः असंतोष दुहरा था—

(१) विषय सम्बन्धी और (२) रूप सम्बन्धी।

हिन्दी काव्य में सम्भवतः यह पहली घटना थी, जब साहित्यकार रूप और विषय, दोनों को दो भिन्न वस्तुएँ मान कर इनके विकास के लिए प्रयत्नशील हुआ। वस्तुतः काव्य की परख के लिए रूप और विषय के भेद आलोचक के किये हुए हैं।

इस दशक की कविता में इन दो प्रकार की प्रवृत्तियों को क्रमशः प्रगतिशील और प्रयोगशील नाम से अभिहित किया जाता है, यद्यपि बहुत हद तक ये नाम दोनों प्रकार के कवियों को पसन्द नहीं हैं। शायद इनके पारिभाषिक अर्थ पर विचार करते समय आलोचक भी इन नामों से सहमत न हों, पर नाम के लिए नाम रख कर हम इन दोनों प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे।

प्रयोगशील कवियों की रचनाओं का पहला संग्रह 'तार सप्तक' नाम से सन्' ४३ में प्रकाशित हुआ। 'विवृत्ति और पुरावृत्ति' शीर्षक सम्पादकीय में (जिसे सम्पादक शायद सम्पादकीय भी न कहना चाहें) यह स्पष्ट किया गया है कि संगृहीत कवि "किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।" जैसा पहले ही कहा गया कि इस काल में भारतीय मनीषा पर कुहासा-सा छाया था और यह निश्चित करना कठिन था कौन पथ ठीक है और कौन नहीं। 'अन्तर्द्वन्द्व' इस काल के कवियों का मूल भाव था, जिसे एक से अधिक लोगों ने निःसंकोच भाव से स्वीकार किया है। गजानन मुक्तिबोध ने इस 'अन्तर्द्वन्द्व को अपने जीवन में बुद्धमूल' कहा है। नेमीचन्द्र जैन ने इसे 'संस्कार और विवेक की कशमकश' कहा है। इस पूरे संग्रह में महत्त्वपूर्ण वस्तु काव्य का रूप-पक्ष है, जिस पर किसी न किसी प्रकार से सब ने जोर दिया है। विषय-पक्ष की दृष्टि से सन्'४३ में प्रकाशित इन रचनाओं का मूल्यांकन, यदि बंगाल के दुर्भिक्ष और द्वितीय महायुद्ध के व्यापक प्रभावों से क्षत-विक्षत भारतीय समाज को सम्मुख रख कर किया जाए तो अधिक रचनाएँ घोर वैयक्तिक और निश्चिन्त स्थितियों को प्रकट करती हुई मिलेंगी, जिनका होना अस्वाभाविक एवं कृत्रिम ही नहीं, वरन् असम्भव भी है। ये कवि मौलिक सत्यों को भी समान रूप से स्वीकार नहीं करते। इस संग्रह की कविताओं का वर्गीकरण करने पर तीन प्रकार की कविताएँ दिखाई पड़ती हैं—

१. प्रकृति-चित्रण, जिनमें कुछ को छोड़ कर शेष सभी कवि-मन से आक्रान्त हैं;
२. अन्तर्मन की उलझनों और गुत्थियों का लेखा-जोखा।

३. युग के अनुकूल बुद्धिवादी दृष्टि से विचार-बोझिल कविताएँ, जो मध्यवर्गीय समाज, साम्यवाद या इसी प्रकार के अन्य विषयों पर लिखी गयी हैं।

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से रामविलास शर्मा की 'प्रत्यूष के पूर्व', कतकी', और 'शारदीया', प्रभाकर माचवे की 'वृष्टि', 'वसन्तागम' और गिरिजाकुमार माथुर के कुछ टुकड़े निःसन्देह बड़े मनोहर बने हैं। इनमें मन की भावनाओं का वह लगाव भी नहीं है। अन्य कविताओं में प्राकृतिक दृश्य वैयक्तिक भावनाओं से इतने आक्रान्त हैं कि उनका स्वतन्त्र बिम्ब-ग्रहण सर्वथा असम्भव है।

रामविलास शर्मा को छोड़ कर प्रायः सबने दूसरे प्रकार की कविताएँ लिखी हैं, जिसमें अन्तर्मन की गुत्थियों का लेखा-जोखा दिया गया है। इस प्रकार की कविताओं

में 'अज्ञेय' के भाव बड़े ही उलझे और विचित्र हैं। 'अज्ञेय' के काव्य में, जैसा कि साधारण व्यक्ति को वे यौन वर्जनाओं का पुंज मान लेते हैं, दबी हुई इच्छाओं की अभिव्यक्तियों का जोर है। 'जह्नावान' जैसी कविता में, जहाँ एक ओर उनके दर्पस्फीत क्रुद्धवीर्य की पुकार सुनाई पड़ती है, वहीं 'सावनमेघ' जैसी कविता में नारी के प्रति कातर याचना की भावना अद्भुत निरीहता उपस्थित कर देती है—

आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उभड़ आयी है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त तुम कहाँ हो नारि!

'अज्ञेय' की इधर की कुछ कविताओं का संकलन 'शरणार्थी' में हुआ और कुछ का 'हरी घास पर क्षण भर' में। 'हरी घास पर क्षण भर' में प्रकृति-चित्रणों पर मानसिक अवस्थाओं का आरोप कम हुआ है, इसलिए दृश्य बड़े ही मोहक और साफ़ हैं। 'शरद्', 'कतकी पूनो', 'क्वार की बयार' आदि गीतों में रेखाएँ काफ़ी उभरी और रंग चटकीले हैं। अज्ञेय में एक विशिष्ट तरह की प्रयोगधर्मी मँजावट आई है।

तीसरे प्रकार की कविताए वस्तुतः विचार-प्रधान विषय के कारण बहुत नीरस हो गयी हैं। हाँ, कहीं-कहीं जब इनमें मस्ती और व्यंग्य का स्वस्थ 'समन्वय' हुआ है, तो ये चुभती हैं। भारत भूषण की 'अहिंसा' इसका अच्छा नमूना है।

बीच-बीच में प्रयोगशील कवियों की फुटकल रचनाए भी आती रहीं, कुछ के संग्रह भी निकले, पर प्रयोगवादी काव्य में विकास के अगले क़दम के रूप में 'दूसरा सप्तक' आया। 'दूसरे सप्तक' के कवियों में भवानी प्रसाद मिश्र उसी प्रकार आ गये, जैसे 'तार सप्तक' में रामविलास शर्मा। वस्तुतः ये दोनों कवि प्रयोग नाम से कुछ खास आकृष्ट नहीं मालूम होते। इसी से शायद इन्होंने अपने वक्तव्यों में इसका जिक्र भी नहीं किया है। पहले और दूसरे सप्तक के बीच आठ वर्षों का अन्तर है और कहना न होगा कि इस अर्से में भारतीय समाज की परिस्थितियों में भी काफ़ी परिवर्तन हो चुके हैं। स्वतन्त्रता के बाद भी बेकारी, भुखमरी आदि समस्याओं का समाधान न हो सका। मन की दुनिया में कृत्रिम मस्ती का लाख अनुभव करने पर भी जब हमारे पैर संसार की सख्त चट्टान से टकराते हैं, तो ठेस लगती है। इस यथार्थ का कड़वा अनुभव युग के प्रत्येक मनुष्य को हो रहा है और इस सत्य से 'दूसरे-सप्तक' के कवि अपरिचित नहीं हैं। इसी से ये कवि जब जीवन के किसी खास क्षण में इस मसले पर सोचते हैं, उस समय ये थोड़े बेचैन हो जाते हैं और इनके मन की तमाम रंगीन दुनिया इस ठेस से बिखर जाती है और उस समय की इनकी अनुभूतियाँ भी सच्ची मालूम होती हैं। इसी दृष्टि से भवानी प्रसाद मिश्र की 'गीतफरोश', शकुन्तला माथुर की 'दोपहरी', हरिव्यास की 'शिशिरान्त', शमशेर की 'बात बोलेगी', नरेश की 'समय देवता', रघुबीर सहाय की 'पहला पानी', और भारती की 'जाड़े की शाम', आदि रचनाओं में कहीं-कहीं संघर्ष-

रत जीवन का दर्द है, तो कहीं नवीन समाज की आशाएँ और उसके स्वागत की तैयारियाँ। उन्हें जीर्ण-शीर्ण समाज के बिखर कर ढह जाने पर ज़रा भी अफ़सोस नहीं है। यद्यपि अपनी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर वे स्वयं सक्रिय रूप में सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील दिखाई नहीं पड़ते, फिर भी उनका व्यक्तित्व किसी भी रूप में इन जन-क्रांतियों में बाधक हो, ऐसा भी वे नहीं चाहते। स्वयं 'अज्ञेय' ने कहा है—

नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यष्टि का अभिमान।

इतना होते हुए भी समरूप से इनकी कविताओं पर विचार करने पर उनमें व्यक्तिवादी स्वर का प्राधान्य स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि मध्यवर्ग के शहरी जीवन के ये कवि अपनी अनुभूतियों के प्रति काफ़ी ईमानदार हैं, फिर भी उनका प्रयोग-मोह उन्हें साधारण जीवन से खींच-सा लेता है। इस दृष्टि से शमशेर, रघुवीर सहाय और भारती में प्रयोग का आग्रह तीव्र है और शायद शमशेर में सबसे अधिक। उनके व्यक्तव्य से ही यह झलकता है कि वे 'हर चीज़ की, हर भावना की जो अपनी एक भाषा होती है, जिसमें वह कलाकार से बातें करती है, उसे पहचानना चाहते हैं' और उनकी यह पहचान अपने ढंग की है। यह मानते हुए भी कि शमशेर सिद्धान्त की दृष्टि से सबसे अधिक साफ़ और ईमानदार हैं, यह कहना शायद ग़लत न होगा कि उनका प्रयोग मोह उन्हें बुरी तरह उनके सिद्धांतों से दूर खींच रहा है। धर्मवीर भारती की कविताओं में एक सहजपन है और यही सहजपन उनकी कविताओं की जान भी है। 'ठंडा लोहा' में संकलित उनकी 'फागुन की शाम' का भोलापन बरवस अपनी ओर खींच लेता है। काश, वे इस सरलता और स्वाभाविक कवित्व-शक्ति का जीवन के व्यापक घेरे में उपयोग कर सकते। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं की 'साधारणता' असाधारण प्रभाव डालती है। उनके सुलझे हुए भाव अनुभूतियों के रंग में अनुरंजित होकर हमाने सामने आते हैं। सतपुड़ा के जंगल में जहाँ एक ओर प्रकृति की गन्दगी और यथार्थता की ओर हमारा ध्यान जाता है, वहीं मंगल वर्षा में पानी की छहराती धारा के बीच हरिताभ प्रकृति का खुला सौन्दर्य हमें अपनी ओर खींचने लगता है। सौन्दर्य और प्रकृति का कवि अपनी पूरी शक्ति जन-कल्याण के लिए लगा देना चाहता है। 'विशाल भारत' में प्रकाशित 'चित्रकार से' शीर्षक कविता से स्पष्ट है कि वह अपने पूरे काव्य-वैभव को जन-हित-साधना में लुटा देना चाहता है। उदाहरण देखिये :

बने तुझसे तो सतरंगी धनुष पर तीर को रख दे

बने तुझसे तो बहती आँख के आगे
मधुर तसवीर को रख दे
बने तुझको तो अपने तीर से
दो टूक कर दे एक ही छिन में

युगों के पीर के बादल
अगर उमड़े तो सुख ले कर
सजी तसवीर के बादल।

हरि व्यास की कविताएँ काफ़ी प्रौढ़ हैं। उनके कुछ चित्र तो इतने अनुभूति-परक हैं कि सीधे मन को छू लेते हैं। 'उठे बादल झुके बादल' शीर्षक गीत में जैसे प्यासे संसार की आर्त्त पुकार के स्वर बहुत देर तक गूँजते रहते हैं।

प्रयोगवादी काव्य की रूप-सम्बन्धी विशेषताओं पर विचार करने के पहले यह आवश्यक है कि हम प्रयोगवाद के उस रूप पर थी विचार कर लें जो 'नकेनवादी' प्रयोगवाद के नाम से विख्यात है। इस प्रयोगवाद के प्रयोग देखने में बहुत कम आये, इसलिए उन पर विचार करना उचित नहीं। पाठकों की कुतूहल-शान्ति के लिए उनका मैनीफेस्टो नीचे दिया जा रहा है—

प्रयोग दशसूत्री

प्रयोगवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप

१. प्रयोगवाद भाव और व्यंजन का स्थापत्य है।

२. प्रयोगवाद सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, उसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।

३. वह महान् पूर्ववर्तियों की परिपाटियों को निष्प्राण मानता है।

४. वह दूसरों से भी अपना अनुकरण वर्जित समझता है।

५. उसे मुक्त काव्य नहीं स्वच्छन्द काव्य की स्थिति अभीष्ट है।

६. प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रयोगवाद को साध्य।

७. प्रयोगवाद की इक्वाक्यपदीय प्रणाली है।

८. उसके लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान हैं।

९. प्रयोगवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है।

१०. प्रयोगवाद दृष्टिकोण का अनुसन्धान है।

हस्ताक्षरित
नलिनत्रिलोचन शर्मा,
केसरीकुमार, नरेश

पता नहीं दूसरों से भी अपना अनुकरण वर्जित समझने वालों ने प्रयोग दशसूत्री को राजनीतिक घोषणापत्र के पिटे-पिटाये प्रारूप में क्यों ढाल दिया।

प्रयोगशील काव्य के विषय-पक्ष पर विचार कर चुकने के बाद उसके रूप-पक्ष पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। प्रयोगशील कवियों ने आधुनिक कविता का, शिल्प विधान की दृष्टि से, नया शृंगार किया है। इस दिशा में 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व पूरे काव्य-

जगत् पर छाता जा रहा है और यह कहना शायद अनुचित न होगा कि उनके बहुत से विरोधी भी, छिपे तौर से ही सही, उनके प्रयोगों को ग्रहण करते जा रहे हैं।

नयी कविता में भाषा और छन्द की दृष्टि से क्रान्ति-सी उपस्थित हो गयी है। भाषा की दृष्टि से प्रयोगशील कवियों ने भावनाओं की स्पष्ट अभिव्यंजना के लिए तदनुरूप प्रयोग किये। फलस्वरूप एक ओर जहाँ अगोरना, चीन्हना, कसमसाना, गदराना आदि चित्र-व्यंजक देशी क्रियापदों का व्यवहार हुआ, वहीं लोप, लोर, आदि देशी शब्दों का भी, जिनमें नयी सजीवता दिखाई पड़ी। 'अज्ञेय' ने इस प्रकार के शब्दों का सर्वाधिक प्रयोग किया। दूसरी ओर उलझी मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए कुछ मोटे क़िस्म के संस्कृत शब्द भी प्रयुक्त हुए। भाषा में अभिव्यंजना की शक्ति बढ़ी। चलती मुहावरेदार भाषा के प्रयोग के कारण गतिमयता बढ़ी। भवानी प्रसाद मिश्र ने इस दिशा में कुछ अच्छे उदाहरण रखे। अभिनयात्मक अभिव्यक्ति के लिए बातचीत के लहजे आने लगे।

आधुनिक हिन्दी कविता में पहले-पहल पंत जी ने छन्दों पर 'पल्लव' की भूमिका में विचार किया था। प्रयोगशील कवियों में माथुर और माचवे ने विस्तृत विचार व्यक्त किये हैं। गिरिजा कुमार माथुर ने स्वरों की ध्वनि पर काफ़ी ध्यान दिया। अमूर्त ध्वनियों को और भी स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कुछ शब्दों के रूप में परिवर्तन भी किया। 'सूनसान', 'मोंदी', 'पीरामीड' आदि इसके उदाहरण हैं। दूसरी ओर उन्होंने सवैयों के टुकड़े मुक्त वृत्तों में प्रयुक्त किये। 'आज है केसर रंग रँगे बन' में इसका सफल प्रयोग मिलता है। 'अज्ञेय' के मुक्त छन्दों पर आधुनिक अंग्रेज़ी कवियों का काफ़ी प्रभाव है : प्रलम्बित और पुनरावृत्ति वाली पद्धति का प्रभाव स्पष्ट है। शमशेर पर उर्दू तर्ज का गहरा प्रभाव है। इनके प्रयोग कहीं तो बड़े चटकीले और सजग लगते हैं, कहीं कृत्रिम और चमत्कारिकमात्र।

प्रयोगशील कवियों की सबसे बड़ी विशेषता है उक्तिवैचित्र्य। वे अपने हर वाक्य में किसी ख़ास प्रकार की चौंकाने वाली बात कहना चाहेंगे। इसके लिए वे नवीन अप्रस्तुओं की भी सृष्टि करते हैं। ये अप्रस्तुत कभी कभी साधारण जीवन से बहुत दूर के होने के कारण प्रभावोत्पादक नहीं होते। फिर भी इस प्रकार की चमत्कारिक उक्तियों के बड़े सफ़ल प्रयोग मिलते हैं।

उधर उस नीम की कँलगी पकड़ने को झुके बादल
आज तेरा देश तेरे हाथ की तलवार है
गिर रही चारों तरफ हमदर्दियों की फुलझड़ी। (हरिव्यास)
सामने ऊपर उठाये हाथ सा पथ बढ़ गया। (शमशेर)
बाँसुरी की कब्र पर चुप का कफन मैं। (नरेश)
पानी होकर फैल गया मैं अपनी नीति पर

होती जाती है जुन्हाई एक कोरा काग़ज़। (रघुबीर)
प्यार घायल साँप-सा लेता लहर
ये खुश्क झँकोरे मुँह लटका कर बैठ गये। (भारती)

उक्ति-वैचित्र्य के अलावा प्रयोगशील काव्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है, नये प्रकार के आनुषंगिक वर्णन (Associations) जो संदर्भ-संयोजना के कारण और भी अधिक संकेतपूर्ण अर्थ-चमत्कार उपस्थित करते हैं। इस प्रकार के चमत्कारिक अर्थ के लिए प्रयोगशील कवि कई प्रकार के प्रयोग करता है। कभी संस्कृत या अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो संदर्भ-परिवर्तन द्वारा अर्थ वैचित्र्य जगाते हैं। उदाहरण के लिए प्रभाकर माचवे ने 'कछुआ' शीर्षक कविता में 'यदा संहरते चायं' का प्रयोग किया है। गीता के स्थितप्रज्ञ प्रसंग में इसका अर्थ विषयों से इंद्रियों का विकर्षण है, जब कि इस प्रसंग में इसका अर्थ मानव की संकुचित प्रवृत्ति की निन्दा की अभिव्यक्ति के लिए अभीप्सित जान पड़ता है। ऐसे प्रयोगों के लिए 'अज्ञेय' काफी मशहूर हैं। कभी-कभी सांकेतिक अर्थ ही प्रधान हो जाता है और उसकी सफलता के लिए बड़ी दूर की कौड़ी लानी पड़ती है। नीचे शमशेर की 'सावन' ('नईधारा' के सितम्बर, १९५२ के अंक में प्रकाशित) शीर्षक कविता में बादल के रंग चित्रण के लिए जो अप्रस्तुत लाया गया है, वह तो विचित्र है ही, साथ साथ उस अप्रस्तुत के प्रसंग में 'उस शाम' का महत्व सबसे अधिक है।

मैली मटियाली मिट्टी की चाक भीगी है पूरब में
× ×—या जैसे उस फ़ाख्ता के बाजू के अन्दर का रोआँ
कोमल उजला नीला कितना स्वच्छ
जिसको 'उस शाम' हमने मारा था..........।

वस्तुतः प्रयोगशील काव्य का शिल्प-विधान एक स्वतंत्र निबन्ध का विषय है। ऊपर के उदाहरण अपर्याप्त हैं, फिर भी विशेषताएँ तो स्पष्ट हैं।

सन्' ४५ के पहले प्रगतिशील काव्य में कोई भी ऐसी रचना नहीं दिखाई पड़ती जिसे विचारणीय समझा जाए। वस्तुतः इस काल तक प्रगतिशील कविता अपने विषय और तदनुरूप भाषा के अन्वेषण में ही लगी हुई थी। सन्'४५ के पहले की प्रगतिशील रचनाएँ बड़ी ही भोंडी और कभी-कभी तो काव्य-लक्षणों से वंचित प्राय थी। सन् ४५ के बाद प्रगतिशील कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन तथा रांगेय राघव, 'अगियाबैताल', गोरा बादल' आदि बहुत से जनकवि सामने आये। इन कवियों के अपने वैयक्तिक परिवेश शहरी मध्यवर्गीय कवियों (प्रयोगशील) से भिन्न थे। प्रगतिशील कवियों को उस खित्ते में पनपने का मौक़ा मिला जहाँ निर्वैयक्तिकता और सामूहिक सहयोग की भावना का नैसर्गिक विकास होता है। अतः इनकी रचनाओं में अपने परिवेश की साधारण से साधारण वस्तु के प्रति अगाध ममता और जीवन की व्यापक अनुभूतियों का सफल

चित्रण मिलता है। नागार्जुन की कविताएँ उनके व्यक्तित्व की तरह ही बड़ी खुली और साफ़ हैं। मिथिला की मिट्टी के प्रति उनका सहज स्नेह है, जो उनकी रचनाओं में फूटा पड़ता है। घर से दूर रहने पर जब उन्हें सदानीरा के किनारे उस प्रथम मिलन की बात याद आती है, तब उनकी आँखें भर जाती हैं; परन्तु उस मिलन की अपेक्षा उस तट की याद अधिक कष्टदायी है। मिथिला की सोंधी मिट्टी में मकई, मडुआ, गह्मड़ी, धान आदि बोये जा रहे होंगे, यह सोच-सोचकर प्रवासी कवि विच्छेद के दुःख से भर जाता है—

यदि कदाचित् सदानीरा के किनारे
खड़े होकर
ध्यान में आ जाए वह क्षण
जब कि पहले-पहल हम तुम मिले थे
औ' परस्पर ताकते ही रह गये थे।
यदि कदाचित् मकइ मडुआ
धान गम्हड़ी
साम, कावन आदि
बोये जा रहे हों
वाग्मती कमला कि गण्डक कोसकी के
स्वर्णगर्भित अंचलों में
तो तुम्हारे कंठ से ही
महाकवि मेरा गरजने जा रहा है
दूत बन कर मेघ विरहिन को न आगे ठग सकेगा
मंद क्रम के छंद हो जाएँ अब तीव्रगामी
नहीं होंगे दास होगा, नहीं स्वामी

इस हुँकार के बाद उनका कवि-हृदय पिघल-सा जाता है। वे पुनः उसी प्रदेश की भावनाओं में डूब जाते हैं। उनकी यह लाचारी पाठक के मन में अद्भुत सहानुभूति, पर साथ ही वर्तमान व्यवस्था के प्रति, जो एक कवि को भी दर-दर की ठोकर खाने के लिए बाध्य करती है, वितृष्णा का भाव भर देती है—

भर गयी होगी अरे वह वाग्मती की धार
उगे होंगे पोखरों में कुमुद पद्म मखान
आँख मूँदे कर रहा मैं ध्यान (हंस, अगस्त'४७)

नागार्जुन की हिन्दी कविताओं का शायद अब तक कोई संग्रह नहीं निकला। उनके मैथिल गीतों का एक अच्छा संग्रह 'चित्रा' नाम से अवश्य प्रकाशित हुआ है हिन्दी कविताएँ समय-समय पर पत्रिकाओं में आती रही हैं। उनकी 'रवि ठाकुर', 'गान्धी जी की मृत्यु

पर', 'पाषाणी' तथा हाल में दिल्ली पर लिखी गई कविताएँ किसी भी संग्रह को गौरव दे सकती हैं ।

सन् '४७ में केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का संकलन 'युग की गंगा' नाम से निकला । केदार की 'युग की गंगा' वस्तुतः युग की गंगा है, जो जीर्ण-शीर्ण सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त करती, यहाँ तक कि ईश्वर की सत्ता को भी चुनौती देती हुई, वह चली । केदार की कविताओं में एक ओर साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रति घोर असन्तोष, मजदूरों-किसानों को उद्‌बोधन के संदेश हैं, तो दूसरी ओर बुंदेलखंड की प्रकृति के नैसर्गिक चित्र हैं, जो मन को गुदगुदा देते हैं । उनकी 'वसन्ती हवा' हर पाठक से छेड़खानी करने के लिए मचल उठती है । 'मिट्टी का वैभव', 'कानपुर का शहर' आदि कुछ कविताओं में सिर्फ नारेबाजी और नीरसता ज़रूर मिलेगी; पर 'चन्द्रगहना से लौटती बेर', 'सावन का दृश्य', 'चित्रकूट के यात्री' आदि रचनाएँ अपने प्रभाव से तमाम अभाव और कमियों को ढाँक देती हैं।

त्रिलोचन की कविताओं ('धरती' और नये सानेट्स) में उनके संघर्ष रत जीवन के वैषम्यों के कारण जहाँ एक ओर मन के दर्द भरे आत्माभिव्यंजक गीत और सानेट्स मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर उनकी रचनाओं में संघर्ष-जन्य बौद्धिकता के कारण नीरसता और गद्यात्मकता भी दिखाई पड़ती है ।

प्रगतिशील प्रवृत्तियों को जनता तक पहुँचाने में जनकवियों ने बड़ा सफल प्रयत्न किया । इनकी साम्राज्यवाद विरोधी, बिरहे, कजली और जनगीत-पद्धतियों पर लिखी रचनाएँ बड़ी प्रसिद्ध रहीं ।

प्रगतिशील कवियों ने यथार्थ जीवन के चित्रण दे कर काव्य की वर्ण्य वस्तु में विस्तार तो किया ही, उन्होंने भाषा में एक नवीन जन-जीवन की गमक ला दी ।

इन प्रगतिशील कवियों के अलावा बीसियों अन्य कवि काव्य-साधना में निरत रहे, जिनके बारे में विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा । इन कवियों में सर्वप्रथम स्व० चन्द्रकुँवर बर्त्वाल का नाम इसलिए लिया जा रहा है कि इस सहज़ प्रतिभा-सम्पन्न कवि का असमय देहावसान न हुआ होता, तो वह आज प्रयोगशील या प्रगतिशील—दोनों धाराओं के किसी के भी श्रेष्ठ तरुण कवि से पीछे न रहता । बर्त्वाल की रचनाओं का कोई भी संकलन देखने में नहीं आया; फिर भी स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त उनकी २१ रचनाओं का संग्रह 'वैदिक कविताएं' शीर्षक से सरस्वती के जुलाई, १९४६ के अंक में और २० कविताओं का संग्रह 'हिमालय' शीर्षक से उसी पत्र में उसी वर्ष के अक्तूबर-अंक में प्रकाशित हुए हैं । इन गीतों में पहाड़ी प्रकृति का उन्मुक्त सौन्दर्य तो है ही, निर्झरिणी की तरह कलागामिनी भाषा का भी अद्भुत प्रवाह दिखाई पड़ता है । वैदिक कविताओं में प्राचीन गोचारण जीवन के अप्रस्तुत बड़े ही मनोरम बने हैं । 'ज्योतिधान,' 'ज्योतिमेघ', 'ज्योतिनागिनी', 'यमेषवृणुते', 'गोमती के बाँध पर', दारुण सौन्दर्य' आदि

रचनाएँ काफ़ी प्रौढ़ और सुन्दर हैं। 'ज्योतिनागिनी' का एक खंड नीचे दिया जाता है:—

सुन घन-गर्जन छितर दौड़ती
गो-समूह-सी बदली
ग्वाले की लकुटी-सी रह-रह
चमक रही है बिजली

जनता को उद्‌बोधन श्रौर जागरण के गीत सुनाने वाले कवि शिवमंगल सिंह 'सुमन' की रचनाएँ बड़ी प्रभावोत्पादक और ओजस्वी रहीं। इस काल में बहुत से सिद्ध प्रसिद्ध कवि भी अपनी विश्रुत काव्य-साधना में लगे रहे। मैथिलीशरण गुप्त ने 'हिडिम्बा' लिखा तो पंत जी ने 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि'। अपने नये प्रयोगों से प्रयोगशीलों तक को भी रास्ता दिखानेवाले कविमूर्धन्य 'निराला' के तीन संकलन आये। 'नये पत्ते' और 'बेला' में कवि के व्यंग्य बढ़े ही तीखे और गीत चुभते बने हैं। 'अर्चना' में वृद्ध कवि के एकान्त चिन्तन-क्षणों के भक्ति-पगे गीत हैं, जो बीसवीं सदी के 'रहस्य' से बहुत अंशों में अछूते, अतः बड़े ही सरस हैं। इसी काल में कविवर दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' लिखा जो 'साकेत' और 'कामायनी' की प्रबन्ध-परम्परा को एक क़दम आगे बढ़ाता है। कविवर बच्चन के बहुत से नये गीत तथा उनका संग्रह 'मिलन यामिनी' निकला। 'समय की शिला' वाले गीत के लिए जनता में ख्यात कवि शंभूनाथ सिंह ने 'मन्वन्तर' लिखा। ठाकुरप्रसाद सिंह ने कुछ सन्थाली गीतों का बड़ा ही मनोरम अनुवाद प्रस्तुत किया।

इस प्रकार वर्तमान काल में प्रयोगशील कवियों ने भाषा को नयी शक्तियाँ दीं, प्रगतिशील कवियों ने काव्य की वर्ण्यवस्तु में विस्तार किया। फिर भी प्रयोगशील कवियों से एक खास प्रकार का प्रश्न किया जा सकता है। वह यह कि इतना अलंकरण, इतने प्रयोग, ये छन्द—ततः किम्। इनका उद्देश्य-साध्य क्या है? और हम इसके उत्तर में प्रयोगशील कवियों में अग्रणी 'अज्ञेय' का एक उद्धरण दे कर उनका ध्यान उनके गन्तव्य की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। 'अज्ञेय' ने सन् '४७ के हंस के दिसंबर अंक में ४५-४७ की काव्य प्रगति की समीक्षा करते हुए लिखा—"यह अनुभव करके कि काव्य को वस्तु और रूप इन दो खण्डों में बाँट देना अभिव्यक्ति अथवा निवेदन की समस्या का एक कृत्रिम सरलीकरण है—कुछ कवि शब्द की शक्तियों के अन्वेषण की ओर आकृष्ट हुए और ध्वनियों तथा स्वरों में अर्थ की प्रतिपत्तियों के किए प्रयोग करने लगे....किन्तु यह यह केवल एक प्रवृत्ति थी। इसकी अपनी सीमाएँ थीं।....यह प्रवृत्ति गहराई की खोज शब्द के अर्थ को अधिक गहरा बना देने की चेष्टा—बल्कि परिणामतः काव्य के क्षेत्र को केवल विदग्ध मर्मज्ञों तक सीमित कर देने वाली भी थी।"

और आज का प्रयोगशील काव्य यदि अपने को विदग्धों तक ही सीमित रखेगा, तो शायद यह उसकी अंतिम घड़ी होगी। आज अलंकार्य ढूँढ़ने की ज़रूरत है। मेरी समझ से इस दिशा में दोनों प्रवृत्तियों के कवि एक दूसरे से काफ़ी सहायता ले सकते हैं। ● ●

नयी कविता : कुछ प्रश्न

●

नयी कविता का रूप काफ़ी स्थिर हो चुका है, ऐसा अब वे कवि भी मानने लगे हैं जिन्हें आरंभिक दिनों में इसके बारे में काफ़ी शंकाएँ थीं। 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में वात्स्यायन ने लिखा है कि "अब वह परिस्थिति नहीं है, जब नयी कविता की स्थिति झारखंड की झाड़ी पर अप्रत्याशित फूले हुए वन-कुसुम की-सी अकेली थी, वहाँ उन्हें यह भी सुविधा थी कि उनके यत्किंचित् अवदान की माप झारखंड के ही संदर्भ में हो सकती थी, दूर के उद्यानों से कोई प्रयोजन नहीं था—अब स्थिति बदल गयी है....इसलिए अब यह आवश्यक हो गया है कि स्वयं उसके आलोचक तटस्थ और निर्भय भाव से उसका परीक्षण करें। दूसरे शब्दों में परिस्थिति की माँग यह है, कविगण स्वयं एक-दूसरे के आलोचक बनकर सामने आएँ।" वात्स्यायन का यह मनोरथ सिद्ध हुआ और कविगण एक-दूसरे के आलोचक बनकर सामने आये और नयी कविता में दूसरों के विरुद्ध मोर्चा बनाने की जो एकता थी, वह बिखर गयी....बातें स्पष्ट रूप से सामने आ गयीं। अज्ञेय ने आरंभ में जो तरीक़ा निकाला था, यानी नयी कविता की पृष्ठभूमि में विद्यमान हिन्दी काव्य की गतिशील परम्परा की अस्वीकृति....और नयी कविता को झारखंड में खिलाने का प्रयत्न....उस तरीक़े को नये कवियों ने भी स्वीकार किया और एक स्वर से नारा लगा कि नयी कविता अज्ञेय तथा उन जैसे नये कवियों की कृतियों से बहुत भिन्न हो चुकी है। अज्ञेय का नयी कविता के स्थापन में महत्त्वपूर्ण योग स्वीकार करते हुए यह कहा गया कि "ऐतिहासिक संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण दायित्व निभाना एक बात है और उस निर्वाह की प्रक्रिया में नये पनपते सत्यों को परखकर उसके अस्तित्वबोध को भी स्वीकार करना, उससे भी बड़ा दायित्व है—जो उन्होंने नहीं किया....।" इस कारण अज्ञेय, और तीनों सप्तकों के अधिकांश कवियों को रागात्मक ऐश्वर्य-बोध के कवि कहकर एक तरफ़ कर दिया गया। ('लहर'—कविता-विशेषांक, पृष्ठ १९०) दूसरी ओर इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए यह कहा गया कि "अज्ञेय प्रसाद की परम्परा की अगली कड़ी हैं। दर्शन और अनुभूति को घुलाने के लिए अज्ञेय वहीं से आरंभ करते हैं जहाँ प्रसाद ने छोड़ा था, प्रसाद और अज्ञेय की समानता सहसा आश्चर्य में डालती है....।" (नयी कविता ५–६ पृष्ठ ११६)। इस तरह की मनोवृत्ति अभिव्यक्ति पाने के पहले भी छिट-फुट ढंग से व्यक्त होने लगी थी और संभवतः इसी को लक्ष्य करके अज्ञेय ने लिखा :

"आ तू आ, हाँ, आ, मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर, मिटाता उसे, मुझे मुँह

भर-भर गाली देता, आ तू आ—जयी, युगनेता, पथ-प्रवर्तक, आ तू आ ओ गतानुगामी....''

और इससे, बक़ौल डा० जगदीश गुप्त, नवोदित कवियों के स्वाभिमान पर ठेस लगी और एक कवि ने लिखा...."हमें प्रतीक्षा न थी तुम्हारे आवाहन की/हम आये आवाहन के पूर्व ही..../नये भिन्न पथ से जो तुम्हें अज्ञात था/हमने नहीं रखे चरण तुम्हारे पदचिह्नों पर/आह हमारा यह दोष नहीं था कि सूर्य की तरह अभिमानी होकर भी/तुम असमय अस्त हो गये..../हमें आहूत करने वाले पितर/कैसी विडम्बना है सम्बोधन की..."

अस्तु, ऊपर के इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि नयी कविता अज्ञेय से भी बहुत आगे जा चुकी है। उसमें अज्ञेय का स्वर मंद हो गया है और यह नयी धारा बड़ी तेज़ी और शक्ति के साथ छा गयी है...नये कवियों के मुताबिक इसके प्रभाव से साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं है—यह है नयी कविता का यथार्थवादी आन्दोलन।

इन कवियों ने अपने काव्य का मुख्य आधार लघुमानव को बनाया है। इस लघुमानव को लक्ष्य करके पंत जी ने लिखा है, "प्रेमचन्द का यथार्थ राजनीतिक दाँवों-पेचों का यथार्थ न होकर मानवीय तथा साहित्यिक यथार्थ था—वह लघुमानव की कुंठाओं से भरा तुच्छ आत्मपीड़ित यथार्थ नहीं, जिसमें मनुष्य परिस्थितियों की निर्ममता को अपनी रीढ़ तोड़ने देता है और अपनी आगे न बढ़ सकने वाली लुंज-पुंज भरी, वास्तविकता का आत्मचित्रण कर आत्मतृप्ति का अनुभव करता है।" (चितम्बरा, पृष्ठ १७)। पंत जी को लघुमानव-समर्थक लोगों ने उत्तर दिया..."पंत जी 'बाबूज़ आव नैनजोरे' के भाव-बोध के कवि हैं....किसी ऐश्वर्यशाली नये गवर्नर की आमद सुनकर जैसे वह दिवालिया पात्र अपने खानदानी दुशाले में पेवन्द लगाकर उसकी जीर्णता की रक्षा करना चाहता है, वैसे ही पंत जी छायावाद में नयी कविता का पेवन्द लगाना चाहते हैं—पंत जी हमेशा अपनी खिचड़ी अलग पकाते रहे हैं।"—आदि-आदि।

लघुमानव का अर्थ लघु में वृहद् की संभावना कदापि नहीं है। लघुमानव की परिभाषा यदि इन्हीं की रचनाओं के आधार पर की जाए, तो होगी....एक गलित, व्यक्तित्वहीन, अनैतिक, क्षुद्र यथार्थवादी, चिड़चिड़ा, कुंठित, निराशाग्रस्त, विकृत सेक्स का पुजारी, खोखली हँसी और मिथ्या रोब का मुखौटा लगाये रहने वाला मानव-मूल्यहीन प्राणी। यह सिर्फ मज़ाक़ या व्यंग्य की बात नहीं है। हिन्दी कविता में आज मानव का चित्रण जिस रूप में हो रहा है, वैसा जघन्य और जुगुप्सित वर्णन भारतीय साहित्य के किसी युग में, कभी नहीं हुआ था। आज का मानव सभी प्रकार की नैतिक आस्थाओं से हीन है। उसके सामने न व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का प्रश्न है, न सामाजिक। आत्मा की भूख का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऊँचे स्तर की पत्रिकाओं तक में जिस प्रकार का साहित्य धड़ल्ले से छापा जा रहा है, उसे देखकर अपनी साहित्य-परम्परा के प्रति

एक अजीब आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न होता है। इन विकृतियों को सिर्फ़ नाना रूपों में प्रस्तुत ही नहीं किया जा रहा है, बल्कि इन्हें उचित ठहराने के विशाल प्रयत्न भी किये जा रहे हैं। जिन लोगों ने, अज्ञेय के हाथों से, उन्हें पिछड़ा कहकर, नेतृत्व अपने हाथ में लिया उन्होंने साहित्य को किस स्तर पर पहुँचा दिया है, इसके चन्द उदाहरण देखे जा सकते हैं...

> प्रियम्वद जब से तुमने सँपेरे का पेशा अपनाया,
> कन्धों पर पिटारा रखकर देश-विदेश में तुम साँप दिखाने गये
> मैंने इस बीच जाने-अनजाने कई जारज सँपोले जने
> उन सबका नाम तुम्हारे नाम से संबद्ध है
> म्युनिसिपल बोर्ड के मृत्यु और पैदाइश के रजिस्टर में
> उनके नाम के साथ तुम्हारा नाम दर्ज है
> मैं क्या करती प्रियम्वद
> फ़र्ज़ फ़र्ज है
> और सुनो प्रियम्वद
> यदि मैं तुम्हें मरा हुआ जानकर
> इन सँपोलों को तन से बाहर न निकालती
> तो यह ज़हर मेरे नासूर
> मेरे मर्मस्थल से टपक पड़ते
> पृथ्वी क्षार-क्षार हो जाती
> चारों ओर त्राहि-त्राहि मच जाती।—ल. कां. वर्मा

इस कविता में लघुमानव के किस मानव मूल्य का चित्रण हुआ है, यह तो कवि ही बता सकता है। यहाँ "जारज सँपोले" जनने की विवशता का चित्रण नहीं है, तब तो शायद मातृत्व ग्लानि से झुका होता, जारज सँपोलों के सृजन का गर्व हमारी मानवता की नयी उपलब्धि होने जा रहा है। मैं आदर्शवादी ढंग से समाजिक कुत्सित सत्य से आँख नहीं मूँदना चाहता, पर यह सत्य नया मानव-मूल्य है, इसे चाह कर भी स्वीकार करने की शक्ति मुझ में नहीं है। यह लोहिया का समाजवादी लघुमानव नहीं है।

कुछ समझ में नहीं आता कि हम रचनाकारों को क्या हो गया है। क्या आधुनिक होने के कारण ही हमारे लिए पौराचार का कोई मूल्य नहीं है। क्या हमारे नये भाव-बोध एक क्षण रुक कर अपने पारिवारिक जीवन पर सोचने को भी पुरानापन समझने लगे हैं। कोई किसी मित्र के घर आमंत्रित हो कर जाने पर उसकी बहिन की ढली हुई छातियाँ देखता है, कोई इस बात पर प्रसन्न है—"जब हम सुन्दर होते हैं अपने शरीर के विह्वल गुम्फन में/कहाँ होती है दुनिया उस समय/उसके वे क्षुब्ध पिता और पागल परेशान भाई/क्यों उस समय दफ़्तरों और क्लासों में काम करते होते हैं/और सिर्फ

हमारे लिए छोड़ दिया जाता है/हलकी धूप से उजला सुनसान/कहाँ होती है दुनिया उस समय/जब तुझे अपने सारे अंगों से थाम लेता हूँ/और एक तृप्ति में स्थिर कर देता हूँ तेरा सौन्दर्य/"—अशोक बाजपेयी

मैं चाहूँ भी तो यह मानने की जी नहीं चाहता कि अशोक बाजपेयी जैसे शरीफ़ लोग "पौराचार" से इतनी नफ़रत करते हैं हैं। क्या आज आदमी का एक-दूसरे आदमी की शराफ़त पर विश्वास करना ही अपराध हो गया है ? ये लघुमानव किसी भी प्रकार व्यक्तिगत अथवा सामाजिक नैतिकता में विश्वास नहीं करते और इसकी आश्चर्यजनक परिणति शान्ता सिन्हा की "समानान्तर सुने" पुस्तक में हुई है जिसकी अश्लीलता की कोई तुलना शायद ही किसी सभ्य जाति के साहित्य में मिले। मैं इस तरह के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं समझता, क्योंकि ये किसी भी कविता-पत्रिका में ढेरों मिल जाएँगे।

लघुमानव की दूसरी विशेषता अहं का विकृत स्फालन है। अहं दो रूपों में व्यक्त हो रहा है। एक तो खोखले विशेषणों के चित्रण में और दूसरे, अपने को नाना रूपों में घृणित कह कर। यह देख कर आश्चर्य होता है कि हिन्दी की नयी कबिता में जहाँ अहं के विलयन का नारा लगाया गया था, छायावादी "मैं" का विरोध किया गया था, "मैं" की आज नाना विकृत भंगिमाएँ सहस्रों रूपों में झलक रही है। किसी की आत्मा में लाशे सड़ रही हैं, किसी का "मैं" आदिम अंधकार की चट्टानों से ढँका है, किसी का "मैं" बन्द कमरे के दानव से जूझ रहा है, किसी का "मैं" अपने को कुत्ता, गधा कहकर परितृप्त हो रहा है। कोई अपने की गरुड़ बताता है, कोई सर्प, कोई अपनी आत्मा में नंगे शव देख रहा है, कोई गिरते हुए मन्दिरों के खँडहर। इस "मैं" की ऐसी दुर्गति किसी काव्य में नहीं हुई थी। नयी कविता में व्यक्तित्व का वस्तुओं में विलयन मुख्य गुण माना गया था। टी० एस० इलियट ने लिखा है कि "आज की कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं व्यक्तित्व से बचाव चाहती है। कवि की विशेषता इस बात में है कि वह किस प्रकार अपनी वर्ण्य वस्तुओं में अपने व्यक्तित्व की डुबा देता है, किन्तु ऐसा वही कर सकते हैं जिनके पास खुद का महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व हो।" क्या नयी कविता में आत्म-वक्तव्य देने की प्रवृत्ति उसकी घनघोर आत्मरहति का द्योतक नहीं है ? नये कवि अपने विकृत व्यक्तित्व को जिस प्रकार खोखलेपन के ऊपर मुखौटा डालकर स्थापित करते हैं, वह उनकी व्यक्तित्वहीनता का बहुत बड़ा प्रमाण है। कहा जाता है कि खोखलेपन के उदात्तीकरण की यह प्रवृति इलियट की 'हैलो मैन' जैसी कविताओं से अनुप्रेरित हुई। पर सच पूछिए तो हमारे आज के साहित्य में इलियट का जितना शोषण किया गया है, उतना शायद ही किसी का हुआ हो।

हम यह भूल जाते है कि इलियट एक कट्टर कैथोलिक आध्यात्मिक आस्था का कवि है। उसने अपनी परम्परा का पूर्ण अवगाहन किया है। इसी कारण उसके विरोधों

में भी ताक़त है। एक जानकार व्यक्ति की आपत्तियाँ है। वह हमारे जैसा अध्ययन-हीन व्यक्ति नहीं है। हम पुराने को बिना समझे, कूड़ा कह कर नज़रअन्दाज़ कर देना चाहते हैं।

असल में, पुरानी पीढ़ी के लोग अथवा अतीत के यश:काय लेखक हमें ज़बरदस्त विरोधी के रूप में कभी नहीं पाएँगे—वे यही सोचेंगे कि हम खोखले हैं, भूसा-भरे इंसान हैं। वस्तुत: हिन्दी के इन नये कवियों के पास अपना व्यक्तित्व है ही नहीं जिसे समाज में अथवा अपने से बाहर की वस्तुओं में विलय कर सकें। एकरसता और पिटी-पिटाई एक ही 'थीम' पर, एक ही शब्दावली में लिखी जाने वाली कविताएँ इसका उदाहरण हैं। वैयक्तिक कविता बुरी नहीं है, क्योंकि, वहाँ "मैं" सम्पूर्ण विश्व को देखने का माध्यम है, किन्तु जब "मैं" "मैं" को ही देखता है, उस "मैं" को, जिसके अन्दर आस्था के सड़ते हुए शव के अलावा कुछ न हो तो वहाँ दुर्गन्धि का फैलना अनिवार्य है। मैं यह जानता हूँ कि "मैं" का अर्थ सिर्फ मैं नहीं है, कवि अपने माध्यय से भी जगत्-सत्य की अभिव्यक्ति करता है, किन्तु नयी कबिता का "मैं" कवि को अनुभूतियों से निर्लिप्त नहीं हुआ है। उसमें छायावादी या दादावादी "मैं" का विस्तार हुआ है, उससे भी अधिक विकृत और भद्दे रूप में।

लघुमानव की दूसरी उपलब्धि यह है कि वह अपने को संघर्ष से उत्पन्न जागरूक प्राणी बताता है। समझ में नहीं आता कि निजी मन की गुहा में केन्द्रित रहने वाले संघर्ष की क्या परिभाषा देते हैं। उनका संघर्ष उसी प्रकार का है जैसे कोई बन्द कमरे का प्राणी अपनी छायाओं से लड़े। आज की नयी कविता कुछ चार-पाँच सौ अनर्थक शब्दों में सिमट कर रह गयी है। इतनी सीमित शब्दावली का प्रयोग करनेवाला काव्य जीवन के संघर्षों की कितनो गहरी अभिव्यक्ति कर सकता है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। सारा साहित्य मध्यवर्गीय कुंठाग्रस्त थोड़े से बुद्धिजीवियों की वस्तु बनकर रह गया है। सारा संघर्ष काफ़ी के प्यालों तक सीमित है। इस पर तुर्रा यह कि संकट (क्राइसिस) का चित्रण नयी कविता में ही हो रहा है। असल में, यह इस प्रकार के कटे हुए प्राणी हैं, जिनके लिए, न तो अतीत का कोई महत्व है न तो भविष्य की कोई आशंका। ये वर्तमान के एक टुकड़े में ही सीमित हैं जिसे भो सार्थकता देने की शक्ति इनके पास नहीं है।

ऐसा क्यों है? असल में, इस प्रकार की स्थिति के मूल में कई प्रकार के कारण हैं। पहला, और सबसे बड़ा, कारण यह है कि आज साहित्य में असंस्कृत साहित्यकारों की जितनो भरमार है उतनी कभी न थी और जब साहित्यकार आत्म-मंथन और आत्म-जिज्ञासा का भाव छोड़ देता है तो उसकी यही परिणति होती है। शमशेर ने बड़ी-ईमानदारी के साथ लिखा है कि मैं यह जानता हूँ नि "हिन्दी अपने आप को अलग ज़मीन पर पक्का कर चुकी है और करती जा रही है। माथा झुका कर स्वीकार करता

हूँ कि संकृत उसकी जननी है, उसका दूध अघा कर पिये बिना लेखनी में कोई शक्ति और साहित्यिक संस्कारों में कोई बल नही आएगा।" (लहर कविता विशेषांक पृष्ठ, ८१) किन्तु इतनी ईमानदारी और आत्म-मंथन आज के कितने कवियों में हैं। असल में, प्राचीन संस्कृति, परम्परा और साहित्यि के प्रति हमारी उदासीनता खतरनाक सीमा तक बढ़ गयी है। हमने, इस डर से कि कहीं हमें कोई प्राचीनवादी अथवा परम्परावादी न कहने लगे, प्राचीन वाङ्मय का तिरस्कार कर दिया है। यह कितनी अशोभन स्थिति है जब कि आज सारा विश्व विनाश और विनिपात के कगार पर खड़ा है और वह बड़ी आतुरता से भारत की ओर देख रहा है, जिसकी सांस्कृतिक परम्परा न केवल विशाल और व्यापक है, बल्कि उसमें ऐसे अशान्ति पूर्ण क्षणों में कुछ समाधान प्रस्तुत करने की शक्ति भी है, हमारे लिए यह सारा अतीत त्याज्य हो जाए और भार मालूम हो, इससे बड़ा चिन्ता का विषय और क्या हो सकता है। सत्य तो यह है कि आज की स्थिति उस क्रान्तिकारी वक्तव्य की अनुचित परिणति है जो यह मानता है कि नयी कविता नयी ज़मीन पर शुरू हुई, वह झारखण्ड के बनकुसुम की-सी स्थिति में थी। यह कथन यदि 'निराला' जैसे प्रयोगवादियों को नकार सकता था, तो उसकी परिणति प्राचीन साहित्य को त्याज्य क्यों न बना देगी।

जिस प्रकार परम्परा हमारे लिए त्याज्य हो चुकी है उसी प्रकार धर्म, दर्शन और नैतिकता भी। मेरे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि कवि अथवा लेखक को धर्म का व्याख्याता, धर्मप्रचारक अथवा नैतिकता का शिक्षक होना चाहिए। नही मैं यही कहना चाहता हूँ कि धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र का अध्ययन कविता के लिए अनिवार्य पृष्ठभूमि है। मैं धर्म शब्द का अर्थ कर्मकाण्ड और रसम के रूप में कदापि नहीं कर रहा हूँ। मैं धर्म का अर्थ मानव मूल्यों, मनुष्य को आगे बढ़ाने वाले मानव-मूल्यों, के ही रूप में कर रहा हूँ। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अपनी निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितियों में, मानव के लिए कुछ न कुछ आवश्यक जीवन-मूल्य रहे हैं, जिनकी वह बड़ी तत्परता से रक्षा करता आ रहा है। उसमें परिवर्तन हुए हैं, विकास हुए हैं, परन्तु जीवन में मूल्यों का राहित्य कभी नहीं आया है।

हमारा साहित्य धर्म-निरपेक्षता के कारण नष्ट हो रहा है, हम ऐसा नहीं मानते। धर्म अथवा ईश्वर में बिना विश्वास किये भी मानवता की चरम उपलब्धि को पाया जा सकता है जैसा एनी बेसेण्ट ने नेशनल सेकुलर सोसाइटी में १८९० में कहा था : "मेरे सेक्युलर सोसायटी के अनुभवों ने यह शिक्षा दी है कि ईश्वर या परलोक में बिना विश्वास के भी, मनुष्य में असीम साहस, उच्चकोटि के आत्मोत्सर्ग और वीरतापूर्ण आत्मत्याग की भावना पैदा हो सकती है, क्योंकि ये मनुष्यता के स्वभावज फूल हैं।" किन्तु मनुष्यता के ये फूल तभी फूलते हैं जब हम इतना सोचें कि हम क्या चाहते हैं और हमें क्या होना चाहिए। इस संदर्भ में इलियट की इन पंक्तियों का महत्त्व है, जिसे हर व्यक्ति

को कई बार दुहराना चाहिए, और इलियट-भक्त नये कवि को तो और भी दुहराना चाहिए : "एक सच्चा ईसाई होने के नाते, और साहित्य का पाठक होने के नाते भी यह हमारा उद्देश्य होना चाहिए कि हम जाने कि हमें क्या पसन्द करना चाहिए था, एक ईमानदार आदमी के नाते हमें यह कभी मान नहीं लेना चाहिए कि हम वही पसन्द करते हैं जो हमें पसन्द करना चाहिए था। ईमानदार पाठक के रूप में हम यह न मान लें कि हम तो वही पसन्द करते हैं जो हमें पसन्द करना चाहिए।"

(रिलीजन एण्ड लिटरेचर)

जिस प्रकार हम अतीत से विमुख हैं उसी प्रकार वर्त्तमान की समस्याओं से भी। हम यह कभी सोचते ही नहीं कि हमारे ऊपर कोई उत्तरदायित्व भी है। समाज के खोखलेपन, प्रदर्शन, मिथ्याडम्बर, ढकोसले आदि की अधिकता से परेशान हो कर कन-कौवा-प्रवाह में बह जाना उस साहित्यकार का कार्य नहीं है जिसे सदा ही एक बहुत बड़े उत्तरदायित्व को निभाना पड़ा है। नयी कविता परिपाटी के विरोध में खड़ी हुई थी, और यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज सभी के सभी कवि एक बनी बनाई परि-पाटी को माथा झुका कर स्वीकार कर ले रहे हैं। फलस्वरूप नयी कविता में अलग-अलग तरह के संस्कार-सम्पन्न व्यक्तित्वों का एकान्त अभाव दिखाई पड़ता है। विशिष्ट व्यक्तित्व की बात तो दूर, सामान्य स्वस्थ साहित्यिक व्यक्तित्व का भी सही रूप लुप्त होता जा रहा है। ऐसा इसलिए है कि यह, एक ओर, अपनी परम्परा से विच्छिन्न है जो हमारे ऊपर जीवन मूल्यों का बन्धन डालती थी, दूसरी ओर, हम आज की परिस्थितियों से भी अनभिज्ञ हैं, जो नित्य प्रति हमारे जीवन में परिवर्तन और संघर्ष उत्पन्न कर रही हैं। हम ऊपरी, सतही परिवर्तनों को ही मूल समस्या मान कर उन्हीं की अभिव्यक्ति से सन्तुष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार आधुनिकता के नाम पर हमने कायिक और ऊपरी स्थूल परिवर्त्तनों को पकड़ रखा है, उसी प्रकार विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बाह्य रूप को ही एक क्षण के लिए सोच कर अपने कर्म की इतिश्री मान लेते हैं। भविष्य के प्रति भी हमारी उदासीनता कम खतरनाक नहीं है। आज बहुत थोड़े से साहित्यकार हैं जो वैज्ञानिक जगत् की हलचलों से परिचित हैं और उनसे उत्पन्न खतरों के प्रति साव-धान हैं। हमारी इस प्रकार की भूत और वर्त्तमान के प्रति उदासीनता, आत्मरति, खंडित सत्यों के प्रति रुझान, काम-विकृति का नग्न चित्रण, जीवन मूल्यों के प्रति अना-स्था का भाव, और इस सारे खोखलेपन को छिपाने के लिए अहं का विस्फार, हमें न तो अपने प्रति उत्तरदायी बनाता है और न तो उस देश और काल के प्रति, जिसमें हम निवास करते हैं। अतः आज साहित्यकार के लिए पुनः एक बार रुक कर अपने और अपनी कला के बारे में तथा उसके मूल में अन्तर्निहित सत्यों के बारे में शान्तचित से विचार करने की आवश्यकता है।

मनुष्य कभी भी लघुमानव नहीं है। मनुष्य को लघु उसकी अज्ञता बनाती है।

भारतीय संस्कृति की कोई भी विचार धारा, कोई भी दर्शन, कोई भी साहित्यिक सम्प्रदाय मनुष्य को कभी लघु नहीं मानता। वे मनुष्य को हमेशा महत् मानव मानते हैं। वह प्रकृति का लघु संस्करण है। उसकी इकाई में, उसके भौतिक, 'ईथरिक', मानसिक और आत्मिक खंडों में प्रकृति की तमाम शक्तियाँ, संक्षिप्त रूप में, एकत्र हैं। वह सदा महत् रहा है और रहेगा। वह विषम से विषम संघर्ष की स्थिति में भी महत्ता को सुरक्षित रखता रहा है और सुरक्षित रखता रहेगा। उनके मन में, हमेशा, आशा की निराशा पर, आस्था की कुण्ठा पर, विश्वास की भय पर और विज्ञान की अज्ञान पर विजय होती रही है। आज की भयग्रस्त मानवता के लिए मनुष्य की काया और आत्मा में निहित इन शक्तियों की ओर संकेत करना आवश्यक है। यदि मनुष्य प्रकृति का ही लघु रूप है, जैसा वैज्ञानिक मानते हैं, तो हमारा कर्तव्य उसके भीतर के अज्ञात शक्ति-स्रोतों की खोज होनी चाहिए—उसके तन और मन की अथाह शक्तियों के प्रति उसे जागरूक बनाना चाहिए। हमारा कर्तव्य उसे लघु और लुंजपुंज बनाना तो कदापि नहीं होना चाहिए। इस शक्ति में अतीत की संबलवती विकासमान परम्पराओं का योग है। इस शक्ति को वर्तमान की संघर्षमय परिस्थितियाँ आग की तरह धधकाती हैं और इस शक्ति को भविष्य के प्रति अडिग आस्था का भाव हमेशा जगाता रहता है। इसलिए, हम यह कभी भी नहीं मानते कि साहित्य का उद्देश्य लघुमानव का चित्रण है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम थोथे आदर्शवाद को प्रश्रय दे रहे हैं, क्योंकि नितप्रति विकसनशील विज्ञान मनुष्य की महत्ता की धारणाओं को पुष्टि कर रहा है। मनुष्य को मिथ्या क़िस्म की वे विचारधाराएँ और दीवारें लघु बनाती हैं जो एक गुट-विशेष के स्वार्थ के लिए राजनीतिक चालों के रूप में खड़ी कीं जाती हैं। हम इस प्रकार की सारी संकुचित मर्यादाओं का, रूढ़ियों का, विचारधाराओं का विरोध करते हैं जो मनुष्य को विकृति और ह्रासशील भावनाओं की ओर प्रेरित करती हैं। हम निराशा और विपत्ति के भयंकर समय में भी यथार्थ रूप से मनुष्य की त्रुटियों और कमज़ोरियों के उद्घाटन के विरुद्ध नहीं हैं। किन्तु जहाँ यथार्थ मनुष्य के भविष्य के सामने प्रश्न चिह्न लगाता है, वहाँ हम उसका बिरोध करते हैं। हम यथार्थ के काले से काले पर्दे में भी आशा की चिनगारी चाहते हैं, क्योंकि वही मनुष्य की शक्ति का सही रूप है। आधुनिक मनुष्य की ओर संकेत करते हुए स्टीफ़ेन स्पेंडर ने लिखा है कि "आज के औद्योगिक शहरों में आधुनिक मनुष्य एक चूहे की तरह है जिसने कूड़ा-कर्कट के पर्वतों का निर्माण किया है। ये पर्वत प्राकृतिक पर्वतों की तरह नहीं हैं। ये मनुष्य के जीवन-नाटक की पृष्ठभूमि में सुन्दर दृश्य नहीं बनते। ये ऐसे पर्वत हैं, जो अपनी ताक़त पर अपने ढंग से खड़े हैं। इनके नियम मनुष्य ने ही बनाये हैं, पर ये आविष्कार के अनुशासन को तुरन्त तोड़ देते हैं—ये ऐसे पर्वत हैं, जो स्वयंबद्ध नहीं होते, वे कभी भी हमारे ऊपर गिर सकते हैं।" क्या, वाक़ई, आज का चूहा-मानव इन

पर्वतों के आतंक को तोड़ नहीं सकेगा ? कम से कम उसे अपने बनाये पहाड़ों द्वारा संभाव्य, अपनी हत्या पर तो सोचना ही चाहिए, यदि वह अपने को सचमुच चूहा भी मान ले तो, पहाड़ों में छेद करना तो उसके वश की बात हो ही जाएगी ।

नयी कविता के बारे में डॉ० जगदीश गुप्त ने लिखा है कि "नये कवि की दृष्टि स्वभावतः सार्वभौमिक है । देश, भाषा, धर्म तथा जातीयता के विभेद उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और न उनके आधार पर वह अनुप्रेरित होता है" । (नयी कविता, ५-६, पृष्ठ १) । नारे के रूप में इन वाक्यों का जो भी मूल्य हो वस्तु सत्य के रूप में ये शाबरमंत्र जैसे ही प्रतीत होते हैं । हमें सोचना होगा कि क्या हम अपनी सीमाएँ छिपाने के लिए ही ऐसे उदात्त शब्दों का प्रयोग नहीं करते रहे हैं ? धर्म, जाति और भाषा के अनुप्रेरित न होने का परिणाम ही है कि आज का साहित्य कुछ लोगों की खानगी वस्तु बन कर रह गया है। सार्वभौम काफी छोटा शब्द है । आज के साहित्यकार को विश्वमानव या, उससे भी आगे बढ़ कर, अन्तर्नाक्षत्रिक प्राणि-सभ्यता में विश्वास करना चाहिए और उससे प्रेरणा लेनी चाहिए । पर कैसे ? अपनी भाषा और संस्कृति और जातीयता को नकार कर नहीं । नकारने से वही स्थिति होगी, जो नयी कविता की हुई है, क्योंकि सार्वभौम मानवता अथवा विश्व-मानवता का कोई सर्वमान्य स्थूल रूप नहीं है, जिसे हवा से झपट्टा मार कर पकड़ा जा सके । विश्व संस्कृति अलग-अलग संस्कृतियों के जीवन्त और प्राणवान् विकासशील तत्त्वों के आधार पर ही निर्मित होगी । और हम यदि अपनी जीवनदायिनी संस्कृति के तत्त्वों से ही अनभिज्ञ रहेंगे, आधुनिकतावादी कहे जाने के मोह में अपनी प्राचीन परम्परा को झुठलाते रहेंगे, तो विश्व संस्कृति का कितना अंश समझ सकेंगे, यह बताने की ज़रूरत नहीं है । विश्व संस्कृति का रूप लघुमानव की कुत्सित दिनचर्या प्रर तो कदापि खड़ा न हो सकेगा ।

इन सभी प्रकार की दिग्भ्रांत स्थितियों के मूल में आधुनिकता का मोह सन्निहित प्रतीत होता है । आधुनिकता से हमारा क्या तात्पर्य है, इसे भी स्पष्ट हो जाना चाहिए। क्या आधुनिकता फैशन है ? क्या आधुनिकता विदेश में बनी कोई पण्यवस्तु है, जिसे हम जितनी मात्रा में चाहें आयात कर सकते हैं । यह आधुनिकता है क्या वस्तु, जिसकी दुहाई दे कर हम शून्य में नया महल बनाने का सपना देख रहे हैं । आधुनिकता एक दृष्टिकोण है, एक समय-सापेक्ष्य शब्द, जिसका प्रत्येक काल में भिन्न-भिन्न अर्थ हुआ करता है । आधुनिकता की समस्या आज ज्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि विज्ञान की नित-नूतन उपलब्धियाँ हमें अपनी मान्यताओं और धारणाओं में आवश्यक परिवर्तन और पुनर्व्यवस्था लाने के लिए विवश करती हैं । विश्व मनीषा के क्षेत्र में जब भी कोई नया ज्ञान-विज्ञान प्रकट हुआ है, उसकी अपेक्षाकृत, अधिक उपयुक्त और व्यावहारिक स्थापनाओं ने हमारे पुराने विचारों को तोड़ने अथवा बदलने के लिए मजबूर किया है । यह अवश्य है कि द्वितीय युद्ध के बाद से इस प्रकार के नये वैज्ञानिक

भारतीय संस्कृति की कोई भी विचार धारा, कोई भी दर्शन, कोई भी साहित्यिक सम्प्रदाय मनुष्य को कभी लघु नहीं मानता। वे मनुष्य को हमेशा महत् मानव मानते हैं। वह प्रकृति का लघु संस्करण है। उसकी इकाई में, उसके भौतिक, 'ईथरिक', मानसिक और आत्मिक खंडों में प्रकृति की तमाम शक्तियाँ, संक्षिप्त रूप में, एकत्र हैं। वह सदा महत् रहा है और रहेगा। वह विषम से विषम संघर्ष की स्थिति में भी महत्ता को सुरक्षित रखता रहा है और सुरक्षित रखता रहेगा। उनके मन में, हमेशा, आशा की निराशा पर, आस्था की कुण्ठा पर, विश्वास की भय पर और विज्ञान की अज्ञान पर विजय होती रही है। आज की भयग्रस्त मानवता के लिए मनुष्य की काया और आत्मा में निहित इन शक्तियों की ओर संकेत करना आवश्यक है। यदि मनुष्य प्रकृति का ही लघु रूप है, जैसा वैज्ञानिक मानते हैं, तो हमारा कर्तव्य उसके भीतर के अज्ञात शक्ति-स्रोतों की खोज होनो चाहिए—उसके तन और मन की अथाह शक्तियों के प्रति उसे जागरूक बनाना चाहिए। हमारा कर्तव्य उसे लघु और लुंजपुंज बनाना तो कदापि नहीं होना चाहिए। इस शक्ति में अतीत की संबलवती विकासमान परम्पराओं का योग है। इस शक्ति को वर्तमान की संघर्षमय परिस्थितियाँ आग की तरह धधकाती हैं और इस शक्ति को भविष्य के प्रति अडिग आस्था का भाव हमेशा जगाता रहता है। इसलिए, हम यह कभी भी नहीं मानते कि साहित्य का उद्देश्य लघुमानव का चित्रण है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम थोथे आदर्शवाद को प्रश्रय दे रहे हैं, क्योंकि नितप्रति विकसनशील विज्ञान मनुष्य की महत्ता की धारणाओं को पुष्टि कर रहा है। मनुष्य को मिथ्या क़िस्म की वे विचारधाराएँ और दोवारें लघु बनाती है जो एक गुट-विशेष के स्वार्थ के लिए राजनीतिक चालों के रूप में खड़ी कीं जाती हैं। हम इस प्रकार की सारी संकुचित मर्यादाओं का, रूढ़ियों का, विचारधाराओं का विरोध करते हैं जो मनुष्य को विकृति और ह्रासशील भावनाओं की ओर प्रेरित करती हैं। हम निराशा और विपत्ति के भयंकर समय में भी यथार्थ रूप से मनुष्य की त्रुटियों और कमज़ोरियों के उद्घाटन के विरुद्ध नहीं हैं। किन्तु जहाँ यथार्थ मनुष्य के भविष्य के सामने प्रश्न चिह्न लगाता है, वहाँ हम उसका बिरोध करते हैं। हम यथार्थ के काले से काले पर्दे में भी आशा की चिनगारी चाहते हैं, क्योंकि वही मनुष्य की शक्ति का सही रूप है। आधुनिक मनुष्य की ओर संकेत करते हुए स्टीफ़ेन स्पेंडर ने लिखा है कि "आज के औद्योगिक शहरों में आधुनिक मनुष्य एक चूहे की तरह है जिसने कूड़ा-कर्कट के पर्वतों का निर्माण किया है। ये पर्वत प्राकृतिक पर्वतों की तरह नहीं हैं। ये मनुष्य के जीवन-नाटक की पृष्ठभूमि में सुन्दर दृश्य नहीं बनते। ये ऐसे पर्वत हैं, जो अपनी ताक़त पर अपने ढंग से खड़े हैं। इनके नियम मनुष्य ने ही बनाये हैं, पर ये आविष्कार के अनुशासन को तुरन्त तोड़ देते हैं—ये ऐसे पर्वत हैं, जो स्वयंबद्ध नहीं होते, वे कभी भी हमारे ऊपर गिर सकते हैं।" क्या, वाक़ई, आज का चूहा-मानव इन

पर्वतों के आतंक को तोड़ नहीं सकेगा ? कम से कम उसे अपने बनाये पहाड़ों द्वारा संभाव्य, अपनी हत्या पर तो सोचना ही चाहिए, यदि वह अपने को सचमुच चूहा भी मान ले तो, पहाड़ों में छेद करना तो उसके वश की बात हो ही जाएगी।

नयी कविता के बारे में डॉ० जगदीश गुप्त ने लिखा है कि "नये कवि की दृष्टि स्वभावतः सार्वभौमिक है। देश, भाषा, धर्म तथा जातीयता के विभेद उसके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और न उनके आधार पर वह अनुप्रेरित होता है"। (नयी कविता, ५-६, पृष्ठ १)। नारे के रूप में इन वाक्यों का जो भी मूल्य हो वस्तु सत्य के रूप में ये शाबरमंत्र जैसे ही प्रतीत होते हैं। हमें सोचना होगा कि क्या हम अपनी सीमाएँ छिपाने के लिए ही ऐसे उदात्त शब्दों का प्रयोग नहीं करते रहे हैं? धर्म, जाति और भाषा के अनुप्रेरित न होने का परिणाम ही है कि आज का साहित्य कुछ लोगों की खानगी वस्तु बन कर रह गया है। सार्वभौम काफी छोटा शब्द है। आज के साहित्यकार को विश्वमानव या, उससे भी आगे बढ़ कर, अन्तर्नाक्षत्रिक प्राणि-सभ्यता में विश्वास करना चाहिए और उससे प्रेरणा लेनी चाहिए। पर कैसे ? अपनी भाषा और संस्कृति और जातीयता को नकार कर नहीं। नकारने से वही स्थिति होगी, जो नयी कविता की हुई है, क्योंकि सार्वभौम मानवता अथवा विश्व-मानवता का कोई सर्वमान्य स्थूल रूप नहीं है, जिसे हवा से झपट्टा मार कर पकड़ा जा सके। विश्व संस्कृति अलग-अलग संस्कृतियों के जीवन्त और प्राणवान् विकासशील तत्त्वों के आधार पर ही निर्मित होगी। और हम यदि अपनी जीवनदायिनी संस्कृति के तत्त्वों से ही अनभिज्ञ रहेंगे, आधुनिकतावादी कहे जाने के मोह में अपनी प्राचीन परम्परा को झुठलाते रहेंगे, तो विश्व संस्कृति का कितना अंश समझ सकेंगे, यह बताने की ज़रूरत नहीं है। विश्व संस्कृति का रूप लघुमानव की कुत्सित दिनचर्या पर तो कदापि खड़ा न हो सकेगा।

इन सभी प्रकार की दिग्भ्रांत स्थितियों के मूल में आधुनिकता का मोह सन्निहित प्रतीत होता है। आधुनिकता से हमारा क्या तात्पर्य है, इसे भी स्पष्ट हो जाना चाहिए। क्या आधुनिकता फैशन है? क्या आधुनिकता विदेश में बनी कोई पण्यवस्तु है, जिसे हम जितनी मात्रा में चाहें आयात कर सकते हैं। यह आधुनिकता है क्या वस्तु, जिसकी दुहाई दे कर हम शून्य में नया महल बनाने का सपना देख रहे हैं। आधुनिकता एक दृष्टिकोण है, एक समय-सापेक्ष्य शब्द, जिसका प्रत्येक काल में भिन्न-भिन्न अर्थ हुआ करता है। आधुनिकता की समस्या आज ज्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि विज्ञान की नित-नूतन उपलब्धियाँ हमें अपनी मान्यताओं और धारणाओं में आवश्यक परिवर्तन और पुनर्व्यवस्था लाने के लिए विवश करती हैं। विश्व मनीषा के क्षेत्र में जब भी कोई नया ज्ञान-विज्ञान प्रकट हुआ है, उसकी अपेक्षाकृत, अधिक उपयुक्त और व्यावहारिक स्थापनाओं ने हमारे पुराने विचारों को तोड़ने अथवा बदलने के लिए मज़बूर किया है। यह अवश्य है कि द्वितीय युद्ध के बाद से इस प्रकार के नये वैज्ञानिक

विचार और परिवर्तन ज्यादा सबल और व्यापक रूप में हमारे सामने उपस्थित होते रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध ने वही नहीं तोड़ा जो बुरा था, अनुपयुक्त था, वह भी तोड़ा जो मनुष्य के लिए स्पृह्य था। इलियट अथवा स्पेंडर में इसी स्पृह्य के टूटने से उत्पन्न अनास्था और कुंठा के प्रति व्यंग्य है। वे उस स्पृह्य के टूटने से दुखी हैं, जिसे अपने देश में हम तोड़ने को ही आधुनिकता मान रहे हैं। वे इसलिए दुःखी हैं कि उनके आधुनिक जीवन में जीवन को "सस्टेन" करने वाले मूल्यों का....नैतिकता, अन्तर्वैयक्तिक स्वस्थ सम्बन्धों आदि का अभाव है, और हम उन तमाम मूल्यों को ही तोड़ना अपना कर्तव्य मान रहे हैं। असल में, आधुनिकता का वैज्ञानिक अर्थ है, विज्ञान के सत्य को स्वीकार करके जो उसके साथ है, उसका पोषण और जो उसके विरुद्ध है, उसका उत्पाटन करना। नैतिक संकट जैसा वहाँ है वैसा हमारे यहाँ नहीं है। फिर, हम नैतिक विनिपात को ही लघु मानव-दर्शन का पर्याय क्यों मान लें। आधुनिकता का प्रश्न क्या एकदम नया है ? साहित्य के सामने, अतीत में भी, इस प्रकार के विचार-संक्रमण और विचार-परिवर्तन के काल आते रहे हैं और जब कालिदास ने यह कहा कि "पुराणमित्येव न साधु साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्" तो उनके सामने भी नये और पुराने का संघर्ष स्पष्ट था। यह तो वे भी जानते थे कि जो विवेकी हैं वे दोनों का अन्तर समझकर अच्छे-बुरे का निर्णय कर लेते हैं।

सच तो यह है कि आधुनिकता का प्रश्न हर सजग साहित्यकार के सामने अपने युग की परिस्थितियों के बीच से उठा करता है और वह अपनी जागरूक चेतना और अपने देशकाल की सीमाओं के अनुरूप उनका उत्तर भी देता है। मैं यह मानने को तैयार हूँ कि आज हमारा सम्पर्क और सम्बन्ध पहले से कहीं व्यापक है, आज हमारे पास इतने साधन हैं कि विश्व के एक हिस्से में होने वाले परिवर्तनों से हम बहुत जल्द प्रभावित होते हैं। मैं यह भी मानने को तैयार हूँ कि मानवता के विकास के लिए होने-वाले परिवर्तनों को परम्पराप्रियता के मोह में विदेशी कहकर नहीं टाला जा सकता। किन्तु परिवर्तन और उनके बीच से उठने वाली समस्याएँ सर्वत्र एक जैसी नहीं हैं। इसीलिए हमें आधुनिक दृष्टिकोण ग्रहण करने की आवश्यकता है; आधुनिकता के नाम पर अनुकरण करने की, वह भी मुमूर्षु जडवादी संस्कृति के ह्रासशील तत्वों के अनुकरण की, तो क़तई आवश्यकता नहीं है। असल में हम रोग-निवारक दवा के स्थान पर रोग के कीटाणुओं का ही आयात कर रहे हैं। हम आधुनिकता के 'फ़ार्मूले' और 'पेटण्ट' नुस्ख़े, अपने देश की मानसिक स्थिति को बिना समझे, लागू कर देना चाहते हैं। यह सही है कि काफ़ी और चाय के प्याले, होटल और नृत्य के कमरे, केटली और इंजन की फुफकारें, कैक्टस और बबूल के काँटों से सजाये हुए 'ड्राइंग रूम', 'लाटरी' का जीवन, शोरग़ुल और मशीनों की घर्रघर्र हमारे जीवन के अंग बन गये हैं। मगर यदि इन शब्दों के बार-बार आवर्तन से ही आधुनिकता व्यक्त हो सकती है, तो ज़ाहिर है कि

हमने आधुनिकता को वस्तुओं पर लगे "बिल्ले" के रूप में ही समझा है; वह हमारे मन और दिमाग़ में जज़्ब नहीं हुई है, वह हमारा स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं बन सकी है।

नये लोगों ने आधुनिकता को एक स्वस्थ दृष्टिकोण के रूप में नहीं ग्रहण किया है। इसे एक और तरीक़े से भी देखा जा सकता है। प्राचीन शाहित्य-शास्त्रियों ने नाटकों और काव्यों के लिए प्रख्यात वस्तु का होना आवश्यक माना था। वह, वास्तव में, कवि की आधुनिकता की जाँच के लिए एक परीक्षा थी। जानी-पहचानी प्राचीन कथावस्तु को काव्य का उपजीव्य बनाकर उसमें नवीनता ले आना साधारण प्रतिभा का कार्य नहीं होता। कवि के युग में, तत्कालीन समाज में, आधुनिकता के मानदण्ड 'प्राचीन' को किस रूप में ग्रहण करते हैं, बदलते हैं, अपनी आवश्यकता के अनुकूल प्रयोज्य बनाते हैं, यह एक परीक्षा थी, ख्यात प्राचीनता का तक़ाज़ा था, उत्पाद्य आधुनिकता की माँग। महाभारत की शकुन्तला की प्रख्यात वस्तु ले कर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' लिख कर कालिदास ने यही परीक्षा दी। यह परीक्षा द्विवेदी युग और छायावाद युग के कवियों ने भी दी। यही परीक्षा विदेशी कृती साहित्यकारों ने भी दी है, लेकिन यह देख कर आश्चर्य होता है कि नयी कविता में इस प्रकार की परीक्षा देने का उपक्रम बिलकुल ही नहीं है। "अंधायुग" अपवाद है। क्या यह इस बात का सूचक नहीं है कि नये कवि इस प्रकार के उपक्रम के घबड़ाते हैं। प्राचीन वस्तु की नयी आधुनिक व्याख्या उपस्थित करने के लिए जिस अध्ययन और प्रतिभा की आवश्यकता है, उसका यहाँ एकान्त अभाव है। उनके लिए टूटे-बिखरे क्षणों का अन्धी भाषा में, विदेशी बिम्बों और प्रतीकों के सहारे चित्रण कर देना जितना आसान है, उतना प्राचीन की नयी बौद्धिक व्याख्या देना नहीं। स्वप्निल शैली में चन्द पंक्तियाँ लिख देना एक बात है, और किसी संकट और संघर्षों से भरी वस्तु को युगानुरूप उपस्थित करना बिलकुल भिन्न। नया कवि अपने को 'इन्टलैक्चुअल' कहता है, बुद्धि का स्वामी। पर यह बौद्धिक वैदग्ध्य किस बात में प्रकट हो रहा है ? दर्शन, साहित्य, शास्त्र, इतिहास, विज्ञान, धर्म आदि के साचों में उपस्थित ज्ञान को नकारने में, सब कुछ को, जो उनकी बुद्धि के लिए अगम्य है, 'प्राचीन' का बिल्ला लगा कर तिरस्कृत कर देने में ? "मैं" शैली में लिखी गयी आत्म-रति की कविताओं में बौद्धिकता का ह्रास हुआ है, उत्थान नहीं। मैं तो लालायित हूँ कि कोई समर्थ नया कवि टी० इस० इलियट की तरह कोई काव्य-नाटक लिखे, जिसकी आधुनिकता, बौद्धिकता और नवीन चेतना हमें झकझोर कर रख दे। नाटकों के सृजन में इस "मैं" शैली का पूर्ण विसर्जन हो जाएगा, इसमें सन्देह नहीं। यदि हमारे प्रतिभाशाली कवि इस ओर सचमुच ध्यान दें तो नयी कविता के विषय में उठी शंकाएं निर्मूल हो जाएँ। तभी हम उनकी आधुनिकता का, नये मूल्यों का, नयी अभिव्यक्ति और शैली का अर्थ समझेंगे। तभी हमें विकसमान मानवमूल्य के सातत्य का और कूटस्थ रूढ़िवादिता से पंगु प्राचीनता का फ़र्क़ मालूम हो सकेगा।

अब तक के साहित्य में मनुष्य को लघु बनाकर उसकी काफ़ी कदर्थना की जा चुकी है। तब हम यह मानते थे कि 'शाक ट्रीटमेंट' का भी एक प्रयोजन होता है। आज मनुष्यता जहाँ खड़ी है, वहाँ पचास 'मेगाटन' के अणु विस्फोट से बड़ा आघात क्या हो सकता है : शायद, अणु-युद्ध। क्या हमें उसी की प्रतीक्षा है ? यदि नहीं, तो मनुष्य की मनुष्यता को उभारने के लिए साहित्य को कटिबद्ध होना पड़ेगा—हमारी आधुनिकता की यही माँग है कि जो 'स्पृह्य' टूटने जा रहा है, उसे टूटने से बचाएँ। ● ●

नवगीत : एक प्रतिक्रिया

इधर हिन्दी में पुनः नवगीत की बहुत चर्चा है। 'धर्मयुग' जैसे लोकप्रिय पत्र ने इसे मंच प्रदान किया। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में, प्राध्यापकों की संस्था हिन्दी परिषद् में भी, जिसकी एकेडेमिक चलनी से नया साहित्य प्रायः झर जाता है, नवगीत का उल्लेख हुआ। बाईसवें वार्षिक अधिवेशन में सभापति श्री हरवंशलाल शर्मा ने अपने भाषण में नवगीत की अलग स्थिति स्वीकार की। उसी से साफ़ हो जाता है कि यह आन्दोलन केवल द्रवीभूत तत्व या सूक्ष्म रवेदार चीज़ ही नहीं रहा, बल्कि प्राध्यापकीय चलनी में ठहरने लायक पदार्थ हो गया है। श्री शर्मा ने लिखा है कि "एक स्थान पर अज्ञेय ने आधुनिक काव्य के संदर्भ में नवगीत जैसे विभेद को अनावश्यक कहा था। फिर भी नवगीत को नयी कविता के से अलग करके स्थापित करने की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण रही है क्योंकि नयी कविता के ही कतिपय कवि नवगीत का विरोध करते रहे हैं। उनका कहना है कि आज की उलझी और टूटी हुई मनःस्थिति अथवा वैज्ञानिक बोध के संवहन की दृष्टि से गीत की विधा अब अनुपयोगी हो चुकी है। इसके विपरीत नवगीत के पक्षधर और प्रयोक्ता इसे एक मूल्यवान विधा मानते हैं। उनके कथनानुसार युग-जीवन की रागात्मक उपलब्धि एवं आधुनिक बोध की सहज लयात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से गीत रचना की संभावनाएँ अपरिमित हैं।"

इस समस्या पर कुछ मैंने भी सोचा-विचारा है। अनौचित्य को औचित्य प्रमाणित करने के प्रयत्न ने शायद कभी मुझे एक टिप्पणी लिखने को बाध्य किया था। टिप्पणी थी "गीत कविता के प्रति ऐसी वक्र भृकुटि क्यों?" टिप्पणी वाराणसी की 'वासन्ती' के अप्रैल '६० से अंक में प्रकाशित हुई। उस पर बादके अंकों में चर्चा भी हुई। सन् '६० में नवगीत के बारे में बात करना खासा दिक्कततलब काम था। यह याद रखना चाहिए कि उसी टिप्पणी से प्रेरित होकर 'वासन्ती' ने नवगीत का आन्दोलन खड़ा किया। 'वासन्ती' में कई प्रमुख नवगीतकारों के लेख धारावाहिक रूप से छपे। यह एक अलग तज़किरा है कि नवगीत पर लिखे जाने वाले गरमागरम लेखों में वासन्ती के 'नवगीत आन्दोलन' की खूब चर्चा रहती है, पर उपर्युक्त टिप्पणी का उल्लेख नहीं होता! यह हिंदी की प्रवृत्ति के अनुकूल ही है।

यह टिप्पणी थी भी कुछ यूँ ही। पर उसमें कुछ ऐसे नुक्ते ज़रूर उभरे थे जिन्हें लेकर विचार-विमर्श को बढ़ाया जा सकता था। उस टिप्पणी की एक प्रमुख स्थापना यह थी कि शुरू-शुरू में नयी कविता और नवगीत दोनों एक ही आन्दोलन के दो पहलू थे। "यह प्रवृत्ति [नवगीत की] आरंभ में नयी कविता का एक अविभाज्य अंग थी।

अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, भारती, रामविलास शर्मा, केदारनाथ सिंह आदि के गीतों में इसके प्रारंभिक रूप का परिचय मिलता है।'' गीतों का चलन छायावाद में भी था और प्रगतिवाद में भी। अन्तिम दौर में आते-आते इन दोनों ही धाराओं के गीतों में जीवन का स्पन्दन बन्द होने लगा था। जार्गन शब्दों, घिसे-पिटे प्रयोगों और अर्थ-हीन लयों का बाहुल्य था। छायावादी कवि निरन्तर आत्मकेन्द्रित हो कर मन्द हो रहा था और उसके गीत बुझी राख की शक्ल में ढल रहे थे। वहीं प्रगतिवादी कवि जीवन के सही यथार्थ से वंचित मात्र नारेबाज़ी में केन्द्रित हो कर गीतों की शक्ल में अख़बार ढाल रहे थे। इन्हीं की प्रतिक्रिया में नयी कविता ने जन्म लिया। प्रकारान्तर से यह कि बदले हुए भारत का जीवन कुछ इस तरह की छटपटाहट से भरा था कि उसे छायावादी या प्रगतिवादी कविता के बँधे-बँधाये साँचों में अभिव्यक्त कर पाना कठिन था। परिणामतः नये माध्यम की खोज शुरू हुई! राहों के अन्वेषी आगे बढ़े।

तार सप्तक के कवि भी, जो जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण बिषयों पर अलग-अलग राय रखना आवश्यक मानते थे, "यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते थे", अनजाने भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में गीत की विधा को अपनाने के प्रश्न पर एकमत से दीखते हैं। प्रमाण के लिए तार सप्तक के ये गीत देखे जा सकते हैं। धूलभरी दोपहरी, आगे गहन अँधेरा हैं, क्या भाया, [नेमिचन्द्र] सृजन क्षण, अन्तर्दर्शन, मैं उनका ही होता [मुक्तिबोध] विदावेला, चलते-चलते, [भारत भूषण] वसन्तागम, मेघमल्लार, राही से, बादल बरसै मूसलधार [माचवे] चाँदनी, सत्यं शिवं सुंदरम्, समुद्र के किनारे, [रामविलास]। भादो की उमस, जयतु हे कंटक चिरन्तन, जैसे तुझे स्वीकार हो [अज्ञेय]! माथुर तो आज भी नवगीत के विरोधी नहीं हैं। दूसरे और तीसरे सप्तकों के कवियों में भी अनेक ने गीत लिखे हैं। बहुत से गीत इन संकलनों में देखे जा सकते हैं। यह ज़रूर है कि ये गीत नये चित्त की उपज हैं। इसीलिए तो मुक्तिबोध बड़े विश्वास के साथ कहते हैं—

> क्या हमारे भाव शब्दातीत हैं।
> या तुम्हारा रूप भावातीत है।
> हम न गा सकते तुम्हारा गीत हैं।

[तार सप्तक]

नया कवि पुरानी लयों में दूसरों का गीत भले न गा सके, अपना गुनगुनाना उसका भी आखिर चलता ही है, इसीलिए शायद उनके सप्तक-सहयोगी नेमिचन्द्र ने लिखा था :

> अरुक वह गीत लहरी कब रुकी।

इसलिए नवगीत की प्रवृत्ति को नयी कविता की विरोधी बताना पूर्णतः ग़लत है। यह सही है कि यह नयी कविता की मुख्य प्रवृत्ति नहीं है। गीत एक खास प्रकार की मनःस्थिति की

देन होते हैं, जिसमें भावुकता की प्रधानता होती है। यह सही है कि कभी-कभी घोर बौद्धिक व्यायाम के बावजूद आज के उलझे हुए जीवन के सूत्र पकड़ मे नहीं आते और वे कभी-कभी भावाकुल क्षणों में अचानक हाथ लग जाते हैं, किन्तु साथ-ही-साथ यह भी सही है कि भाव या राग का पिच्छल पथ आधुनिक भावबोध के परिवहन यंत्र को सँभालने में पूर्णतः अक्षम है। नवगीत का 'फार्म' आज के कठोर, और दुर्धर्ष जीवन-बोध को बाँधने में तथा पूर्णतः समेटने और कौशल से व्यक्त करने की प्रक्रिया में छितरा जाता है। उसके मुलायम रेशे तड़तड़ा कर टूट जाते हैं। मनुष्य के मन को खानों में नहीं बाँटा जा सकता। आज की परिस्थिति में बहुत बौद्धिक, तीखा, नीरस, वस्तु परक होते हुए भी वह कभी न कभी, किसी न किसी क्षण लय में, खून के प्रवाह में, प्रणालिकाओं में बह सकता है, बह जाता है, वहना चाहिए, क्योंकि तभी वह मन है, तभी वह जीवित कहा जा सकता है या शायद जीवित होने की यह मासूम विवशता ही हो, कौन जाने। ऐसी स्थिति में आधुनिक भावबोध में पगा हुआ कवि भी गीत लिख सकता है, लिखता है। और ये गीत पुराने गीतों से निश्चय ही अलग क़िस्म के होते हैं। उन्हें नवगीत कहने में कोई हर्ज नहीं। उनके प्रति वक्र भृकुटि की तो खैर कोई बात ही नहीं। पर इसे अलग काव्य-प्रवृत्ति मानकर, उसके आधार पर एक आन्दोलन खड़ा करना जरूर अनावश्यक है। अनावश्यक इसीलिए कि वह प्रवृत्ति आन्दोलन का मनसूबा लेकर स्वतोव्याघात का शिकार बनती है। नवगीत का अस्तित्व ही इसलिए स्वीकारा जाता है आधुनिक भावबोध में पगा हृदय कभी कभी द्रवित क्षणों में गीत भी सृष्ट करता है, अर्थात् आधुनिक चित्त की प्रधानता ही इसका उत्स है! किन्तु जब हम इसे नयी कविता से अलग करके, अलग दर्जा देते हैं, तो मानो यह कहना चाहते हैं कि आधुनिक चित्त भावुकता का ही पर्याय है जो कि बिलकुल गलत और बेबुनियादी चीज़ है। खाली-खाली नवगीत लिखने वाले वे ही हो सकने हैं जो आज की कठोर समस्याओं से टकराने की बौद्धिक क्षमता नहीं रखते। सच तो यह है कि युग-परिवर्तन इतनी तीव्र गति से घटित हो रहा है कि नयी कविता तक उसे सँभाल नहीं पा रही है। यह प्रश्न अन्य विधाओं के सामने भी है। फिर संकुचित नाली या प्रनाली की तो बात ही क्या? नवगीत से संकुचित कोई और भी विधा हो सकती हैं क्या? अतः नवगीत को एक स्वतः स्वावलंबी नये आन्दोलन का रूप देना बौद्धिकता से कतराने का सूचक है। इसी कारण इस आन्दोलन के जीवित रह सकने में मुझे सन्देह है।

आंचलिक तत्वों का प्रयोग नवगीत की एक प्रवृत्ति रही है। मैं तो यह मानता हूँ कि नयी कविता का श्रीगणेश ही इसी प्रवृत्ति से हुआ। स्वतंत्र्योत्तर भारत के कशमकश को व्यक्त करने वाली हिन्दी की दोनों जागरूक विधाएँ—नयी कहानी और नयी कविता आंचलिक जीवन से अनुप्राणित होकर चलीं। आंचलिकता ने ही दोनों को शैशवकाल में पुष्ट बनाया। इसके कई कारण थे। स्वतंत्र भारत की मनीषा अपनी शक्ति के परीक्षण

और अन्वेषण के उद्देश्य से उन दिनों अछूते अंचलों में घूम रही थी। इस पर मैंने विस्तार से अन्यत्र विचार किया है। [देखिए, आंचलिकता और आधुनिक परिवेश, कल्पना, मार्च १९६५] असल में उन दिनों भारतीय चित्त के भीतर आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया चल रही थी। आत्मपरीक्षण हमेशा ही उपयोगी और शक्तिवर्धक होता है, बशर्ते परावर्तन करते समय हम थकन और शून्यता को ही मंज़िल न मान लें। भाषा और काव्य-विधाएँ घिसे-पिटे रास्तों पर चलते-चलते थक कर ऐसा ही परावर्तन करती हैं। लोक जीवन की ओर होने वाले इस परावर्तन से साहित्य में जीवन से ख़ूब स्पन्दित नये शब्द, आबदार प्रयोग और मुहावरे, तथा लोकचित्त में निरन्तर खिली हुई नयी नयी विधाएँ, मिथक, प्रतीक आदि आकर घुलमिल जाते हैं। इसलिए यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आंचलिकता की ओर आकृष्ट होने के पीछे प्रस्तुत माध्यमों की अक्षमता का बोध तथा घुटन और ऊब को मिटाने के लिए कुछ नया और ताज़ा ढूँढ़ने का प्रयत्न था। इसी कारण यह प्रयत्न उन दिनों बहुत-बहुत प्रशंसा का विषय बना। अज्ञेय की आधुनिक कविता तक में आंचलिकता का दोंगरा अपनी सुबास छोड़ गया। भवानीप्रसाद मिश्र, भारती, नरेश मेहता, तथा तीसरे सप्तक के केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर आदि में भी इस आंचलिकता का सुष्ठु प्रभाव देखा जा सकता है। किन्तु आगे चलकर यह आंचलिकता फ़ैशन की वस्तु बनने लगी। अजीबो-ग़रीब शब्द ढूँढ़-ढूँढ़कर लाये जाने लगे। कविता को इन शब्दों से उसी तरह सजाया जाने लगा जैसे आधुनिक ड्राइंगरूमों को देहाती कुम्हार के चटक रंग वाले खिलौनों से।

हिन्दी के नवगीतकार से अधिक कुग्राहिता शायद ही किसी विधाकार में दिखाई पड़े। वह बड़ी आसानी से युग चर्चित फ़ैशनों, भाषा-प्रयोगों और लटकों का शिकार हो जाता है। वह वस्तुतः उस रंगरेज़ की तरह व्यवहार करता है जो वस्तु की बुनावट या रूपाकार में कोई मौलिक परिवर्तन न करके ग्राहकों के मनपझन्द रंगों के बूटे बदल-बदल कर अपनी दूकान चलाता रहता है। नयी कविता का बाज़ार गर्म हुआ तो नव-गीतकार नयी कविता के चन्द प्रचलित लटकों को गीतों में जड़ने लगा। उसके लिए उबलती केतली, चाय का धुआँ, पथरायी दूरियाँ, सलीब, बिजली, स्टोव, रोशनी की परछाइयाँ, दीवालों की बाँहें, दरवाजों की दस्तकें, अजनबी, कोई तीसरा मैं, अन्तराल की टपकनें, घायल आस्थाएँ, पैरों के जुलूस, कैक्टस अंतहीन यात्राएँ, अंधेरी चाँदनी, काली धूप, उजली छाँह, नील गगन के अश्वत्थ, खोये हुए शब्दों की दस्तकें आदि प्रयोग सिलेसिलाये पोशाक की तरह मिल गये और उनसे बड़ी खुशी-खुशी अपनी लयात्मक गीत बालिका को उसमें लपेट लिया। नयी कविता में बुभुक्षित पीढ़ी, बीट-निक, अकविता, ताजी कविता के फ़ैशन चले तो उसने बड़ी आसानी से इनके लटकों को नवगीतों में फिट करना शुरू किया। गीत पढ़ते हुए पहले वह छायावादी मार्मिकता दर्शाने वाली पंक्ति को दुहरा-दुहरा कर जैसे दाद पाया करता था अब इन आधुनिक

नहीं पा रही है। यह प्रश्न अन्य विधाओं के सामने भी है। फिर संकुचित नाली या प्रनाली की तो बात ही क्या? नवगीत से संकुचित भी कोई और विधा हो सकती है क्या? अतः नवगीत को एक स्वतः स्वावलंबी नये आन्दोलन का रूप देना बौद्धिकता से कतराने का सूचक है। इसी कारण इस आन्दोलन के जीवित रह सकने में मुझे सन्देह है।

आंचलिक तत्वों का प्रयोग नवगीत की एक प्रवृत्ति रही है। मैं तो यह मानता हूँ कि नयी कविता का श्रीगणेश ही इसी प्रवृत्ति से हुआ। स्वातंत्र्योत्तर भारत के कशमकश को व्यक्त करने वाली हिन्दी की दोनों जागरूक विधाएँ—नयी कहानी और नयी कविता आंचलिक जीवन से अनुप्राणित होकर चलीं। आंचलिकता ने ही दोनों को शैशवकाल में पुष्ट बनाया। इसके कई कारण थे। स्वतंत्र भारत की मनीषा अपनी शक्ति के परीक्षण और अन्वेषण के उद्देश्य से उन दिनों अछूते अंचलों में घूम रही थी। इस पर मैंने विस्तार से अन्यत्र विचार किया है। [देखिए, आंचलिकता और आधुनिक परिवेश, कल्पना, मार्च १९६५] असल में उन दिनों भारतीय चित्त के भीतर आत्मपरीक्षण की प्रक्रिया चल रही थी। आत्मपरीक्षण हमेशा ही उपयोगी और शक्तिवर्धक होता है, बशर्ते परावर्तन करते समय हम थकन और शून्यता को ही मंज़िल न मान लें। भाषा और काव्य-विधाएँ घिसे-पिटे रास्तों पर चलते-चलते थक कर ऐसा ही परावर्तन करती हैं। लोक जीवन की ओर होने वाले इस परावर्तन से साहित्य में जीवन से खूब स्पन्दित नये शब्द, आबदार प्रयोग और मुहावरे, तथा लोकचित्त में निरन्तर खिली हुई नयी-नयी विधाएँ, मिथक, प्रतीक आदि आकर घुलमिल जाते हैं। इसलिए यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आंचलिकता की ओर आकृष्ट होने के पीछे प्रस्तुत माध्यमों की अक्षमता का बोध तथा घुटन और ऊब को मिटाने के लिए कुछ नया और ताज़ा ढूँढ़ने का प्रयत्न था। इसी कारण यह प्रयत्न उन दिनों बहुत-बहुत प्रशंसा का विषय बना। अज्ञेय की आधुनिक कविता तक में आंचलिकता का दोंगरा अपनी सुवास छोड़ गया। भवानीप्रसाद मिश्र, भारती, नरेश मेहता, तथा तीसरे सप्तक के केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर आदि में भी इस आंचलिकता का सुष्ठु प्रभाव देखा जा सकता है। किन्तु आगे चल कर यह आंचलिकता फ़ैशन की वस्तु बनने लगी। अजीबोग़रीब शब्द ढूँढ़ ढूँढ़ कर लाये जाने लगे। कविता को इन शब्दों से उसी तरह सजाया जाने लगा जैसे आधुनिक ड्राइंगरूमों को देहाती कुम्हार के चटक रंग वाले खिलौनों से।

हिन्दी के नवगीतकार से अधिक कुग्राहिता शायद ही किसी विधाकार में दिखाई पड़े। वह बड़ी आसानी से युग चर्चित फ़ैशनों, भाषा-प्रयोगों और लटकों का शिकार हो जाता है। वह वस्तुतः उस रंगरेज़ की तरह व्यवहार करता है जो वस्तु की बुनावट या रूपाकार में कोई मौलिक परिवर्तन न करके ग्राहकों के मनपसन्द रंगों के बूटे बदल-बदल कर अपनी दूकान चलाता रहता है। नयी कविता का बाज़ार गर्म हुआ तो नवगीतकार नयी कविता के चन्द प्रचलित लटकों को गीतों में जड़ने लगा। उसके लिए उबलती

केतली, चाय का धुआँ, पथरायी दूरियाँ, सलीब, बिजली, स्टोव, रोशनी की परछाइयाँ, दीवालों की बाँहें, दरवाज़ों की दस्तकें, अजनबी, कोई तीसरा मैं, अन्तराल की टपकनें, घायल आस्थाएँ, पैरों के जुलूस, कैक्टस अंतहीन यात्राएँ, अंधेरी चाँदनी, काली धूप, उजली छाँह, नील गगन के अश्वत्थ, खोये हुए शब्द, शब्दों की दस्तकें आदि प्रयोग सिलेसिलाये पोशाक की तरह मिल गये और उसने बड़ी खुशी-खुशी अपनी लयात्मक गीत बालिका को उसमें लपेट लिया। नयी कविता में बुभुक्षित पीढ़ो, बीटनिक, अकविता, ताज़ी कविता के फ़ैशन चले तो उसने बड़ी आसानी से इनके लटकों को नवगीतों में फिट करना शुरू किया। गीत पढ़ते हुए पहले वह छायावादी मार्मिकता दर्शाने वाली पंक्ति को दुहरा-दुहरा कर जैसे दाद पाया करता था अब इन आधुनिक फैशन के नये शब्दों वाली पंक्ति को दुहरा-दुहरा कर पाने का प्रयत्न करता है। इन प्रयोगों के निकट पहुँच कर उसके सस्वर पाठ में जो ठमक आ जाती है और वह जिस अदायगी से नये श्रोता के सामने इन प्रयोगों को रखना चाहता है, वही इस बात के प्रबल सबूत हैं कि वह इन इक्के-दुक्के बूटों को जो उसने बड़े जतन से कपड़े पर उभारा है, कितनी अहमियत देता है। ये सभी बातें इस कथन को और पुष्ट करती हैं कि गीतकार वस्तुतः बौद्धिक रूप से इतना दृढ़ नहीं है जितना एक आधुनिक साहित्यकार को होना चाहिए। सैद्धांतिक आस्थाओं की क़िलेबन्दी कमज़ोर है जिसके कारण तेज़ हवाएँ उसके अस्तित्व को झकझोर देती हैं। उसके पास उस समग्र जीवन-दृष्टि का अभाव है जो किसी भी साहित्यकार के लिए पहली आवश्यकता है; क्योंकि बिना उसके, टूटे हुए संदर्भों और ग़लत अर्थों के आवरण में लिपटे जीवन की बेशुमार कशमकश को पकड़ पाना असंभव है।

नवगीत की शक्ति और सीमाएँ स्पष्ट हैं। ग़नीमत है कि अभी भी जीवन के दारुण पाश इतने दमघोंट और क्रूर नहीं हैं कि हमारे हृदय की सारी सरसता घुट जाए। आज भी हिन्दी कवि—सब प्रकार से सामाजिक घात-प्रतिघात में जूझता बौद्धिक कवि, यदि अपने जीवन में कुछ ऐसे द्रवित क्षण हासिल कर पाता है जिन्हें वह आधुनिक साहित्यकार के रूप में अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति-सच्चाई के बल पर मानता है कि इन्हें भावप्रधान गीतों में ही व्यक्त किया जा सकता है, तो वह अवश्य ही गीत लिखे। वे गीत जीवन की कटुता से जूझते पाठकों को भी एक क्षण के लिए भावनात्मक सार्थकता दे जाएँगे, किन्तु उसे इतना हमेशा याद रखना चाहिए कि 'ट्रेंक्वालाइज़र' रोग की दवा नहीं है। नवगीत आधुनिक चित्त को व्यक्त करने की स्वयंपूर्ण कोई विधा नहीं है।

● ●

बीमार, बुभुक्षित, 'हिबाकुशा'
[भूखी पीढ़ी]

गिंसबर्ग,·······

"शुरू खिजा की सुलगती लाल दाढ़ी, दाँत नीले-काले-उजले इशारों की चमक मन्द करते गाँजे का धुवाँ अगलाम की बास × × × × झम्मइयायँ, झम्मइयायँ झम्म···।" इन्हें काशी बहुत पसन्द थी। और काशी को गिंसबर्ग? यह सवाल ही नहीं उठता। क्योंकि काशी तो सिर्फ काशी ही है जो हर चीज को, भाँग धतूरे को भी, सहज स्वीकार लेती है। हर अजीब चीज अपने भीतर गलतफहमी के बीच छिपाये रहती हैं। और गलतफहमी वह खाद्य है जो 'तटस्थ' जन-मन का लीजेण्ड और सत्य, सत्य और लीजेण्ड के पके-अधपके तत्त्वों से पोषण करता रहता है। काशी में उन दिनों गिंसबर्ग भी ऐसी ही चर्चाओं का केन्द्र था····बीटनिक, वीभत्स, समलिंगी मैथुन का अभ्यासी और प्रचारक····श्मशान में बैठकर चिता की आग से सुलफा सुलगाने की भी चर्चा थी और यह भी कि जलते मुर्दे को देखकर उसने कहा था कि इसका भेजा खाने की इच्छा होती है। यह सब ऐसा न था जो अजीब कहा जाये। काशी में न तो गेरुवाधारी गोरे साहब ही अपूर्व अदेखे रहे, न अभक्ष्य खानेवाले औघड़ ही। और फिर समलिंगी सम्बन्ध ही कौन-सी अनसुनी बात थी····भला। भक्ष्याभक्ष्य सेवन, अनियमित ओर अप्राकृतिक मैथुन क्या इसी देश के अनेक संकुचित सम्प्रदायों का धार्मिक कृत्य नहीं रहा? फिर, आश्चर्य क्यों? शायद इसलिए कि बुद्धिजीवियों के बीच साहित्यिक और सांस्कृतिक स्तर पर यह निः-संकोच चर्चा और मान्यता का विषय कम ही वना है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गिंसबर्ग के कविता-पाठ का आयोजन, खुसुर-पुसुर आवाजें—इसे किसने बुलाया यहाँ? क्यों??आप नहीं जानते क्या····और फिर टँगी आँखों का नर्तन और वक्रहोठों की थिरकन···इशारे से लड़कियाँ हटा दी गयीं। गिंसबर्ग कविताएँ पढ़ रहा है—"सूखने के लिए टाँग दिया है खिड़की पर लिं × ।" ऐसा ही कुछ। लोग बन्द मुँह पर हाथ रख कर एक दूसरे की ओर ताकते हैं, शायद यह जानने के लिए या जनाने के लिए कि कहींएक दूसरे की चेतनाएँ मरी तो नहीं हैं। और तब काफी गड़बड़ × × मीटिंग बीच में बर्खास्त। क्षोभ, गालियाँ, बकवासें। एक दोपहरी में सारनाथ से शमशेर आये। मौलवी साहब से खुलकर बातें हुईं। बोले—सुनो, उसने एक कुष्ठी के पीव-मवाद भरे घावों को साबुन से धोया, मरहम-पट्टी की, क्या समझते हो तुम इसे? जाहिर है कि मैं ही नहीं, कोई भी इसे महत् कार्य कहेगा, परम कारुणिक····। 'शिशु सन्त' यह भी कहा है किसी ने?

गिंसबर्ग भारत के विभिन्न शहरों में घूमता रहा। वह जहाँ-जहाँ गया, क्षुब्ध विक्षुब्ध, बीमार-बुभुक्षित नवयुवकों के छोटे-मोटे दल उपजते-पनपते गये कुकुरमुत्ते की तरह। एक खास संकोचहीन साहसिकता इनकी मुख्य विशेषता बनी।

तभी कलकत्ते में भूखी-पीढ़ी के कुछ नवयुवक साहित्यकारों की गिरफ्तारी के समाचार मिले, देश में इस आन्दोलन के प्रति उदासीनता रही, पर अमरीकी पत्र 'टाइम' ने इसे काफी महत्त्व दिया। वात्स्यायन के कामसूत्रवाले देश की शुद्धवादिता 'टाइम' के लिए व्यंग्य का विषय बनी; पर बुभुक्षित पीढ़ी के प्रति इस अतिरिक्त स्नेह का कारण शायद यह भी था कि "इसका जन्म १९६२ में अमरीकी बीटनिक कवि एलेन गिंसबर्ग की प्रेरणा से हुआ।" टाइम-संवाददाता की दृष्टि में "कलकत्ते की यह भूखी पीढ़ी यौवन ज्वार से भरा बंगाली नौजवानों का बढ़ता हुआ समुदाय है जो यह मानता है कि तात्कालिक शारीरिक आनन्द में ही जिन्दगी का महत्त्व निहित है और अपने खोखलेपन के लिए वे समाज को जिम्मेदार ठहराते हैं।"

"तात्कालिक शारीरिक आनन्द" को इस देश में कभी झुठलाया गया हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। जहाँ वात्स्यायन ने कामसूत्र रचे, चार्वाक ने शरीर को ही समूचे सुखों का साधन माना, तान्त्रिकों ने नारी-समागम अथवा मुद्रा-सेवन के भीतर से अचिन्त्य सुख की कल्पना की। बौद्ध सिद्ध नारी नितम्ब को श्रीपर्वत और सिद्धपीठ मानते रहे, पौराणिक ऋषि सुबह-शाम, सन्ध्या-असन्ध्या का विचार करके भी मैथुन में लीन होते रहे, सृजन के देवता के रूप में युगवद्ध योनि और लिंग पूज्य बने। यही नहीं अपेक्षाकृत ज्यादा शालीन और सात्त्विक कही जानेवाली वैष्णव साधनाओं में भी काम या रति को प्रचुर महत्त्व दिया गया। फिर यदि बंगाल के कुछ नवयुवक तात्कालिक शारीरिक आनन्द को जिन्दगी का मूलमन्त्र मानते हैं, तो इसमें इतने शोर-शराबे की क्या जरूरत है?

वस्तुतः 'हंग्री जेनरेशन' को "तात्कालिक शारीरिक आनन्द" में सब कुछ खोजनेवाले अराजकतावादी नवयुवकों की अभद्रता मात्र मान लेना न तो उनके साथ न्याय कहा जायेगा और न तो इस समस्या के सही रूप और उसके कारणों को ठीक से समझा ही जा सकेगा।

कलकत्ते की भूखी पीढ़ी के बारे में इधर-उधर पत्रों में काफी-कुछ निकलता रह है। हिन्दी में 'धर्मयुग' तथा 'ज्ञानोदय' में कुछ लेख आये हैं। काशी से निकलनेवाली और अब ठप् 'मराल' पत्रिका ने अपने आखिरी अंक में भूखी पीढ़ी का परिचय छापा था। इन सभी तरह की सामग्रियों ने हिन्दी पाठकों के आगे भूखी पीढ़ी का कुछ न कुछ रूप प्रस्तुत किया ही है। भूखी पीढ़ी से मिलते-जुलते दल या व्यक्ति सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में कमोबेश रूप में मुखर दिखाई पड़ते हैं। यह सही है कि अभी तक भूखी पीढ़ी ही एक आन्दोलन के रूप में सामने आयी है। पर क्या इसे भी कोई आन्दोलन कहा जा सकता है? आन्दोलनों के लिए प्रायः जिस अनवरत विकसमान चिन्तन-

पीठिका की जरूरत होती है, वह भूखी पीढ़ी को प्राप्त नहीं है। ले-देकर भूखी-पीढ़ी अभी तक परस्पर विरोधी बातें करनेवाले कुछ थोड़े से नवयुवकों की संगत या पंगत मात्र बन सकी है। सच तो यह है कि कलकत्ते की पुलिस ने यदि इनके विरुद्ध कोई कार-रवाई न की होती, तो शायद जितना संगठित ये अब दिखाई पड़ते हैं, उतना भी न होते।

भूखी पीढ़ी या इससे मिलती-जुलती विचारधारावाले दूसरे लेखकों की मान्यताओं और रचनाओं का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि ये सभी असामान्य रूप से क्षुब्ध हैं। कुछ क्रुद्ध हैं, कुछ ऊबे हैं, कुछ बीमार हैं, कुछ बुभुक्षित हैं। ऊपर से देखने पर इनमें जो कुछ भी विभेद या संभेद दिखे, भीतर से सभी एक-जैसे असंतुष्ट दिखायी पड़ते हैं। यह असन्तोष व्यक्तिगत स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप लिया करता है। जहाँ ये विरोधी सीमाओं को तोड़ नहीं पाते, निराशा या बीमार लगते हैं, जहाँ निराशा बहुत घनी नहीं होती, क्रुद्ध या क्षुब्ध। जहाँ ये क्रुद्ध और क्षुब्ध हैं, इनके स्वर भिन्न हैं। ये अपने को अनिवार्य रूप से बदतमीज मानते हैं। शरीर सम्बन्धों को पाक दोस्ती का दरजा देते हैं। माँ को दीदी कहना पसन्द आता है। अपने जन्म को माता-पिता का एहसान नहीं, सन्तति-नियमन की जानकारी न होने का संयोग समझते हैं। ये समाज के आडम्बर से चिढ़े हैं और लोगों के पास गत्ते का मुखौटा भेजकर उनके दिखावे की मनोवृत्ति का मजाक उड़ाते हैं। बुभुक्षित कवि 'हनी के जन्म दिन' पर अपनी पीढ़ी के लोगों की कारगुजारी का निसंकोच इजहार करता है—

> हमलोग सदल बल द्रोपदी के दीर्घ
> वस्त्रहरण के इस लिंग-प्रधान प्रहसन में
> मनोवेदना के लिए चाहते रहे हैं
> महिलाओं के निचले हिस्से में फूल-बगान
> बाकी हर जगह श्मशान।

सात लाख युवतियों के चूतड़ पर लात मारने के इच्छुक, इन विक्षिप्त व्यक्तियों के प्रति सामाजिक उग्रता का प्रदर्शन भी इनके साथ अन्याय ही होगा। इनकी यह विक्षि-प्तता न तो विद्रोह है और न तो प्रीतिकर उद्दण्डता ही। वस्तुतः यह रोग है और रोगी कभी सभ्य समाज की घृणा और क्रोध का पात्र नहीं होता। मैं सोचता हूँ कि इन सात लाख युवतियों में जाने कितनी ऐसी होंगी जो भूखी, आँखों में आँसू लिये सो जाती होंगी, कितनी ही अनेक सामाजिक परिस्थितियों के कारण मनचाहे व्यक्ति को अपना जीवन-साथी बनाने में असफल होकर आत्महत्या करने का मनसूबा बाँध रही होंगी, जाने कितनी अपनी बीमार माँ और अबोध भाई को जिन्दा रखने के लिए चकले जाती होंगी, और अनेक समाज से ऊबी, क्रुद्ध और बुभुक्षित होंगी; पर वे कभी भी सात लाख युवकों के चूतड़ पर लात मारने को शायद ही सोच पाती होंगी, क्योंकि विकृत वासना

से पीड़ित होकर अपना "बहिरंग" पकड़ कर "आधी रात को सूने खुले हुए राजपथ से मटियाबुर्ज" तक की दौड़ लगाने की विवशता सिर्फ 'पुरुष' के लिए ही है जो अपने जहर को अगल-बगल कहीं भी उगलने के लिए 'फूलदान' खोजा करता है। एक तरफ गिंसबर्ग है जो बकौल शमशेर एक कुष्ठी के घाव को धोना और मरहम-पट्टी करना अपना धर्म समझता है। एक ओर सात लाख युवतियों को चूतड़ पर लात मारने के इच्छुक ये बुभुक्षित। माना कि दर्द है, पीड़ा है, बेइन्तहा परेशानी है, मगर इस अजहद परेशानी के बीच भी दुखी, समानधर्मी पीड़ित इन्सानियत के लिए हमारे मन में सहानुभूति नहीं रही तो फिर क्या रही ? आक्रोश का ठीक पात्र ढूँढना विद्रोह की पहली जिम्मेदारी होती है। मेरा ख्याल है कि भारत की सात लाख निरपराध युवतियाँ भूखी-पीढ़ी की वर्तमान अवस्था का मूलभूत कारण कदापि नहीं हैं। पुत्र को जन्म देने में माता-पिता का एहसान न हो, सन्तति-नियमन की जानकारी न होने का संयोग ही हो, पर उत्पन्न पुत्र का पालन-पोषण तो निःसन्देह ही एहसान है, जिसके लिए वे हमारी श्रद्धा भले ही न पायें, घृणा और गाली के हकदार तो नहीं ही हैं। पिता पुत्र को स्नेह देकर निरीह बन जाता है। ऐसे निरीह पिताओं के प्रति पुत्रों का उद्दण्ड से उद्दण्ड व्यवहार भी विद्रोह नहीं बन सकता, क्योंकि एक अदृश्य रागात्मक सम्बन्ध द्वन्द्वी-प्रतिद्वन्द्वी दोनों को विद्रोह के लिए आवश्यक तटस्थता से अलग रखता है। रही बात पुरुष पुरुष के बीच समलिंगी सम्बन्धों की तो इसे किसी भी प्रकार उचित ठहराना, तथा फलसफा का जामा पहनाना दूषित मनोवृत्ति का ही परिचायक माना जायेगा। इसे अधिक से अधिक मानवीय विवशता ही कहा जा सकता है। एक मित्र ने बड़ा जोर देकर कहा, इसे आप यों ही सेक्कुअल डीविएशन (ऐन्द्रिक भटकाव) कह कर टाल न दीजिए, इसके पीछे सचमुच बहुत क्रान्तिकारी दर्शन और चिन्तन है। उन्हें अचानक ब्रिटेन के "हाउस ऑव लार्ड्स" का सबल समर्थन मिल गया था। लेहाजा उदग्र कण्ठ, काँपते होठों बोले—"आप तो यह मानेंगे ही कि मनुष्य का विकास प्रकृति के विरोधी तत्त्वों से निरन्तर लड़ने और उन्हें पराजित करने में निहित है। मनुष्य लाखों वर्षों से प्रकृति से जूझता चला आ रहा है। वह उसके अन्ध नियमों का दास कभी नहीं हुआ। प्रकृति मनुष्य को अपने दारुण पास में बाँधने का निरन्तर प्रयत्न करती रही है, और मनुष्य है कि उसकी सारी उद्दाम शक्तियों को दबोचकर उसे अपने अधीन करने का सफल संघर्ष करता रहा है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि आज सम्पूर्ण सृष्टि का सर्वोत्तम शक्तिशाली प्राणी होते हुए भी वह प्रकृति की एक मामूली व्यवस्था पर मोह के कारण विजय न पा सका। वह नारी के कोमल शरीर और उत्तेजक "फूल बगान" में बंधकर मर्कट की तरह नाच रहा है। प्रकृति के इस अन्ध नियक को तोड़ना क्या मामूली क्रान्ति है ? फिर एक बात और भी। नारी-पुरुष के इस उलझे हुए ऐन्द्रिक सम्बन्ध पर गहराई से विचार करेंगे तो लगेगा कि मोहान्धता के कारण एक नकली इतिहास और अवास्तविक

सांस्कृतिक परम्परा का निर्माण हुआ है। हमारा धर्मशास्त्र, साहित्य, कला, सौन्दर्य-बोध, पाप-पुण्य और कर्मवाद; सभी इस "फूल बगान" को केन्द्र बना कर बनते-बिगड़ते रहे हैं। इसलिए ये सभी झूठे और कृत्रिम हैं। इसलिए हम इस मोह-बन्ध को तोड़ना चाहते हैं। हम अपना एक नया क्रान्तिकारी सौन्दर्यबोध गढ़ना चाहते हैं जो नारी के "फूल बगान" का विवश आश्रित न हो।"

मुझे यह तर्क सुन कर हँसी आ गयी। हम वैज्ञानिक प्रणाली का मौके-बेमौके कैसा खतरनाक इस्तेमाल करते हैं। मनुष्य और प्रकृति जैसे एक दूसरे के आमने-सामने विरोधी तत्त्व की तरह खड़े हैं। दोनों में घात-प्रतिघात चल रहे हैं। प्रकृति ही मनुष्य की प्रसूता भी है, इसे हम भूल जाते हैं। प्रकृति अपने द्वारा उत्पन्न सृष्टि को एक खास प्रकार के नियमों में बाँधती है, जो हमेशा प्रगति-मुखी ही नहीं होते, यह सही है, पर वैज्ञानिक जानता है कि प्रकृति अपने द्वारा उत्पन्न सृष्टि की सुरक्षा और विकास के लिए भी सतत् प्रयत्नशील रहती है। मनुष्य सृष्टि किसी भी प्रकार बन्ध्या न हो, यह भी उसका अभीष्ट होगा ही, इसी कारण समलिंगी मैथुन-जैसी चीजें प्रकृति को काम्य नहीं हैं। प्रकृति के विरोध का अर्थ सृष्टि या मानव जाति का विरोध नहीं होता। मनुष्य ने प्रकृति के दुर्धर्ष तत्त्वों पर विजय प्राप्त की थी, मनुष्य जाति की सुरक्षा और प्रगति के लिए। उसने प्रकृति की सारी शक्तियों को अपने लाभ और अभ्युदय के लिए वशीभूत किया है, उत्सर्जन के लिए नहीं। और फिर नारी-पुरुष का सम्बन्ध मानव-सृष्टि का विरोधी कब से हो गया?

असल में हमारे युग की यह बुभुक्षित या बीमार पीढ़ी आज की विश्वव्यापी परि-स्थिति की देन है। वह उन्हीं परिस्थितियों की देन है, जिनके कारण हिरोशिमा पर पहला अणुबम गिरा। अणुबम के गिरने से हिरोशिमा में 'हिबाकुशा'—पीढ़ी का जन्म हुआ। हिबाकुशा हमारे ही भाई-बन्धु हैं, जो प्रथम अणुबम की विभीषिका में झुलस कर बाहर आये हैं। करीब ढाई लाख लोग, जो हिरोशिमा और नागासाकी में, तथा जापान के अन्य भागों में विरल रूप से फैले हुए हैं। ये जहाँ भी हैं बीमार हैं। इनकी बीमारी बिलकुल अनजानी और अपरिचित है। जिसे "बुरा-बुरा" कहते हैं, जिसका कोई इलाज नहीं है। ये ऊपर से अच्छे-खासे तन्दुरुस्त दिखाई पड़ते हैं। मगर इनमें से अधिकांश पर अक्सर उबकाई (नौसिया), चक्कर, दिल की धड़कन, स्मृतिभ्रंश आदि का दौरा पड़ता रहता है। इनके बारे में यह भी कहा जाता है कि ये स्नायुदौर्बल्य से पीड़ित हैं और और मामूली-सी बीमारी के होते ही भयानक खतरे की आशंका से विक्षिप्त हो जाते हैं। इनमें-से कुछ ऐसे जरूर हैं जो भयानक और वीभत्स कैन्सर से पीड़ित हैं। पर बाकी तो केवल आशंका के रोग से ही ग्रस्त हैं और निरन्तर "पिकादोन" (अणुविस्फोट) की पहली गड़गड़ाहट और चमक से आतंकित रहते हैं।

सबसे बड़े दुख की बात यह है कि जनता इन्हें सन्देह की दृष्टि से देखती है। और

बहुत से भोले लोग यह समझते हैं कि अणुविस्फोट से उत्पन्न बीमारियाँ छुआछूत की हो सकती हैं। अतः लोग इनसे बचकर चलते हैं। इनके साथ शादीब्याह करने में भी कठिनाइयाँ पेश आती हैं और समाज इन्हें अधिक से अधिक दूर रखने में ही अपना कल्याण समझता है।

मैं बार-बार सोचता हूँ कि इन लोगों का क्या अपराध है कि लोग इनके साथ ऐसा व्यवहार करते हैं? यह तो मात्र संयोग है कि अणु-विस्फोट के पहले शिकार ये हुए। यही चीज किसी भी मानव-वर्ग के साथ कहीं भी घट सकती है। यह असल में मानव-नियति का प्रश्न है। समूची मानवता का प्रश्न है!

मुझे लगता है कि हिरोशिमा में जो एटमबम गिरा था, वह भौतिक और स्थूल घटना से संयुक्त होने के कारण सहज पकड़ में आ गया; किन्तु इसी दौरान मानव जाति के मानसलोक में जो अणु विस्फोट हो रहे हैं, उनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं हो रहा है। जबकि ये दोनों तरह की घटनाएँ चाहे वे भौतिक स्थूल हों, अणु-विस्फोट की तरह अथवा सूक्ष्म मानसिक हों, बुभुक्षित पीढ़ी या बीट आन्दोलनों की तरह, मूल में एक ही उत्स से उत्पन्न हैं! अबतक सम्पूर्ण मानव जाति अपने भीतर या चतुर्दिक् व्याप्त एक सूक्ष्म सत्ता से अनुशासित थी, यह सत्ता था ईश्वर। अब ईश्वर नहीं रहा। वह हट गया; मगर उसका स्थान भी कोई ले न सका। ईश्वर चाहे गलत था या सही, एक बृहद् मान्यता जरूर था, जिससे जुड़कर हर व्यक्तिगत मूल्य एक महत् मूल्य बन जाता था। जिसे पाने के प्रयत्न में आदमी पीड़ा में भी सुख का अनुभव करता था। आज भी सारे विघटन और बिखराव के बावजूद अधिकांश लोगों में कुछ न कुछ व्यक्तिगत मूल्य हैं, वे नये हो सकते हैं, आधुनिक हो सकते हैं, बौद्धिक और तर्कमूलक हो सकते हैं; किन्तु ये सभी के सभी तुच्छ और कदर्थनीय इसलिए हो जाते हैं कि ये किसी बृहत् मानव-मूल्य या अतिक्रान्त तत्त्व से जुड़ नहीं पाते।

> मेरा विश्वास जो कल मेरे संग था
> मुझे छोड़ गया है
> मैं अपनी ही टाँगों पर टँगा हुआ
> गट्ठर हो गया हूँ।
>
> —श्रीकान्त वर्मा

क्या यह विश्वास कभी लौट सकता है? प्रयत्न जारी है कि व्यक्ति व्यक्ति के मनमें बीज-विन्दु की तरह निहित मूल्य जाग्रत हों। कहीं उन्हें जगाने के लिए समाजवाद का नारा है, कहीं लोकतन्त्र का, कहीं योजना का, कहीं आधिपत्य का। इन्हीं को एक खास उद्देश्य से हिटलर ने भी जगाया था। इसी को नेहरू जगा रहे थे, इसी को माओ और जॉनसन भी। किन्तु ये सभी तथाकथित बृहत् मूल्य मनुष्य की आस्था और विश्वास को अपने से सही ढंग से जोड़ नहीं पा रहे हैं। क्योंकि इनमें से कोई ऐसा नहीं है जो कर्म

की आविलता से कलंकित न हुआ हो। तो क्या मानव कभी खोया विश्वास न पा सकेगा ? इस युग की सबसे बड़ी वैज्ञानिक मेधा के स्वामी अलबर्ट आइन्सटीन ने १७ जनवरी १९५५ के अपने एक पत्र में नोबेल पुरस्कार-विजेता, क्वन्टुम सिद्धान्त के जन्मदाता, मैक्स बार्न को लिखा था—"यदि मैं अपना जीवन फिर से शुरू कर सकता तो वैसा कोई पेशा न चुनता जिसका सम्बन्ध ज्ञान की खोज से होता हो।" मैं यह पंक्ति पढ़कर काफी परेशान हुआ हूँ। क्या आइन्सटीन यह मानते थे कि हमारी सारी परेशानियों की जड़ में हमारी बौद्धिकता है ? वह बौद्धिकता जिसने ईश्वर को अपदस्थ करके अणुबम को उसके स्थान पर बिठा दिया ! इसी का एक दूसरा पहलू वेस्टर्न आस्ट्रेलिया विश्वविद्यालय के समाजशास्त्री प्रोफेसर एरिक साँ ने इस प्रकार रखा—"पश्चिमी जीवन में पागलपन और निराशा की समस्याएँ तेजी से बढ़ रही हैं। किसी भी क्षण किसी भी समाज का एक अंश अपने को समाज से पूर्णत: कटा हुआ और अलग समझने लग सकता है। अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार, यह अंश शराबी, समलिंगी मैथुन-प्रेमी, आत्मघाती और परघातक बनकर समाज को जोखम में डाल सकता है।" प्रोफेसर साँ ने यह निर्णय पश्चिमी यूरोप या अमरीका के सामाजिक विश्लेषण के आधार पर नहीं, आस्ट्रेलिया के समाज के अध्ययन के बल पर दिया है, जिस पर पश्चिमी जीवन-पद्धति का प्रभाव पड़ रहा है।

तो क्या इस परिस्थिति से कोई निस्तार भी है। जाहिर है कि आइन्सटीन के कथन में एक खीझ है। उस व्यक्ति की खीझ जिसको वैज्ञानिक साधना का तामसिक इस्तेमाल किया गया। बौद्धिकता या आधुनिक युगबोध से बचने का कोई रास्ता नहीं है। विकास की गति को मोड़ा नहीं जा सकता और न तो बीमार-बुभुक्षित पीढ़ी के प्रति आक्रोश या घृणा ही व्यक्त की जा सकती है क्योंकि ये इस युग की परिस्थिति की स्वाभाविक उपज हैं। हममें से कोई कल सहनशक्ति के खत्म होते ही, इस पीढ़ी में टपक सकता है। बीमार-बुभुक्षित लोग इस सहनशक्ति को कापुरुषता भी कह सकते हैं, मुखौटा भी; पर जहाँ पागलपन अनिवार्य है वह स्नायविक सन्तुलन बनाये रखना न तो भीरुता है और न तो कमजोरी। सवाल सिर्फ सहनशक्ति की डिग्री का है। मैं यह भी मानता हूँ कि अनेक अधिकार सम्पन्न, शोषक और सुख-सुविधा प्राप्त अमरबेलि जीवों के लिए बुभुक्षित पीढ़ी घृणा की वस्तु हो सकती है; किन्तु हर सचेत व्यक्ति घृणा 'अमरबेलि जीवों' के प्रति व्यक्त करेगा, बीमार पीढ़ी के प्रति नहीं।

फिर रास्ता क्या है ? स्पष्ट है कि कोई रास्ता सामने नहीं है। जो हैं वे ठीक हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। चेकोस्लवाकिया से गिंसबर्ग अनैतिकता फैलाने के आरोप में निकाले गये, "शिशु-सन्त" गिंसबर्ग। मैं इस काण्ड को एक महत्त्वपूर्ण घटना मानता हूँ, यद्यपि मैं समाज की बुद्धि का ठेकेदार राज्य को नहीं मानता। किन्तु इस घटना के लिए चेक सरकार को मैं दोषी नहीं करार पाता, क्योंकि मैं सामाजिक उत्तरदायित्व

नामक वस्तु में आस्था रखता हूँ। हो सकता है कि इस युग में सामाजिक संगठन के सारे प्रयत्न निष्फल होने के लिए ही किये जाते हों, यह भी हो सकता है कि एक दिन सारी मनुष्य जाति बीट-प्रणाली को स्वीकार करने के लिए विवश हो ही जाये, फिर भी आज इसे रोकने-थामने के जो भी प्रयत्न किये जा रहे हैं कदापि कदर्थनीय नहीं हैं ! उसी प्रकार जिस प्रकार अणु-विभीषिका को रोकने-थामने के प्रयत्नों को बेकार नहीं कहा जा सकता।

आरंभिक दिनों में ऐसा लगा कि हिंदी के नवयुवक साहित्यकारों को भी यह आन्दोलन प्रभावित कर रहा है, किन्तु यह सब भ्रम मात्र ही सिद्ध हुआ। हिंदी में इसी के समानान्तर कई तरह के आन्दोलन देशगत व्यापक विद्रोही प्रवृत्ति के परिणाम के रूप में अपने आप चल रहे थे और चल रहे हैं।

बुभुक्षित पीढ़ी की विचारधारा को स्पष्ट करने वाली कोई साधिकार चीज़ सामने नहीं आई। इसके सदस्यों के स्फुट निबन्धों और रचनाओं में इसका स्वरूप ज़रूर अभिव्यक्त हुआ है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि इस आन्दोलन के पीछे सामयिक उत्तेजना और दिशाहीन विद्रोह के अलावा कोई विचारधारा न थी।

यह सही है कि इनके कुछ क्रांतिकारी से लगने वाले नारे हैं—जैसे 'ईश्वर बहुरूपिया है।' 'धर्म धोका और प्रवंचना की पद्धति है।' 'धर्म एक चुस्त खोल है।' ईश्वर को ठीक से चलना सिखाना चाहिए; क्योंकि वह इस खोल में बुरी तरह फँस गया है।' 'धर्म हत्या, बलात्कार, आत्महत्या, नशीला पदार्थ, कीटाणु, और विष है।' यानी एक शब्द में धर्म बकवास मात्र है।

इन्हीं सब महान् आदर्शों से प्रेरित होकर क्षुत्कातर सम्प्रदाय, यानी भूखी पीढ़ी, ने समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के पास गत्ते के मुखौटे बनाकर भेजे थे। उनका कहना था कि ऊँची-ऊँची बातें करने वाले लोग दुहरे-तिहरे मुखौटों के भीतर रहते हैं, या तो वे सही मुखौटे लगा लें या यदि हिम्मत हो तो मुखौटे उतार कर हमारे बीच आएँ।

बुभुक्षित पीढ़ी के इस विद्रोह या आन्दोलन पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। यह मानने में किसी को इन्कार नहीं होना चाहिए कि यह पीढ़ी कलकत्ते के उस वातावरण की देन है जो बुभुक्षित, परेशान, अभावग्रस्त लोगों की ठेलमठेल के बीच ऊबा हुआ, क्षत-विक्षत, उन्निद्र और विक्षिप्त हो चुका है। हंग्री जेनरेशन का लेखक इस वाक्य में इसी अमानवीय स्थिति की ओर संकेत करना चाहता है। "होश संभालने के बाद एशिया के इस दूसरे सबसे बड़े शहर के लड़कों ने विश्वविद्यालय, शेयर बाज़ार, कालीघाट मंदिर, राइटर्स बिल्डिंग, घर में और बाज़ार में हर जगह मूल्य-पतन देखा हर तरफ भूख, भूख और भूख। भूख की आग बुझाने के लिए हजारों हज़ार ये सरकारी ग़ैर सरकारी दमकल।" यह आवाज है हंग्री जेनरेशन के एक समर्थक की। इन आवाज़ों

के पीछे के सत्य को नकारा नहीं जा सकता, पर केवल गाजफेनोत्पादक क्रोध और दिशा-हीन विद्रोह से समस्याएँ सुलझती नहीं, उलझती ही हैं। हंग्री जेनरेशन स्वयं में एक समाधान नहीं, प्रश्नचिह्न है और नाना प्रश्नचिह्नों से आहत इस देश के लिए यह काफी समय तक के लिए आकर्षण का विषय नहीं बन सकता। क्योंकि कोई भी समाज सिर्फ प्रश्नचिह्नों की कतार देख-देखकर शान्ति नहीं पा सकता। साहित्यकार को इन समूची उलझी हुई परिस्थितियों के बहाव में बह जाने की विवशता छोड़कर सही ढंग से सम-स्याओं से टकराने की ज़रूरत है। भूखी-पीढ़ी अमानवीय स्थितियों के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट कराने में कुछ अंशों तक जरूर सफल हुई है, किन्तु वह स्वयं में हमारे सामने कोई नई दिशा का उद्घाटन करने में पूर्णतः असफल रही है। स्वयं के ऊपर स्वयं के द्वारा लादा हुआ सामाजिक उत्तरदायित्व आज के लेखक की सबसे बड़ी आव-श्यकता है और मूल्यों से हीन और संकट से घिरे वातावरण में भी, जहाँ उसकी आस्था के लिए कोई सहारा नहीं है, उसे अपनी आत्मा के इजलास में अपने कर्मों के लिए जवाबदेह बनना ही होगा। बीटनीक्स, हिप्पीज़ और अमेरिका तथा योरोप के दूसरे सैलानियों की नक़ल करके हमारा नवयुवक समाज किसी किनारे लगने की उम्मीद नहीं कर सकता। उनका विद्रोह एफ्लुएँट सोसाइटी यानी अति सम्पन्न समाज की भौतिकता-वादी विलासिता की उपज है, जबकि भारतीय नवयुवक को भूख की समस्या का समा-धान विद्रोहों के बीच नहीं खेतों के बीच खोजना होगा। इस उत्तरदायित्व पूर्ण परिवर्तन के लिए साहित्यकार को विवेकपूर्ण रास्ता पाना और दिखाना होगा, तभी वह आज के युग में सार्थक साहित्य की सृष्टि करने में सफल हो सकता है। ● ●

नई कविता : अपनी पसन्द

नई कविता पर बहुत कुछ लिखा गया है। गुट प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध, अनेक लोगों ने इस पर इतना कुछ कहा और बका है कि एक पाठक की हैसियत से किसी के लिए बहुत बचाकर भी सही जमीन पर पाँव रख सकना मुश्किल हो गया है। मैं नई कविता की शुरुआत से ही उसका पाठक रहा हूँ; बहुत प्रबुद्ध तो नहीं कहूँगा, पर प्रयत्नशील ज़रूर, क्योंकि मैं नई कहानी के समानान्तर प्रवाहित इस भगिनी धारा को जानना और जहाँ तक हो सके उससे कुछ पाने की कोशिश करना अपना कर्तव्य मानता रहा हूँ। शुरू-शुरू में कुछ कविताएँ भी लिखी थीं, पर घिसट नहीं सका; क्योंकि घिसट कर चलते रहने का मनोबल मुझमें कम ही जग पाता है। इसलिए मेरे इस निबंध पर "असफल रचनाकार के समीक्षक हो जाने" वाली आपत्ति सहज ही चस्पा की जा सकती है। मुझे उससे भी इनकार नहीं है। क्योंकि मैं यह निबंध किसी महत्त्वाकांक्षा से, इस या उस कवि को उठाने या गिराने की गरज़ से नहीं; सिर्फ पिछले बीस वर्षों से नई कविता के प्रति बनती-मिटती अपनी प्रतिक्रियाओं को ताज़ी करने के लिये लिख रहा हूँ। यह मेरी खालिस व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द का एक दस्तावेज़ है, इसे कोई भी पूरा का पूरा रद्दी की टोकरी में डाल देने को स्वतंत्र हैं, पर यदि मेरे जैसे किसी समान धर्मा पाठक को इसमें कुछ भी नज़र आता है, जिसमें उसे अपनी धारणाओं का समर्थन मिलता है या कुछ सहायता पहुँचती है तो इसे स्वीकार करने को उस पाठक को भी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। बस।

ज़ाहिर है कि मैंने अपनी पसन्द नापसन्द का बयान करते हुए उन सभी प्रतिमानों को ताक पर रख दिया है, जो "नई कविता के प्रतिमान या "कविता के नये प्रतिमान" के लेबुलों के साथ दूकानों में बिकते हैं। मैं यहाँ उस सारे शोधकार्यों, निबंधों, आलोचनाओं, प्रत्यालोचनाओं, तथा नई कविता पर अब तक कहे गये समूचे निर्णयों को अनदेखा करके सिर्फ़ अपनी ही बात करूँगा।

नई कविता के प्रति मेरी रुझान और उसे पाठकीय तत्परता की स्थिति में ले आने का श्रेय 'प्रतीक' के उन अंकों को है जो १९५१ के बाद से कुछ अर्से तक के लिए हर महीने मेरे सामने आते रहे। अक्तूबर १९५१ के प्रतीक में मेरी कहानी "दादी मां" प्रकाशित हुई और चूँकि वह मेरी पहली कहानी थी, इसीलिए मैंने उस अंक को कई बार उलटा-पलटा, जैसा कि हर नया लेखक अपनी पहली रचना वाले अंक को करता है। उसी अंक में यह कविता प्रकाशित थी, मेरी पहली कहानी के ठीक पहले वाले पृष्ठ पर :

सोने के सागर में अहरह
एक नाव है
[नाव वह मेरी है]
सूरज का गोल पाल सन्ध्या के
सागर में अहरह
दोहरा है····
ठहरा है···
[पाल वो तुम्हारा है]

शमशेर की इस कविता की गत्वरता और इसकी थिरकती लयात्मकता लोकधुन से प्रभावित है। सहसा इस कविता का इतना तीव्र प्रभाव संभवतः इसी गतिमयता के कारण पड़ता है; किन्तु इस कविता में यदि मात्र लोकधुन के अनुसरण का ही प्रयत्न होता तो शायद यह भी उस काल की अनेक लोकात्मक छन्दोधर्मी कविताओं की तरह चमत्कारिक आकर्षण का कारण भले ही बन जाती; किसी विशिष्ट भाव-सम्वेदना से वंचित होने के कारण दुवारा-तिवारा पढ़ने का आवाहन न कर पाती। साँझ की स्वर्णाभ रोशनी में डूबते हुए सूरज के बिम्ब के समीप चलती हुई नाव सामान्य वर्ण्य मात्र है। रोशनी के कारण पीताभ जल को सोने का सागर कहना और डूबते सूरज तथा जल में पड़े उसके बिम्ब को दोहरे पाल के सदृश देखना, काफी काव्यात्मक है; पर नया नहीं। पाल और शान्त जल में उलटे उसके प्रतिबिम्ब के बीच का सादृश्य तथा उसका सूर्य विम्ब पर आरोप सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति का द्योतक है, इसमें सन्देह नहीं, और इतना मात्र भी एक बहुत ही सुन्दर स्थिर छविमयता (स्टिल फोटोग्रैफी) का आनन्द प्रस्तुत कर देता है; पर कविता अपने ऊपरी आवरण को चीर कर एक दूसरे पर्त का भी उद्‌घाटन करती है 'यानी नाव मेरी है, पाल तुम्हारा' है। ये पंक्तिया कोष्टकों के बीच बन्द हैं। कवि इन्हें दर किनार ही रहने देना चाहता है; किन्तु मूल अर्थ इन्हीं में आवृत है, उसे भी वह भली भाँति जानता है। नाव और पाल के बीच का सम्बन्ध लौकिकार्थ में किन्हीं दो व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध की अपेक्षा जीवन और उसकी नियन्ता शक्ति का प्रतिकार्थ भी बन जाता है। यह रहस्यमयता इस कविता को एक विचित्र अर्थविच्छित्ति से प्रभामंडित कर देती है और इसके अन्त में जब कवि "मन तू एक नाव है" कह कर नाव के प्रतीक को स्पष्ट करता है तो जैसे वह कविता को हल्की बनाने का गुनाह करता है; इस गुनाह में ही वह तीसरी पर्त भी छू देता है जहाँ नाव और पाल दो व्यक्तियों के बीच के सम्बन्धों से भी अलग होकर सिर्फ़ एक व्यक्ति के मानसिक जगत् के भावसमुद्र और चेतना की नौका का प्रतीक बन जाते हैं।

अमरन मौन एक भाव है
[और वह भाव हमारा है मौन बहाव हमारा है]

सारी कविता मौन के नैरन्तरिक बहाव की इसी प्रखर छविमयता से उद्वेलित है। मुझे इस कविता को पढ़कर लगा कि कुछ ऐसा घट गया है जो हमें अचानक छायावादी जगत् से अलग करके एक दूसरे किनारे पर खड़ा होने को विवश कर रहा है, हालांकि न तो छायावादी उपकरण बदले लग रहे थे और न तो उनके भीतर विद्यमान रहस्य को अनुगूँज ही समाप्त हुई थी।

इसी अंक में सत्यप्रिय मित्र (जो आज के एक प्रसिद्ध नये कवि का छद्मनाम था) सर्वेश्वर, नलिन विलोचन शर्म्मा की भी कविताएँ छपी हैं। 'आदत का गुलाम बहुत' प्रयोगशील है, इस हद तक कि चाँद के बारे में व्यक्त उक्तियाँ बेहद अजीब लगती हैं, हालाँकि कवि का उद्देश्य चतुर उक्तियों के भीतर से चाँद की विभिन्न मुद्राओं की मासूमियत दिखाना रहा है। सर्वेश्वर की कविता "बीसवीं शताब्दी के एक कवि की समाधि पर" निहायत रूमानी है। और अपने बेडौल विस्तार में काफी सपाट भी। नलिन जी की कविता 'रामगिरि' का स्वर शास्त्रीय है और भंगी दार्शनिक। किन्तु इसी अंक में एक बहुत नये कवि की तीन और कविताएँ प्रकाशित हैं। कवि हैं केदार नाथ सिंह और कविताएँ हैं—विदा, थका प्रवासी और मूक दो परछाइयाँ !

ये तीनों कविताएँ पाठक को बरबस खींचती हैं। बहुतों को पहली चतुष्पदी कविता खींचेगी।

> स्नेह कंपित उँगलियों से कर मुझे अभिषेक
> ली तुम्हारी मूकता ने राह मेरी छेंक
> सहम होठों पर, गये सो, उमड़ कितने प्रश्न
> शब्द उनमें विदा केवल गूँजता था एक

मुझे पहली पंक्ति के व्याकरण पर, दूसरी पंक्ति के "छेंक" पर इतनी आपत्ति है कि मैं इसे मन पसन्द कविता नहीं मान पाता।

'थका प्रवासी' इसकी अपेक्षा ज्यादा प्रभावपूर्ण है, हालाँकि इस कविता के भीतर का आकर्षण बहुत कुछ कैशोर भावुक स्वप्निलता में निहित है। "धनहरे खेतों की डहर" पर चलते प्रवासी का प्रकृति-निरोक्षण मात्र छायावादी बहाव हो गया होता, यदि प्रकृति के बहुत अपदार्थदृश्य और घटना व्यापार के भीतर 'थकान' की पीड़ा इतनी सांकेतिक न होती—

> "देखता मैं कभी अपने को कभी उस बूँद को
> जो ओठ पर खर के झुकी
> लेकिन ढला जाता नही"

यह मात्र परिदृश्य नहीं बल्कि एक सांकेतिक कथन है जो थके प्रवासी के मन की स्थिति को संवेद्य बनाता है, पर कविता के अन्त में सहसा "मेलोड्रैमेटिक" तत्त्व

का गुंफन उसे बहुत नीचे उतार देता है, उस उलाहने और कसक वाली पुकार के बावजूद जो कि कविता के अन्त में थकान की रेखा को ग्राफ में 'क्लाइमेक्स पर पहुँचाने के लिए नियोजित की गई है :—

> गिर पड़ी बिजली कहीं जैसे
> उठी आवाज-सी नभ में
> किसी को ओ निठुर ऐसे तड़पते में
> छला जाता नहीं।

इन दोनो कविताओं से ज्यादा सार्थक तीसरी कविता है क्योंकि उसकी एक पर्त में जहाँ सूक्ष्म प्रकृति है, वहीं दूसरी पर्त में मानव व्यापार की समानान्तरता तथा इन सबको समेट कर उभरता एक आलाप, जो ड्रैमेटिक तो है पर किसी तीसरी पर्त को छूने भी लगता है।

> ढल गया सा नभ सिंदूरी
> पार के बन पर सिमट कर
> खींचतीं आगे पहाड़ी पंथ की उतराइयाँ
> प्रश्न मेरा—'राह लम्बी है !''
> सुना, पर स्वगत सा कुछ
> 'लग रही अच्छी मुझे वीरान की गहराइयाँ
> और देखा—
> झील के झुटपुटे पानी में सिमट खोने लगी थीं
> मूक दो परछाइयाँ

कहना न होगा कि प्रतीक के इस अंक की उपर्युक्त कविताएँ मात्र बहाना हैं, उस बात के लिए, जो ५० के बाद की कविताओं को पूर्ववर्ती कविता से अलग करने के लिए, उठाई गई है। यह वह समय है जिसे मैं "नवलेखन: स्थिति और समस्याएँ" निबंध में में निश्चिन्तता और आत्मपरीक्षण की प्रवृत्ति का परिणाम सिद्ध कर चुका हूँ। ये कविताएँ भी इसी बात की पुष्टि करती हैं कि बावजूद इसके कि शिल्प, नियोजन और गठन में छायावादी कविताओं से स्पष्ट अलगाव दिखाई पड़ता है, पर इनमें तनाव कहीं नहीं है। बड़ी आसानी से उपर्युक्त कविताओं के स्थान पर दूसरी कविताएँ देखकर वही बात कही जा सकती है।

प्रयोगवादी कविता की एक और प्रवृत्ति, जो उनके रचनाकारों की दृष्टि से अज्ञेय प्रेरित प्रवृत्ति से भी प्राचीन और सही थी, समानान्तर चल रही थी। मैं इन कवियों के, जिनमें नलिन, केसरी और नरेश सम्मिलित हैं, प्रपद्यद्वादशसूत्री के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ। मेरे उक्त लेख पर जो कल्पना में (नवम्बर १९५२) में छपा था पाटल में नरेश ने और "नकेन के प्रपद्य" में केसरी ने यह आरोप किया कि मैंने शीघ्रतावश

उस प्रवृत्ति पर जम कर विचार नहीं किया, फलतः उपेक्षा का अपराधी हूँ। मैंने नकेन के प्रपद्य पुस्तक को बहुत गंभीरता से पढ़ा; पर ईमानदारी के साथ कहना पड़ता है कि ये रचनाए मुझे पसन्द नहीं आयीं। यह सही है कि इन रचनाओं में वहुत नये किस्म के प्रयोग हैं, और कई दृष्टियों से ये प्रयोग निश्चय ही अज्ञेय-प्रभावित कवियों के प्रयोगों से काफी भिन्न और अलग हैं; पर इन प्रयोगों के बावजूद इन कविताओं में पाठकों को आकृष्ट करने वाली संवेदना का अभाव है तो यह जानने की जरूरततलब होनी चाहिए कि क्यों ये रचनाएँ असफल रहीं। इनकी असफलता स्वतः सिद्ध इसलिए भी है कि न तो ये उस काल में चर्च्य बनीं और न तो कालान्तर में उनसे प्रेरणा ग्रहण करने की किसी कविने प्रयत्न किया और तो और अपनी जन्मभूमि बिहार तक में इस धाराको स्वीकार कर इसे आगे ले चलने वाले कवि नहीं आये। नलिन जी की कविताओं में पुरातन मिथक नये संदर्भ में एक हल्का कुतूहल जगाते हैं। केसरी की रचनाओं में जहाँ चौंकाने वाले विम्ब या अन्य उपकरण कम हैं, एक सूक्ष्म अर्थवत्ता का आकर्षण है जैसे उनकी प्राक्भाव, (२) कविता में। नरेश की कुछ कविताओं में, आज की नईकविता यानी युवा कविता के कुछ समूहों में प्रवर्तित आधुनिकताबोध की प्राक् प्रेरणा छिपी दिखाई पड़ सकती है। इस दृष्टि से 'मिस मोनिका,' 'आधुनिक नर्गिस का स्वगत' आदि कविताएँ ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। पूरे संग्रह में मुझे नकेनवादी कविताओं की सर्वोत्तम उपलब्धि के रूप में नलिन जी की कविता "बिव्वो का बिब्बोक" लगी। कविता इस प्रकार है—

बिब्बो ने कहा एक दिन
'मुझे चाहिए गगन-सुमन सुन लो"
उसके जूड़े में गुँथे फूल थे। ले लिया
उन्हें, बोला, 'हाज़िर हैं चुन लो।'
बिब्बो बोली, 'मेरे काले कुन्तल'
आकाश-रूप फूल फूल हैं क्यों,
कवि हैं न ? उसने फुला लिया गाल
वाग्वाण उसके होते ही हैं पुंखल
उन्निद्रा : भीगती रात : गद्य पद्य
नीली पीली गोलियाँ नींद की
बिब्बोक विब्बो का अनवद्य
छाती पर पुस्तक आंद्रे ज़ीद की।

बिब्बोक प्राचीन शृंगारिक साहित्य का प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द है। रूपगर्विता प्रेमिका का प्रिय के प्रति अभिव्यक्त अनादर बिब्बोक कहा जाता है। "मनाक् प्रिय-कथालापे बिब्बोकोऽनादरक्रिया"। प्रतापरुद्र की यह परिभाषा उपर्युक्त कविता के गूढ़त्व

को स्पष्ट करेगी। कविता की पूरी गठन और संदर्भपटुता इसे काफी अर्थगर्भित और आकर्षक बनाती है। "गगनसुमन" की माँग एक ओर जहाँ प्रेमिका के रूपगर्व, प्रेम-विश्वास आदि की द्योतक हैं, वहीं व्यंग्य रूप में वह "अनावश्यक, अप्राप्य की माँग को लेकर" अकारण क्रुद्ध होने के स्वभाव यानी स्वभावज बिब्बोक की उत्पत्ति को सहज और इस प्रकार के प्रेमालाप पर हल्के व्यंग्य को शाणित बनाती है। जूड़े में गुँथे फूल को ही गगनसुमन मानने वाले प्रिय की व्यावहारिकता, बिब्बोक को समझने की धीरता और आधुनिक नायिका को "टैकल" करने की कुशलता के द्योतक हैं। 'फूल, फूल हैं क्यों ?' में अंग्रेजी और हिन्दी के फूल के अर्थान्तर का चमत्कार है, वहीं "फुला लिया गाल" मुहावरा, मूल शब्द फूल से बनी "क्रिया" के कारण 'फूल' की अनेक परतें उद्-घाटित करता है। अंतिम अंश में मध्यमांश के "कवि हैं न ?" की पीड़ा की विवृत्ति है—उन्नींद्रा, गद्यपद्य, नीलीपीली गोलियाँ नींद की—और बिब्बो का बिब्बोक—यहाँ आकर कविता का, कविकर्म का बिब्बोक बन जाता है—आंद्रेज़ीद संभवतः बिब्बोक वाली नायिकाओं के सृष्टि-कर्ता के रूप में ही नहीं, बल्कि जीवन के बीच अपनी स्वतंत्रता-प्रिय स्वभाविक चेतना के कारण स्मरणीय बन जाता है।

हिन्दी में तब तक अज्ञेय का नाम अग्रगण्य आधुनिक कवि के रूप में बहुचर्चित था। यह सही है कि अनेक कारणों से मुक्तिबोध की उतनी चर्चा नहीं हुई; जितनी के वे हक-दार थे, पर अब उनकी बहुत सी रचनाएँ सामने आ गई हैं, इसलिए दोनों को युगपत् रखकर परीक्षण करने का जोखम उठाया जा सकता है। हालांकि हिन्दी में इन्हें आमने-सामने रखकर गुट बनाकर अपना उल्लू सीधा करने की प्रवृत्ति ही ज्यादा नज़र आती है।

एक बार बिहार के एक नवोदित कवि ने इन दो कवियों के बारे में मुझ से कुछ प्रश्न किये थे। यहाँ प्रश्न तुलनात्मक श्रेष्ठता का नहीं है। मैं अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों की दो बहुचर्चित कविताओं को सामने रखकर अपनी बात कहना पसन्द करूँगा।

कविताएँ हैं "असाध्य वीणा" और "अँधेरे में"। कविताएँ आपने पढ़ी हैं, इसे मानकर चलना ही सुकर होगा; क्योंकि वे अतिदीर्घ अनुद्धरणीय हैं। शायद पाठकों को दोनों ही कविताएँ एकदम भिन्न वस्तु, शिल्प और विचारविन्दु के कारण समानान्तर पाठ्य के रूप में स्वीकार्य न हों; पर मुझे दोनों ही कविताओं में एक ऐसा विन्दु भी मिलता है जो समान है और वह बिंदु दोनों ही कवियों की रचनाप्रक्रिया तथा मानसिक गठन का अभिसाक्ष्य होने के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगता है।

ऊपर से दोनों ही कविताएँ अलग-अलग विषय और भावबोध पर आधारित हैं। "अँधेरे में" कविता "देश के आधुनिक जन-इतिहास का—स्वतंत्रतापूर्व और पश्चात् का एक दहकता इस्पाती दस्तावेज़ है। इसमें अजब और अद्भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है, देश की धरती, हवा, आकाश, देश की सच्ची मुक्ति आकांक्षी नस-नस

इसमें फड़क रही है—और भावनाओं के अनेक गुम्फित स्तरों पर। डॉ० प्रभाकर माचवे का कहना है कि यह "गुरेनिका इन वर्स" है।" शमशेर की इस धारणा से मेरा विरोध नहीं है। उपर्युक्त सभी बातें इस कविता में हैं और भी अनेक तत्त्व हैं जो इसे एक महान् कविता बनाने में सहायक हुए हैं। पर इस कविता का एक बहुत ही ज्वलन्त पक्ष प्रायः आलोचकों की दृष्टि से अछूता रह गया है, वह है, कवि की अपने मानस की विवृत्ति, उसकी प्रक्रिया और सारे विरोधी दमघोट तनावपूर्ण स्थिति में छटपटाती उसकी अन्तर्चेतना—यानी "अँधेरे में" कविता मुक्तिबोध के अन्तर्व्यक्तित्व का दस्तावेज ज्यादा है, बाह्य भारतीय इतिहास का कम। इस कविता की आरंभिक पंक्तियों में घुमड़ता "वह कौन? वह कौन?" प्रश्नवाचक प्रतीक है जिसकी अनेकानेक परत-दर-परत शिनाख्त और चीड़फाड़ आगे की पंक्तियों में होती चलती है। "गहन रहस्यम अन्धकार ध्वनि सा यह अस्तित्व" किसका है? वह जो दिखाई देता है पर जाना नहीं जाता—कौन मनु? तालाब के निस्तब्ध सलिल के तमश्याम शीशे में श्वेत आकृति वाला पुरुष कौन है? तिलस्मी खोह के शिलाद्वार पर सामने रक्तालोक स्नात पुरुष कौन है?

अंधकार, श्वेत, रक्तालोक—इन तीन रंगों में इतिहास के गाथाचक्र अवश्य ही पूरे होते से दीखते हैं, मनु मानव सभ्यता के आरंभ को अपनी अर्थ-परिधि में लपेटता भी दीखता है—पर इन सभी प्रतीकों को समेट कर कवि की अन्तर्चेतना सामने आ ही जाती है, और वह काफी खुले ढंग से स्वीकार करता है—

वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पायी गई मेरी अभिव्यक्ति है।
पूर्ण अवस्था वह
निज संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव
हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह
आत्मा की प्रतिमा।

कवि की यह "अप्राप्त अभिव्यक्ति" और कुछ नहीं उसकी इन्ट्यूशन-लब्ध सहजानुभूति है जिसे वह नाना प्रयत्नों के बाद भी शाब्दिक अभिव्यक्ति में बाँध पाने के बारे में शंकालु है।

वह जानता है कि मन के अँधेरे में उठने वाले ये वर्तुल भावों के शतसहस्र संघर्ष और उनके समवेत सम्मिश्रण से उत्पन्न अनुभूति उसे हर मोड़ पर धोका देकर निकल जा रही है, उसके हाथों से छूट-छूट जा रही है, पर वह निरन्तर उसे पकड़ने, उपलब्ध करने के अपने प्रयत्न से विश्रमित नहीं होना चाहता।

मानस के सम्पूर्ण अंधलोक में चेतना की हल्की मशाल जो जली तो वह उसी के

प्रकाश में अपनी चेतनाप्रक्रिया को ही पहचानने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु ऐसा कार्य तमस् प्रकृति के स्वभाव-विरुद्ध है/उसने "फूँक मार एकाएक मशाल ही बुझा दी/कि मुझको यों अँधेरे में पकड़ कर/मौत की सज़ा दी/किसी काले डैस की घनी काली पट्टी ही/आँखों में बँधा गई/किसी खड़ी पाई की सूली पर टाँग दिया गया/किसी शून्य बिन्दु के अँधियारे खड्डे में गिरा दिया गया मैं/अचेतन स्थिति में/"

बाहरी दुनिया में साँकल बजती है, वही पुरुष फिर लौट आया है; पर कवि के मानस में 'कोई होठों पर होंठ रख कर सच बात कहने में तड़प जाय'—जैसी अनुभूति जग जाती है। पूरी कविता वाह्य और उन्हीं के सदृश सम्बद्ध आन्तरिक प्रतीकों के दुहरे स्तर पर निरन्तर आबद्ध लगती है। कवि बार-बार इस अन्तर्द्वन्द्व, बाह्य जीवन में बिखरी अनुभूति के उपादान और आन्तरिक चेतना में उनके प्रभाव और उन्हें अभिव्यक्त करने की संचेतना के अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न ग्लानि, क्षोभ, तितिक्षा का वर्णन करता है।

उसे यह कार्य पर्वत-संधि के गह्वर को रस्सी के पुल से पार करने की तरह लगता है। पर वह दरवाजा खोलकर (चेतना के आवरण हटाकर) उस अनुभूति को पकड़ने की कोशिश करता है तो लगता है प्रयत्न में, प्रक्रिया में वह चीज़ ग़ायब होती जा रही है—

कुत्तों की दूर-दूर अलग-अलग आवाज़
टकराती रहती सियारों की ध्वनि से
काँपती हैं दूरियाँ गूँजते हैं फासले
(बाहर कोई नहीं, कोई नहीं बाहर)

सियारों का हो-हो, रेलगाड़ी के पट्टियों की आवाज़, जुलूस, कोलतार पथ, शत्ध्वनि संगम संगीत, गैसलाइट की पंक्तियाँ, नींद में खोया शहर, बैंड, मिलिट्री, कविगण, शोभायात्रा—ये सारे प्रतीक उसके "विचारों की फिरकी पर घूमते" उसी एक केन्द्रीय अनुभूति को बाँधने का प्रयत्न हैं।

अकस्मात् चार का ग़जर कहीं खड़का
मेरा दिल धड़का

कवि समाज की विरूपताओं, वर्वर कृत्यों, असत्य और बेईमानी भरे प्रदर्शनों से संत्रस्त मानवता के दर्द को अभिव्यक्त करना चाहता है। अब तक उसकी अभिव्यक्ति के सामने ख़तरा वैयक्तिक था यानी अपनी ही अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच के अन्तराल को दूर करने की तलाश—पर अब उसे जब अभिव्यक्ति—माध्यम की उपलब्धि हो जाती है तो खतरा उन बाह्य तत्त्वों से है, जो अपनी लौह जकड़ में, चाहे वह सामाजिक नैतिक नियमों की हों, चाहे वह अत्याचारी शोषक तत्त्वों द्वारा सत्ताधिकृत करके उपजाये गये भय की हों, उसे अचानक दबोच लेती हैं—"सड़क पर उठ खड़ा हुआ शोर/

मारो गोली दागो स्साले को एकदम/दुनिया की नजरों से हटकर/छिपे तरीक़े से/हम जा रहे थे कि/आधी रात अँधेरे में उसने/देख लिया हमको/व जान गया वह सब/मार डालो इसको ख़त्म करो एकदम/ × ×एकाएक टूट गया स्वप्न व छिन्न-भिन्न हो गये सब चित्र"।

यह सारी विक्षिप्तता जो कवि की अभिव्यक्ति को जकड़े गुंजलक मारे बैठी है, उसके सम्पूर्ण आत्म चेतन को नाना रूपों में विदीर्ण कर देती है। उसे लगता है कि वह अभिषप्त ऋषिपुत्र की तरह अपने व्यक्तित्व की लाश ढो रहा है। "मेरा सिर गरम है/इसीलिए भरम है/सपनों में चलता आलोचन/विचारों के चित्रों की अवलि में चिन्तन/निजत्व माफ हैं वेचैन/क्या करूँ किससे कहूं/कहाँ जाऊँ दिल्ली या उज्जैन/वैदिक ऋषि शुनः शेष के/शापग्रस्त पिता अजीगर्त के समान ही/व्यक्तित्व अपना ही अपने से खोया हुआ/वही उसे अकस्मात् मिलता था रात में/पागल था दिन में/सिरफिरा विक्षिप्त मस्तिष्क।" यह सिर फिरी विक्षिप्तता इतनी सघन, सजीव, दुर्दान्त और तनावभरी है कि "अँधेरे में" कविता कवि और उसकी रचनाप्रक्रिया के बीच सदैव विद्यमान अन्तराल को पाटने वाले सेतु की तलाश का जीवन्त दस्तावेज बन जाती है। कह क्लासिकी कविता अपने टेक्सचर और अन्तर्निहित थीम या महावाक्य की उदात्तता के कारण उतनी महान् नहीं हुई है जितनी इन चीजों की संरचना के पीछे कविमन के तनाव और विश्लेषण की अद्भुत प्रतीकपूर्ण सुररियलिस्टिक, स्वप्निल तथा मनोविश्लेषणवादी शैलियों के एकत्र सम्मिलन से उत्पन्न बेचैन तलाश के कारण मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया तलाशात्मक है।

वहीं वात्स्यायन की रचना प्रक्रिया साधनात्मक है। वे असाध्यवीणा को, जो कि अभिव्यक्ति का ही प्रतीक है, आन्तरिक और बाह्य दोनों ही अभिव्यक्तियों का—साधने की कोशिश में हैं। तलाश करना और यंत्र को साधना दो परस्पर भिन्न क्रियाएँ हैं। साधने की क्रिया में तनाव या विक्षिप्ति नहीं होती, लगन, निष्ठा, होती है। इसीलिए कवि स्पष्ट शब्दों में कहता हैं :—लाये असाध्य वीणा/साधक के आगे रख उसको हट गये/"

यह वीणा (अभिव्यक्ति) परम्परया मानव के मन में हजारों संस्कारों, व्यष्टि और समष्टि के संस्कारों के द्वारा निर्मित है। अभिव्यक्ति कवि की मौलिक चीज़ सिर्फ इसी अर्थ में है कि वह समष्टिगत पारम्परिक अभिव्यक्ति के सूक्ष्म तत्त्वों को अपने व्यक्तिगत मानस में कितना आत्मसात् और जाग्रत कर सकता है। असाध्य वीणा के निर्माण की प्रक्रिया वात्यायन की दृष्टि से रचना प्रक्रिया का प्रतोक है। उसे स्पष्ट समझ लेने से ही कवि की धारणाओं और मान्यताओं को ठीक से हृदयगम किया जा सकता है। असाध्य वीणा वस्तुतः रचनाप्रक्रिया और सम्प्रेषण प्रक्रिया दोनों को ही युगपत् रूप से प्रतीकित करती है।

वज्रकीर्ति ने (यशः काय कवियों ने) इस वीणा का निर्माण अपने सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग करके उस किरीटी तरु से किया था, जिसके कंधों पर बादल सोते थे और जिसकी जड़ पाताल में नाग बासुकि के शयन के लिए शीतल शय्या का कार्य करती थी। यानी कवि की अनुभूति में सम्पूर्ण ब्रह्मांड, आकाश से पाताल तक सारी व्याप्त सृष्टि समाहित रहती है, उसकी अनुभूति इसी अर्थ में सार्वजनीन है; किन्तु एक साधक के जीवन में वही अनुभूति उसकी जीवन-लीला में आयत्त होकर वैयक्तिक बनती है। "सारा जीवन इसे गढ़ा/हठ साधना यही थी उस साधक की/वीणा पूरी हुई, साथ साधना, साथ ही जीवनलीला।"

जब क्रोचे ने सहजानुभूति के विषय में यह कहा था कि—"वह सीमित होती है" तो उसका तात्पर्य उसकी प्राकृतिक बनावट मात्र से था, क्योंकि कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रसंग में इसी प्रश्न को स्पष्ट करते हुए उसने कहा था—"कलात्मक सहजानुभूति का विस्तार क्षेत्र व्यापक होता है। किन्तु अपने कार्य क्षेत्र में वह साधारण सहजानुभूति से भिन्न नहीं होती। अन्तर बनावट का नहीं क्षेत्र विस्तार का है।"

क्रोचे ने सहजानुभूति के कलात्मक अनुभूति में बदलने की प्रक्रिया को भी बहुत बारीकी से स्पष्ट किया है—"चित्रकार के द्वारा चाँदनी रात का चित्रण, किसी मान-चितेरे द्वारा खिची हुई एक प्रदेश की रूपरेखा, संगीत की कोमल अथवा ओजपूर्ण अभिप्रेरणा, उच्छ्वासपूर्ण गीत के शब्द, अथवा वे वस्तुएँ जिन्हें साधारणतः हम अपने जीवन में चाहते हैं"—ये सभी एक रासायनिक प्रक्रिया में मिलकर कलात्मक अनुभूति का निर्माण करती हैं।

इस प्रकार की अनुभूति जब कला में अभिव्यक्त होती है, तो उसका सम्प्रेषण इसी बात पर निर्भर करता है कि पाठक या श्रोता भी उसी तापमान में उन व्यक्ति-निष्ठ अभिव्यक्तियों को पुनरुज्जीवित करने की क्षमता रखता हो।

इस संक्षिप्त विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में 'असाध्यवीणा' का विश्लेषण कई सूक्ष्म तत्त्वों को स्पष्ट करने में सहायक होता है।

वीणा का साधना किसी बाहरी क्षेत्र में मन को घुमाने या परिभ्रमित करने से नहीं होगा। वीणा को साधने के लिए अपने को शोधना जरूरी है। वात्स्यायन का शोधन तलाश का हल्का अर्थ भी दे रहा है; पर मुख्यतः यह परिशोधन ही है, अपने को संस्कारयुक्त करके अपने को उपलब्ध करने की प्रक्रिया है। इस शोध की उपलब्धि अपने अस्तित्व को, उन्हीं बाह्य उपादानों और उनसे उत्पन्न आदिम अनुभूतियों को, जिन्हें अपनी साधना से वज्रकीर्ति ने पाया था, व्यक्तिगत रूप में समर्पित कर देने से ही संभव हो सकता है:—

मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा;
नहीं स्वयं अपने को शोध रहा था।

सघन निविड़ में वह अपने को,
सौंप रहा था उसी किरीट तरु को
कौन प्रियंवद है कि दंभ कर
इस अभिमंत्रित कारुवाद्य के सम्मुख आये।
कौन बजावे यह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही।

सत्य के सम्मुख, साधना के सम्मुख त्रिस्तृति के सम्मुख, व्यापक अनुभूति के सम्मुख व्यक्ति अपनी अलग इकाई को सौंपकर, अहंमुक्त होकर ही व्यक्तिनिष्ठ अपनी साधना की परमोपलब्धि कर सकता है। यही अज्ञेय की रचना-प्रक्रिया का स्वर है, मूलमंत्र है। आत्मनेपद में उन्होंने स्वयं ही कहा है—"(प्राचीन कवि) अहं को विलीन करके ही लिखते थे, उनके लिए कविता स्वास्थ्य-लाभ का साधन ही नहीं, स्वस्थ व्यक्ति का आनन्द थी। ठीक आदर्श वही है, मैं मानता हूँ। मेरी कविता उसकी अनुगामिनी नहीं है तो वह सीमा है।"

सहजानुभूति को व्यक्तिगत रूप में प्राप्त करना "आत्मा का एकालाप" है। अपने से अपने को ही सम्बोधित मोनोलाग।

सम्बोधित कर उस तरु को करता था
नीरव एकालाप प्रियंवद।

और वह एकालाप, वस्तुत: उन्हीं भोगी अनुभूतियों को, जो वीणा-निर्माण का कारण बनीं, पुनरुज्जीवित करके आत्मभोग बनाने की प्रक्रिया है। यह एकालाप बड़े ही उच्छल और द्रुतगामी ढंग से, आत्मविसर्जन द्वारा एकाकार होते ही, प्रवाहित होने लगता है।

इसी एकालाप में सारे सत्य (कवि की मान्यताएँ) एक-एक करके अनावृत होते चले जाते हैं।

सारी प्रकृति ही अनुभूति का आधार है। इसके निगूढ़ सत्य को पाने के लिए कवि को अनिवार्य है कि वह :—

"मैं तुझे सुनूं
देखूँ, ध्याऊँ
अनिमेष, स्तब्ध, संयत्, संयुत, निर्वाक्।"

अनिमेष आनवरत्य है, स्तब्धता विश्रब्ध एकाग्रता की सूचक है, संयत मन के ऊपरी उद्वेलन के राहित्य का द्योतक है, संयुत् वातावरण से संसक्ति है और उस समय कवि मात्र भोक्ता होता है इसलिए 'निर्वाक्' ही उसका विशेषण है।

व्यक्तिसत्ता ऐसे समय यदि किंचित् भी अहं से विकृत हुई तो बहुत संभव है, प्रकृति अपना रहस्य उसके सामने खोल न पाये इसलिए :—

"नहीं-नहीं वीणा यह मेरी गोद रखी है, रहे/किन्तु मैं ही तो/तेरी गोदी बैठा मोद-भरा बालक हूँ/ओ तरु तात सँभाल मुझे/मेरी हर किलक पुलक में डूब जाय/मैं सुनूँ गुनूँ/विस्मय से भर आँकूँ/तेरे अनुभव का एक-एक अन्तःस्वर/तेरे दोलन की लोरी पर झूमूँ मैं तन्मय/गा तू/मेरी लय पर मेरी साँसें/भरें, पुरें, रीतें, विश्रान्ति पायें।"

इस आत्मलयीकरण की प्रक्रिया सहसा कवि के मन में अपनी भोगी अनुभूतियों की शृंखला जगा देती है। और उसे "हाँ स्मरण है" के माध्यम से सब कुछ खंडश उपलब्ध होने लगता है। हाँ स्मरण है, हाँ स्मरण है, हाँ स्मरण है।

स्मृतियों का यह पुनरावर्तन मन को न केवल सौन्दर्यात्मक, आर्द्र, काव्यानुभूति के योग्य आधार में बदल देता हैं, बल्कि इसी स्थल पर 'संयत्' न होने का खतरा भी उपस्थित हो जाता है, पुनः अहं के परावर्तन की सम्भावना है—

"मैं नहीं नहीं, मैं कहीं नहीं"

कविमन इस आकुल संस्मृत पूर्ण उपलब्धि के आगे पुनः समर्पित हो जाता है। प्रियवंद ने असाध्य वीणा को अपने भीतर छिपे सर्जनात्मक अनुभूतिपरक तत्त्वों के माध्यम से महाकाल के चरणों में अपने अहं के विसर्जन द्वारा साध लिया—"रोमांच एक बिजली सा सबके तन में दौड़ गया/अवतरित हुआ संगीत/स्वयंभू/जिसमें सोता है अखंड/ब्रह्मा का मौन/अशेष प्रभामय/डूब गये सब एक साथ/सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।" यहाँ पर कवि अज्ञेय व्यष्टि सत्ता के विलयन को सर्जन की अनिवार्य शर्त मानते हैं। वहीं, इस महासिंधु से तिरने की प्रक्रिया सबकी अलग और विशिष्ट होती है, यह भी स्वीकार करते हैं। यहाँ अभिव्यंजना और प्रेषणीयता दोनों ही प्रक्रियायों का युगपत् निर्देशन है। उस शुद्ध सहजानुभूति परक संगीत की प्रतिक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अपनी आन्तरिक क्षमता और यंत्र की बनावट के अनुसार अलग-अलग होती है। राजा ने उस संगीत में विजयश्री के वरमाल देखे, रानी ने अनन्य प्यार का आलोकित संदेश सुना।

"सबने भी अलग-अलग संगीत सुना/इसको/वह कृपा वाक्य था प्रभुओं का/उसको/आतंकमुक्ति का आश्वासन/इसको/वह भरी तिजोरी में सोने की खनक/उसे/वटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न की सौंधी खुदबुद/किसी एक को नई वधू की सहमी सी पायल ध्वनि।" आदि आदि

इन विशिष्टताओं में कवि ने प्रभुचाटुकार, आतंकित, लोभी पूँजीवादी, मात्र अन्न की स्पृहा वाले मजूर, रोमैंटिक प्रेमी, वात्सल्येच्छुक व्यक्ति, प्रकृति प्रेमी, बाजार के सौदागर और दलाल, पूजासाधक, लोहार और उसकी भट्ठी, नाविक और जलयात्री, मोची, यायावरीय नट जीवन के इच्छुक, युद्ध प्रिय, आदि बीसियों शेड दिखाकर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि कला विशिष्टताओं को एकांगी गुण मानकर उन्हीं में

सीमित नहीं होती; बल्कि अपनी चरम उपलब्धि में विशिष्ट प्रकार की अलग-अलग चरितार्थता पा जाती है।

"सब डूबे, तिरे; झिपे, जागे/हो रहे वशंवद स्तब्ध/इयत्ता सबकी अलग-अलग जागी/सन्धीत हुई/पा गई विलय।"

इस इयत्ता का सन्धीत होना और विलय पा जाने में पुनर्वार आत्मविसर्जन का विधान किया गया है। कला विशिष्ट है; पर उस विशिष्टता का भी अन्त में यदि विसर्जन नहीं होता तो वह मिथ्या अहं को जागृत करने के कारण अपने लक्ष्य से च्युत होगी, ऐसी कवि की मान्यता प्रतीत होती है।

इस सारी विवेचना को स्वयं कवि कविता के अन्त में बहुत ही संक्षेपतः और स्पष्ट ढंग से रख देता है। एक प्रकार से सामान्य पाठक के लिए आवश्यक होने के कारण यह निष्कर्षमूलक अंश जहाँ एक प्रयोजन रखता है, वहीं प्रतीक को वाच्यार्थक बनाने के दोष से कविता थोड़ी आहत भी होती है।

"श्रेय नहीं कुछ मेरा/मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में/वीणा के माध्यम से अपने को मैंने/सब कुछ को सौंप दिया था/सुना आपने जो वह मेरा नहीं/न वीणा का था/वह तो सब कुछ की तथता थी/महाशून्य/वह महामौन/अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित अप्रमेय/जो शब्द हीन सबमें गाता है।"

क्रोचे की पुनः याद आती है, उसने जब कहा था "किसी में कवि पैदा नहीं होता, सभी कवि ही पैदा होते हैं—" तो उसका संकेत उसी परात्पर सहजानुभूति की ओर था जो कमोवेश मात्रा में सबके अन्दर वर्तमान होती है। वह जाग्रत वहीं हो पाती है जहाँ कवि अपनी तुच्छ अलग-अलग सहजानुभूतियों को सम्मिश्रण के द्वारा बृहदाकार करके उन्हें एक हेडोनेस्टिक प्रक्रिया में विलीन कर देता है।

मैं नहीं जानता कि श्री नरेन्द्रशर्मा के इस कथन में कितनी सच्चाई है कि यह कथा मूलतः जापानी है, नाम बदल कर कवि ने इसे भारतीय परिवेश दे दिया है। मूल कथा, जापानी हो या भारतीय, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता, इस कथाबिंदु के माध्यम से कवि को रचनाप्रक्रिया और कला तथा उसकी प्रेषणीयता के सूक्ष्म कार्य-व्यापारों को प्रकट करना था, और उसने बड़ी मार्मिकता, नाटकीयता और संवेदना के साथ इसका उद्घाटन कर दिया है। यह समाहार और विस्तार—संपुटन और बिखराव दोनों ही प्रकार के शिल्पों से निर्मित बहुत कसी हुई, "फिनिश्ड पोयेम" पूर्ण कविता है, इसमें संदेह नहीं।

"अँधेरे में" और असाध्य वीणा' दोनों ही कविताओं में जैसा मैंने पहले ही निवेदन किया आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया का निदर्शन है। जहाँ मुक्तिबोध, परेशान, तनावपूर्ण, आहत, विक्षिप्त और कशमकश के बीच अपनी प्रक्रिया ढूँढ़ते हैं; वहीं अज्ञेय में एक संयत, स्थिर, भावप्रवण; किन्तु बौद्धिक अंकुश के साथ, विद्यमान साधनात्मक क्षमता या प्रतिभा

दिखाई पड़ती है। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी अपनी अतिशय तनावपूर्ण स्थितियों में मुक्तिबोध कलात्मक सत्य के ऐसे सूक्ष्म अंश का चित्रण करने में सफल हुए हैं, जहाँ अज्ञेय नहीं पहुँच पाते। पर साधनात्मक प्रक्रिया में अंध घाटियों की संभावनाए भी प्रायः नहीं ही होतीं और इसीलिए "पूर्ण कविता" की संभावना भी वहीं हो सकती है। मुक्तिबोध में उच्चांश मिलेगा, पूर्णता नहीं। यह एक अलग सवाल है कि आधुनिक युग किस कवितों में ज्यादा स्पष्ट ढंग से मुखरित है? उत्तर निःसंदेह "अँधेरे में" के पक्ष में जायेगा।

मैंने सप्तक के कवियों पर यत्किंचित् विचार कई स्थलों पर प्रकट किया है। उनके बारे में मुझे विशेष नहीं कहना है। नई कविता के पाठक के रूप में मुझे पहले और बाद के अनेक कवियों ने आकृष्ट किया है। मैं उनका नाम गिनाना बहुत ज़रूरी नहीं मानता। बल्कि वह व्यर्थ प्रयत्न होगा, क्योंकि नाम गिनाने भर से कोई बात नहीं बनती, मैं कुछ कविताओं की ही चर्चा करूँगा।

साही के संग्रह 'मछलीघर' की एक कविता है "एक अर्ध विस्मृत मित्र के नाम" और दूसरी है डॉ० धर्मवीर भारती की "परिणति"। दोनों ही कविताओं का केन्द्रीय बिन्दु प्रायः एक सा ही हैं यानी अपने ही आसपास के आत्मभिन्न पर आत्मीय लोगों पर व्यक्त की गई खीझ। हालांकि दोनों कविताओं के रचनाकाल में लम्बा अन्तराल है। इसलिए सामाजिक स्थितियों या परिवेश के भीतर भी बहुत तब्दीली दिखाई पड़ेगी। पर दोनों कविताओं का व्यंग्य-व्यक्ति आत्मीय है, इसमें शक नहीं। आत्मीय सिर्फ़ इस अर्थ में कि कवि और उसका कथ्यपुरुष (बहुवचन में भी) कवि ही हैं, इसलिए ये कविताएँ भी रचना-प्रक्रिया से ही सम्बद्ध हैं, हाँ, भीतर से नहीं, बाह्य परिवेश मात्र से। साही की कविता में आक्रोश है, वंचना करने वाले के प्रति एक चुनौती भी, पर यहाँ आक्रोश आत्मीयता की रगों के कटने की पीड़ा से भी संयुक्त है।

"लो मैं तुम्हें फिर यह ताजा खंजर देता हूँ/मैं जो तुम्हारे चारों ओर लिपटा मर गया हूँ/मुझे काट कर निकाल दो/ और नया जन्म लो/इस बार स्रोत पर ही वार करना। ताकि मैं फिर न उग जाऊँ।"

इस गांधियन चुनौती के बाद कवि का मन धीरे-धीरे शिथिल हो जाता है, वह समझाना चाहता है कि दोष तुम्हारा नहीं प्रकाश का है, तुम किसे अपना शत्रु समझते हो वह तुम्हारी ही निर्मिति है, भ्रम है। जिसे तुम सत्य समझ कर अपने अस्तित्व से चिपकाये रहते हो। तुम्हें आगे जाने की हवस है तो आगे जाओ, मेरे अस्तित्व से ही भयभीत होने की क्या ज़रूरत।

"विश्वास करो मैं/बहुत पीछे छूट गया हूँ/तुम्हारे पास केवल निशानदार चमत्कारी आँखें हैं/जो सिर्फ तुम्हारी हैं।"

'अकेलेपन' को किसी जमाने में बड़प्पन का गौरव-चिन्ह माना जाता था। ड्रिंकवाटर ने "ओन्ली इज़ द मैन एंड ओन्ली इज़ विज़न" कहकर महान् व्यक्ति और प्रतीति का एकाकी होना जरूरी बताया था, पर आदमी अकेला कुछ और कारणों से भी होता है, और उसके परिणाम भी महत्ता में ही नहीं "जीवित न होने में" बदल सकते हैं।

"अकेलापन/वह अनावश्यक रोशनी/जो अब भी तुम्हारे शयन कक्ष में जलती है/ जिसके सहारे न वसीयतनामे लिखे जा सकते हैं/न दस्तावेजें पढ़ी जा सकती हैं/न पासें फेंके जा सकते हैं/न शकलें पहचानी जा सकती हैं/जो खिड़की से निकल कर/बाहर के लोगों को सिर्फ़ इतना सा आभास देती है/कि शायद इस मकान में/लोग अब भी जी रहे हैं /"

वह व्यक्ति जो सामान्य ज़िन्दगी के भीतर से उपलब्ध होने वाली सहजीवनी को भूलकर आबेहयात (अहं के प्रचार और विस्फार की औषधि) को खोजने जाता है, उसकी क्या हालत होती है—"मैं उन सिर फिरों की बात नहीं करता/जो ग़लत अँधेरी सुरंगों में/आबेहयात की तलाश में चले गये/तुमने ठीक ही सुना है/कि इस विचित्र दुस्साहस के पहले/उनमें पागल सैलानियों की तरह उत्साह था/उनके हाथों में रंग-बिरंगे गुब्बारे थे/वे सीटियाँ बजा रहे थे/और ज़ोर ज़ोर से चिल्लाकर/अंधकार के मुख से लौटती हुई/अपनी ही प्रतिध्वनियाँ सुन रहे थे।" इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता व्यक्तिगत धरातल से उठकर सार्वभौम सामाजिक स्थिति को व्यंजित करने की इसकी क्षमता में देखी जा सकती है जो व्यक्ति सत्य को किसी काल खंड का ऐतिहासिक दस्तावेज बना देती है।

भारती की कविता "परिणति" जनवरी १९६८ के ज्ञानोदय में छपी थी। ६८ तक का माहौल इस कविता को समझने के लिए जाग्रत करना पड़ेगा। विद्रोही पीढ़ी के रचनाकार इस कविता के कथ्यपुरुष के रूप में उभरते हैं, इसमें सन्देह नहीं। कवि के मन में क्या था, यह तो वह जाने, पर कविता यही कहती है—

"वे इतने तमाम व्यक्तित्व हीन लोग/चारों ओर की असाधारणता से आतंकित/ ताकि वे असाधारणत पर हमला बोल सकें/अत: तलाश करने निकल पड़े/अपने-अपने लिए/असाधारणता का एक कवच/मुखौटा।" कविता का महा वाक्य है मुखौटा जो आँच लगते ही बदरंग हो जाता है।कविता का प्रथमांश मुखौटा-प्राप्ति और उत्तरांश भट्ठी पर चढ़े मुखौटों के बदरंग होने की प्रक्रिया से जुड़ा है।

असाधारणता से आतंकित लोग असाधारण बनने के लिए मुखौटा लगाकर पकड़े गये। वे मुखोटे "थके हुए क्लर्क की" आदेश को न समझने की ग़लती के कारण भट्ठी पर चढ़ा दिये गये और बदरंग हो गये। रंग उतरने पर वे सामान्य लोग अपनी बद-सूरती में ही असामान्य लगने लगे। उनकी यह बदसूरती चर्चा का विषय बनी। इस

चर्चा को ही अपनी तारीफ मानकर वे बदसूरत सोना फुलाये 'साधारण-असाधारण के झमेले में परेशान थक गये।

"शाम हुई और/उन्होंने चेहरे बाँसों पर टाँग दिये/झंडों की तरह/और कतार बाँध कर जोश भरे नारे लगाते हुए/घर जा कर सो गये।"

पूरी कविता में कसावट का केन्द्रीय बिन्दु इन पंक्तियों में उभरता है।

"वे हर मोड़ पर/अपने चेहरे कभी हाथ में लेकर/कभी कनपटियों में खोंसकर/इन्तज़ार करते रहे कि/राह चलते लोग उन्हें देखें और आक्रान्त हों/कामकाज का था वक्त/और लोग थे ज़रा जल्दी में।'

यह पूरी कविता एक हल्का सा "ड्रैमेटिक टच" लिए हुए चलती है। रंग, भट्ठी, बदरंग आदि प्रक्रियाएँ बहुत नई नहीं हैं। रंग चढ़ना, रंग उतरना आदि सूर और कबीर में भी प्रतीकित हुआ है। सवाल इस रचना के युगानुरूप दस्तावेज होने और न होने से जुड़ा है। पूरी कविता किसी "असाधारण" के खीझ का दस्तावेज बन जाती है, इस कविता में व्यक्तिनिष्ठ घेरे से बाहर निकल कर सार्वजनीन सत्य से जुड़ने में क्यों बाधा आती है, इस पर गंभीरता से सोचने की जरूरत है। यह सार्वजनीन इसलिए नहीं हो पाई; क्योंकि एक ग़लत चीज़ पर व्यंग्य करते वक़्त भी कवि को अपने से संपृक्त कुछ भूल कर आना चाहिए था, जो वह नहीं कर सका। "चारों ओर की असाधारणता से"—वाक्यांश इस बात का प्रमाण है कि सीमित "असाधारणता" (स्वयंनिर्मित) को चहुँओर की असाधारणता मान लिया गया है। चहुँओर की असाधारणता से समाज आतंकित नहीं होता क्योंकि असाधारणता चहुँओर नहीं होती। हो ही नहीं सकती। वह तो साधारणता ही होती है।

और चहुँओर व्याप्त यह असाधरणता चूँकि कामकाजी आदमियों की है, यानी वे जो ऊँची नौकरियों पर हैं, दूकानों में हैं, दफ्तरों में काम करते हैं, यानी जिनके पास कामकाज है, उनकी खीझ एक ऐसा रूप लेती है जिसमें बेकार लोगों के प्रति हिकारत का भाव जुड़ जाता है, इसलिए यह कविता समाज के एक बड़े वर्ग की विडम्बना करती प्रतीत होती है। नकली विद्रोह को रेखांकित नहीं कर सकी है। साही की कविता जहाँ असाधारण बनने का विरोध करती प्रतीत होती है, वहीं भारती की कविता "असाधारण' की सुरक्षा का सुविधावादी मुखौटा जैसा लगने लगती है।

सन् ६० के बाद से कविता के क्षेत्र में बहुत बड़ा अन्तर आया है, खास तौर से भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से, इसमें दो मत नहीं है। कहीं-कहीं यह अन्तर पुराने और नयों के बीच विभाजक रेखा खींचने को दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है; पर भाषा के मोटे अन्तर कोई ऐसी चीज़ नहीं होते; जिन्हें दो प्रवृत्तियाँ मानने का कारण माना जा सके। अक्सर प्रतिभावान् लेखक चाहे उम्र की दृष्टि से थोड़े पुराने ही हों

जैसा कि साही और भारती हैं, भाषा की नवीन उपलब्धियों को बहुत हद तक हासिल कर सकते हैं। यह मात्र जागरुक रहने और भाषिक विकास को उन्मुक्त ढंग से ग्रहण करने की प्रवृत्ति पर निर्भर करता हैं। बहुत से लोग नये मुहाविरे और चालू शब्दा-वलियाँ बटोरते चलते हैं, से उनकी बात नहीं कर रहा हूँ। पर मैं यह मानता हूँ कि नवलेखन की किंचित पहले की पीढ़ी का कोई भी लेखक जो संवेदनात्मक भाषा को आयत्त करने की क्षमता रखता है, भाषा की नई से-नई उपलब्धि को ग्रहण कर सकता है। भाषा आयत्त की ही जाती है। इसलिए एक दम नई कविता को पढ़ने और पसन्द करने की दृष्टि से हमें कुछ ऐसे प्रतिमान ढूँढ़ने चाहिए जो बहुत व्यापक यानी नवलेखन की सभी पीढ़ियों पर लागू हो सकें, साथ ही वे इतने हवाई और खोलनुमा आवरण जैसे भी न हों कि उनके पेट में देश-काल के बिना अन्तर का पूरा साहित्य ही समा जाये। वैसे अब भी बहुत से समीक्षक, बातें चाहे भले ही नई समीक्षा की करें, वैसी ही व्यापक खोल सर पर लादे चलते हैं, जिसे मछली जाल की तरह फेंक देते हैं और प्रसन्नतापूर्वक कहते हैं—"इसमें पुष्ट और सबल मछलियाँ ही फँसती हैं, छोटी अपदार्थ छँट-गिर जाती हैं।"

मैं समसामयिक किन्तु गत्वर आधुनिक मूल्य वाले प्रतिमान को अब भी स्वीकार करता हूँ और मेरी दृष्टि में न तो यह खोल ही है और न तो मछली जाल ही। यह प्रतिमान अब भी इतना सटीक और ज़रूरी है, खूब लाभप्रद भी, कि इसके मध्यम से ढेर सारी कविताओं में से कुछ को छाँटकर रेखांकित किया जा सकता है। भारती की उपर्युक्त कविता की तुलना में मैं उन्हीं की एक दूसरी कविता प्रस्तुत करके इस प्रतिमान की उपयुक्तता की जाँच करना चाहता हूँ।

कविता है उपर्युक्त कविता के साथ ही छपी, ज्ञानोदय के उसी अंक में प्रकाशित "अन्दरूनी मौत के लिए"। पूरी कविता बहुत सूक्ष्म भावबोध के साथ लिपटी है। मौत और अन्दरूनी मौत। जहाज की टकराहट में हजारों मरते हैं। अराजकतावादी इस व्यवस्था में कोई राहगीर अँधेरे मोड़ पर घिघियाता है; पर जिबह हो जाता है, अकस्मात् पहिये के नीचे कोई कबूतर पिस जाता है :—

"खून और पंख/पहिये के साथ घूमते हुए लगातार/एक बार/या बार-बार और तुम सोचो/यानी कि कुछ सोचो ही नहीं/मुमकिन है।"

"आयरनी" या व्यंग्य का तीखा पन उस हर व्यक्ति से पूछता है कि क्या अक्सर हो जब कुछ ऐसा होता है, वह मौन रह जाना ही ज्यादा उपयुक्त नहीं मान लेता ? कवि इस पूरे माहौल के परिप्रेक्ष्य में एक और तीखा पर वैसा ही घुमावदार व्यंग्यात्मक सवाल करता है :—

"बस यूँ ही किसी बम्बइया बरसात की दोपहर/तुम अनमने बैठे हो/खाली दिमाग़ खिड़की के पार समुद्र देखते हुए/और चौखट से झूलती/एक अकेली बूँद/खामोश चू

पड़ने के पहले/भरसक थमे, रुके फिर गिरे/और शीशे पर एक लम्बी लकीर बनाती चली जाय/और तुम अकस्मात् पाओ कि समुन्दर दो फाँक हो गया है/और एक लकीर उभर आई है तुम्हारे अन्दर/अकस्मात् चीख उठा है वहीं/अंधेरे मोड़ पर जाता हुआ आदमी/ट्रक के सामने आता हुआ बच्चा/और तुम सब छोड़कर कूद पड़े हो/डरो मत, मैं हूँ; मैं हूँ/ और बेखौफ तुमने हाथ दे दिया है/पहिये और डरे हुए कबूतर के बीच।"

यह एक मानवीय दर्द है, वैसे आज की दुनिया में बहुत प्रताड़ित फिर भी संवेदनात्मक चित्त को बहुत उन्मथित करने वाला/आदमी जानता है कि इन वहशियों के बीच वह जाकर संभव है खुद न लौटे, वह समुद्र जो दो फाँकों में बँट गया है, वह उसे भी लील सकता है, तो भी आदमी के अन्दर इन "अकस्मातों" पर एक टीस और वेदना उठती है, इसी टीस को कवि ने "कबूतर" के माध्यम से एक ऐतिहासिक आयाम दे दिया है। पिकासो के शान्ति-कपोतों से लेकर नेहरू के चित्रों में गुँथी "ओलिव शाखा" तक। कविता बम्बई की बरसात, समुद्र, बूँद का अस्तित्व और उसका मिटना, समुद्र का (अन्तस् का) विदीर्ण होना आदि अनेक बिम्बों में इस तरह पिरोई हुई है कि वह हमारे निरन्तर सम्वेदनाहीन मशीनी होने की अमानवीयता को पूरे आयाम में उठाकर उद्घाटित कर देती है और अन्त में व्यंग्य पुनः तेज धार की तरह कौंधता है—

"या....../जरूरी नहीं यह भी/कि तुम्हें याद आये/सिवा एक रोज-रोज रोज़मर्रा की मद्धिम मौत/शीशे पर धीरे-धीरे फिसलती तुम्हारे लिए/जरूरी नहीं कि कोई दर्दनाक वाकया भी घटे/कोई विस्फोटक दुःखान्त।"

आदमी अपने को बचाने की लाख कोशिश करे वह या तो शीशे पर फिसलती बूँद के अन्त को प्राप्त होगा या पहिये के नीचे पिसते कबूतर के। इन दोनों से भिन्न एक तीसरी भी नियति है और शायद इन दोनों से ज्यादा सम्मानपूर्ण भी, संवेदनात्मक और मानवीय कि वह पहिये और कबूतर के बीच खड़ा हो....पर....।

भारती की यह कविता सारे युग के दर्द का दस्तावेज़ ही नहीं बनती; बल्कि अपने चूडान्त पर वह एक ऐसा मूल्य भी ले आती है जो किंचित आदर्शात्मक भले लगे (वैसे स्वयं में मनुष्य भी आदर्शों से अलग पशु मात्र ही है) पर अब वह काम्य नहीं रहा आधुनिक स्थितियों में, ऐसा वे खाँटी व्यावहारिक ही कह सकते हैं जो दुनिया में अपने-अदने अस्तित्व को भूलकर अधिनायकवाद का झंडा उठाए घूमते हैं। मुझे इस कविता को पढ़कर खुशी हुई, बेहद खुशी; क्योंकि नये तेवर के साथ मानवीय सम्वेदना के एक अछूते पहलू को उभारने की कोशिश करते वक्त कवि इस बात से नहीं झिझका कि लोग उसे आदर्शवादी, नव-वैष्णव या "अहिंसा परमोधर्मः" मानने वाला श्रमण तो नहीं कहेंगे।

पर भारती की ही दोनों कविताएँ, जो एक ही साथ छपी हैं, क्या इस बात का प्रमाण भी नहीं देतीं कि एक ही कवि भिन्न-भिन्न स्थितियों में कितनी विपरीत दिशाओं

की यात्रा कर सकता है। पहली कविता में बेकार लोगों के प्रति अभिव्यक्त व्यंग्य अमानवीय है, असंवेदनात्मक है, क्योंकि वहाँ कवि अपने निजत्व से, अपने अस्तित्व तक से अलग नहीं हो सका है, जब कि दूसरी कविता में न सिर्फ वह अपने अस्तित्व को अतिक्रान्त करता है; बल्कि अपने अहं और मृत्यु तक को अतिक्रान्त करने की अभीप्सा उसे ज्यादा स्पृहणीय बना देती हैं।

इसीलिए मैं मानता हूँ कि सभी प्रकार के आक्रोश, अवमूल्यन, तितिक्षा और स्वार्थान्ध अराजकतावादी माहौल में भी, आधुनिक गत्वर मानवमूल्यों के अलावा नये साहित्य की माप का कोई दूसरा सटीक प्रतिमान नहीं हो सकता। कविता के प्रतिमान बटखरे हैं, वे कहानी के प्रतिमान से अलग हो सकते हैं, अनाज और दूध के प्रतिमान एक जैसे नहीं हो सकते, यह सही हैं; पर अनाज और दूध की नाप तौल से ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न अब भी यही है कि वह अनाज या दूध पौष्टिक, सुस्वादु और सुगंधित भले न हो, कम से कम विषाक्त तो नहीं होना चाहिए। मानवीय गुणों का लोप करने वाला या मनुष्य को समाप्त करने वाला साहित्य नहीं चाहिए।

आलोचक क्षमा करें, कि मुझे श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ पसन्द हैं, लोगों के बीच श्रीकान्त वर्मा, एक मुँहफट, बेलौस, और खीझ पैदा करने वाले इन्सान के रूप में जाने जाते हैं। पर श्रीकान्त की यह "मुँहफटई" ही उन्हें एक ऐसी रंगत देती है जो हिन्दी की नई कविता में दुर्लभ है। उनकी "बुखार में कविता" मुझे प्रिय है। कविता की सारी विशिष्टता उस निर्द्वन्द्व, बैलोस, फक्कड़ता और औघड़ी तेवर में निहित है जो श्रीकांत के साथ आयातित रूप से नहीं, अस्तित्वात्मक रूप से जुड़ी हुई है। उन्हें न अपने से मोह है न कविता से, न कविता के किसी महत् उद्देश्य से—"मेरे जीवन में ऐसा वक़्त आ गया है/जब खोने को कुछ भी नहीं है मेरे पास/दिन, दोस्ती, रवैया/राजनीति/गपशप, घास/और स्त्री, हालाँकि वह बैठी हुई है/मेरे पास/कई साल से/क्षमाप्रार्थी हूँ मैं काल से मैं जिसके सामने निहत्था हूँ/निसंग हूँ/मुझे न किसी ने प्रस्तावित किया है न पेश/मंच पर खड़े होकर/कुछ बेवकूफ चीख रहे हैं/कवि से|आशा करता है/सारा देश।" यह आक्रोश की सही ज़मीन है जहाँ दूसरे पर व्यंग्य करने के पहले आदमी अपने को नंगियाने की ताक़त रखता हो। कविता से आशा उन तमाम बने बनाए मूल्यों के प्रचार की आशा है, जिसे पूरा करने का मतलब होगा, कविता को वाकई निष्प्रयोजन और बेकार बना देना। श्रीकान्त बार बार यह दुहराते हुए भी कि उनसे कोई कुछ आशा न करे कभी भी अमानवीय नहीं/होते "मूर्खों देश को खोकर ही|मैंने प्राप्त की थी कविता/जो किसी को भी हो सकती है/जिसके जीवन में वह वक़्त आ गया हो/जब कुछ भी नहीं हो उसके पास खाने का/यानी आज के कवि के पास न तो खोने को कुछ है, न खाने को। उसे एक और चीज़ की भी ज़रूरत हैं—"यानी एक बहाना अयोध्या से जाने का।"

खोने-खाने से अलग होकर वह आत्म निर्वासन की जिस स्थिति में होता है वही

है उसका "बुखार" । हालाँकि कविता में कहीं भी इस बुखार का ज़िक्र नहीं है—पर पूरी कविता पढ़ लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि कविता करने वाला व्यक्ति खाना भी चाहता है, कुछ पाना भी चाहता है, कहीं रहना भी चाहता है—पर यह कुछ भी नहीं होता । होता है सिर्फ़—

"विधवाएँ बुड़बुड़ाती हैं रड़ाँपे पर/तरस खाती हैं बुढ़ापे पर/नौजवान स्त्रियाँ गली में ताक झाँक करती हैं/चेचक और हैजे से मरती हैं बस्तियाँ/कैन्सर से हस्तियाँ/वकील रक्त चाप से/कोई नहीं/मरता/अपने पाप से ।"

यह सम्पूर्ण अहं को झिझोड़ने वाला बुखार अहं को अतिक्रान्त करके, सार्वभौम पीड़ा से व्यंग्यात्मक ढंग से, जो सिर्फ़ एक मात्र नया ढंग है, जुड़ जाता है और पूरी कविता बुखार में तपते आधुनिक भारत की खोज और आक्रोश की कविता हो जाती है । ऐसी ही कविता है समाधिलेख भी । और भी अनेक हैं । मायादर्पण में शायद ही कोई ऐसी कविता मिले, मैंने ढूँढ़ने की पूरी कोशिश की है, जो अमानवीय संवेदना से जुड़ी हो । श्रीकान्त की कविताओं में, वहाँ भी जहाँ व्यंग्य बहुत उभरा हुआ और भोंड़ा जैसा लगता हैं, एक दर्द वर्तमान है । यानी उन्हीं के शब्दों में :—मैं क्या करूँ/क्या मैं जीने की कोशिश में/किसी और दुनिया में जा मरूँ ।"

कविता व्यर्थ हो चुकी है, पर उसकी व्यर्थता में ही एक उपयोग ले आना होगा, क्योंकि उसे छोड़ना भी दूसरी दुनिया में जाकर मरने से ज्यादा सार्थक न होगा ।

मैंने सिर्फ भारती की एक कविता उद्धृत की थी, जिसमें मुझे अमानवीय तत्त्व दिखा किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इस तरह की कविताएँ ढूँढनी पड़ती हैं । भारती में ढूँढनी पड़ी, इसीलिए उल्लेख्य थी । बिना ढूँढ़े साठोत्तरी कवियों में इस तरह की सैकड़ों रचनाएँ धड़ल्ले से मिल जायेंगी । 'कृति परिचय' का कविता विशेषांक इस तरह के ढेरों उदाहरण प्रस्तुत कर देता है । मुझे नाम गिनाना जरूरी नहीं लगता, भारती का इसीलिए लगा कि वैसी कविता ढूँढ़नी पड़ी सो भी उस कवि में, जो नवलेखन में मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर चुका है ।

हाँलाकि सारे साठोत्तरी लेखन को अमानवीय कहना न सिर्फ गलत और निराधार होगा, बल्कि एकतरफा हतक का अपराधी बनना भी होगा, जो मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता । एकदम नये कवियों में अनेक कवि हैं जो बड़ी मिहनत से अपना कार्य कर रहे हैं । बावजूद इसके कि वे कई स्तरों पर नाना प्रकार की गलत प्रेरणा और प्रलोभनों के लोभ में "कुछ लटके वाजी" भी यूँ ही मौसम के मिज़ाज को देखकर जोड़ देते हैं ।

मेरे नजदीक के दो कवि श्री पद्मधर त्रिपाठी और श्री धूमिल इसी संदर्भ में उल्लेख्य लगते हैं ।

दोनों ही की कविताओं में आक्रोश और खोज की प्रधानता है । पद्मधर त्रिपाठी

को कविता "मुरदों का जुलूस" [ज्ञानोदय, संचयन अंक] सपाट बयानी का नहीं, रँगावट का शिकार हुई है। पद्मधर त्रिपाठी में संवेदनात्मक क्षमता है, चीज़ों की पकड़ भी; पर वे कविता को अभिव्यक्ति की दृष्टि से रचे हुए मुहावरों की बहाववृत्ति के कवि हैं, पैर ठहरा कर सोचने और थोड़ा रुक कर अभिव्यक्ति को तराश-छील कर उसे होर-दार बनाने की कोशिश उन्हें प्राप्त नहीं है। उनका संत्रस्त जर्जर कालजयी जिस शताब्दी को देख रहा है, वह बहुत विम्बात्मक; बल्कि विम्ब श्रेणियों की कसरत से बनी है :—

"इतिहास के पन्नों पर चोंच भारती चिड़ियाँ/काले अजगरों को उगलती चिमनियाँ दायित्वों से बँधे कसमसाते/सूखे हरे पेड़, घास काई सिवार/तमाम असंभाव्यताओं के नीचे बन्ध्या यात्राओं को विदा देते मकान × × पश्चाताप करती हुई शताब्दी सब देख रहा है चुपचाप।"

कहना न होना कि बावजूद अपनी कलात्मकता के जहाँ वे धूमिल से अलग और काव्यानुशासन में पले व्यक्ति के लिए स्पृहणीय भी लगते हैं, वहीं वे "थीम" के बिख-राव को पकड़ने की कोशिश में पीछे छूट जाते हैं। धूमिल की "पटकथा" एक लम्बे अरसे तक मँजावट के साथ लिखी गई, सपाटबयानी की शैली में होते हुए भी पहलदार कैलेडोस्कोपिक रचना प्रतीत होती है। धूमिल वस्तुओं और गुणों को परस्पर विछिन्न करके अपनी सुविधा के अनुसार उन्हें भिन्न-भिन्न खंडों में जोड़कर एक नई वस्तु गढ़ लेने की शैली के कुशल प्रयोक्ता हैं। हिन्दी साहित्य के काव्यानुशासन से अलग रहने के कारण एक ओर जहाँ उनकी अभिव्यक्ति में "खाँटी खुर्राट" की मौलिकता है, बबूल की तरह तल्ख़ पर जीवन्त, वहीं उस अनुशासन-विच्छिन्नता ने कुछ "एबसर्ड" चीज़ें कहने का साहस भी दे रखा है। पटकथा में वे आधुनिक शहरी ज़िन्दगी, गाँवों तक फैले खेतों और सीमान्तों से कुछ ऐसे बिम्ब चुनते हैं, जो रोजमर्रा की ज़िन्दगी में दिखाई पड़ते हैं, मसलन आग बुझाने के लिए लाल बाल्टियों में रखा बालू और पानी, तार छूने के उत्सुक देहाती बच्चों की कसरत, चौराहे, फुटपाथ, वगैरह और उन्हें ही वह एक ऐसी प्रयोग विशिष्टता दे देते हैं कि एक नये अर्थ की विच्छित्ति उत्पन्न हो जाती है।

धूमिल के साथ कठिनाई उन लटकों की है जिसे वह गेहूँ की राशि पर "गोबर" के बढ़ावन की तरह रखते रहते हैं। यह उनकी विवशता है क्योंकि किसी ने उन्हें बता दिया है कि "गाय" और "गोबर" कह देने मात्र से वे धार्मिक अधिनायकवाद को करारी शिकस्त दे देंगे। शिकस्त तो दूर इस तरह के लटके कविता का टेम्पर ख़राब करके, उसे चुनाव स्तरीय गाली-गलौज से जोड़ देते हैं।

पद्मधर की अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रभावपूर्ण पंक्तियाँ वे होती हैं, जो भीतर के उबाल के साथ सही तापमान से संयुक्त होकर निरावृत्त और निरलंकृत रूप से व्यक्त होती हैं।

नई समीक्षा : सही खोपड़ी की तलाश

जिस प्रकार उन्नीस सौ पचास के आसपास हिन्दी में नवलेखन प्रतिष्ठित हुआ और जिस प्रकार आज नई कहानी और नई कविता की चर्चा होती है, क्या उसी प्रकार नई आलोचना नाम की किसी चीज़ का भी कोई अस्तित्व है ? साहित्य में यदि कोई परिवर्तन आता है, और नई प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं, तो उनका प्रभाव सार्वजनिक रूप से प्रत्येक विधा पर पड़ना चाहिए। कहा जाता है, और यह ठीक भी है, कि स्वतन्त्रता के बाद भारत की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों में ऐसा परिवर्तन आया, जो धीरे-धीरे हमारे सामाजिक मन में आस्था के विघटन का कारण बना। परिणामतः सभी पुराने मूल्य जो अब तक प्रत्येक संकट और संघर्ष में हमारे सहायक थे, निष्प्राण लगने लगे। अणु विस्फोट और द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका ने सम्पूर्ण मानव जाति को धकेल कर ऐसे कगार पर खड़ा कर दिया है, जहाँ से देखने पर अतीत मृतक और भविष्य वीरान लगता है। इसलिए आधुनिक संकट का बोध, जिसे आधुनिकता की एक अनिवार्य प्रवृत्ति माना जाता है, कमोबेश मात्रा में संसार के प्रत्येक साहित्य में प्रतिफलित दिखाई पड़ती हैं। हिन्दी साहित्य में आधुनिक बोध का यह रूप राष्ट्रीय परिस्थितिओं और समस्याओं में प्रेरित-प्रभावित और उत्पन्न होकर थोड़ा भिन्न होगा, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु यह प्रवृत्ति मूलतः अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वदेशिक है, इसे भूलना नहीं चाहिए। इस बोध से प्रेरित होकर जो साहित्य आज लिखा जा रहा है, उसमें नई कविता या नई कहानी की तो बहुत चर्चा है, नई आलोचना की बात कम होती है। नए नाटक या निबन्ध की भी बात नहीं होती। ऐसा क्यों ? कारण जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है ही कि नए भावबोध के वहन की क्षमता कविता और कहानी में ज्यादा प्रमाणित हुई है। तो क्या नाटक में कम होती है ? ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि योरोपीय साहित्य इस बात का प्रमाण है कि आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति के लिए वहाँ नाटक कहीं ज्यादा शक्तिशाली माध्यम सिद्ध हुआ। हिन्दी में नाटक यदि इस बोध को ठीक से संभालने और व्यक्त करने में सक्षम सिद्ध नहीं हो रहा है, तो निःसन्देह कुछ न कुछ प्रादेशिक और हिन्दी नाटक-विधा से सम्बद्ध विशिष्ट कारण होंगे। यही हाल उपन्यास, निबन्ध और आलोचना का भी है। चर्चा का एक विशेष माध्यम पत्रिकाएँ होती हैं। नाटक, उपन्यास आदि के लिए पत्रिकाएँ उपयुक्त माध्यम नहीं हैं, इसीलिए इनकी चर्चा शायद कम हुई, पर आलोचना के लिए ऐसी भी कोई बाधा नहीं है। फिर भी यदि उसकी चर्चा नहीं है, या है भी तो उसकी त्रुटियों, अक्षमताओं आदि की ही, तो स्पष्टतः मानना पड़ेगा कि हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में कोई बहुत बड़ा प्रत्यवाय खड़ा हो गया है।

रचनात्मक साहित्य और आलोचना के बीच थोड़ा बहुत अन्तराल स्वभावतः रहता है। किन्तु यह अन्तराल यदि एक ख़तरनाक खाई का रूप ले ले, तो स्थिति अवश्य शोचनीय हो जाती है। खाई ख़तरनाक होती जा रही है, इसका पता इसी बात से चलता है कि रचनाकार आधुनिक आलोचना से इतना असन्तुष्ट, परेशान और ऊबा हुआ है कि वह अब उसकी उपयोगिता में सन्देह करने लगा है। पिछले दिनों आधुनिक मूल्यांकन की समस्या पर एक विवाद हुआ था जिसमें नए लेखकों ने मूल्यांकन निरपेक्षता की ही नहीं, मूल्य निरपेक्षता की बात भी उठाई थी। यह निःसन्देह एक विकट स्थिति है। आधुनिक आलोचना चूँकि वैचारिक युद्ध और संघर्ष का माध्यम और क्षेत्र दोनों ही है, इसीलिए नाना प्रकार के क्षोभ-आक्रोश, घात-प्रतिघात और आक्रमण-प्रत्याक्रमण से भरी हुई है। उसमें न तो कोई निश्चित विधि-विधान स्थिर रह गए हैं या बने और निर्मित हुए हैं, न तो नियम-संयम। और न तो नए आयाम-प्रतिमान ही स्पष्ट उभरते दिखाई पड़ते हैं। नाना प्रकार के प्रभाव और अधिकार सम्पन्न लोग तरह-तरह के हथकंडों के सहारे अपनी बात मनवाने की असाहित्यिक कोशिशें करते हैं। यानी संक्षेप में यह कि आधुनिक आलोचना विज्ञापन-बाज़ी का पर्याय बन गई है। व्यावसायिक विज्ञापन-बाज़ी में फिर भी कुछ व्यापारिक मर्यादाएं रहती हैं, वहाँ विक्रेता अपने सामान को अधिक से अधिक श्रेष्ठ बताने की कोशिश करता है, दूसरों के सामान को घटिया बताने की कम। पर साहित्य में यह मर्यादा भी दिखाई नहीं पड़ती।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में यह अन्तराल कई कारणों से उपस्थित हुआ है। आजकल हिन्दी में तीन प्रकार की आलोचनाएँ प्रचलित हैं। शास्त्रीय या पुस्तकीय आलोचना, जिसके एक छोर पर छात्रोपयोगी कुंजियाँ हैं, तो दूसरे छोर पर बंधे-बंधाए साँचों में ढाले जाने वाले बड़े-बड़े शोध-ग्रंथ। रचनाकारों द्वारा आत्म-स्पष्टीकरण के रूप में लिखी आलोचनाएं, जो एक ओर रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करती हैं, तो दूसरी ओर समसामयिक प्रतिद्वन्द्वी लेखक या विरोधी आलोचक पर क्षोभस्फालन भी। तीसरी कोटि उन आलोचकों की है जो शुरू-शुरू में नए साहित्य के जागरूक पाठक के रूप में सामने आते हैं और लोगों का ध्यान भी आकृष्ट करते हैं, किन्तु शीघ्र ही थोड़ा-सा यश मिलते ही नेतृत्व की भूख से परेशान होकर कुनबा जोड़ने या गुट बनाने का काम शुरू कर देते हैं और अपने पक्षधर रचनाकारों की प्रत्येक त्रुटि और कमज़ोरी को फ़लसफ़े का जामा पहनाने अथवा मुखौटा लगाकर जीने के अभ्यासी बन जाते हैं। ये तीनों ही स्थितियां आज की आलोचना में एक साथ जीवित और स्थित इसलिए हैं क्योंकि नई आलोचना के सर्वमान्य प्रतिमान स्थिर नहीं हो सके हैं।

हिन्दी आलोचना के बारे में यह माना जाता रहा है कि वह संस्कृत के रीति मार्ग को लेकर चली है। किन्तु सत्य तो यह है कि रीतिकाल के लक्षण-उदाहरण मूलक मुक्तक साहित्य को छोड़कर बाकी हिन्दी साहित्य संस्कृत आलोचना के सिद्धान्तों से कभी भी

परीक्षित नहीं हुआ है। बहुचर्चित रस-सिद्धान्त भी कोरे बुद्धि-विलास की ही वस्तु रहा है, उसे प्रतिमान मानकर न कभी संस्कृत साहित्य की आलोचना हो सकी है न तो हिन्दी की। आचार्य शुक्ल तक ने रस-सिद्धान्त के प्रति अत्यन्त आदर का भाव रखते हुए भी तुलसी, सूर या जायसी की आलोचना में रससिद्धान्तेतर अनेक समीक्षा तत्वों का समावेश किया था। छायावाद का वे सही मूल्यांकन इसलिए नहीं कर सके कि उनकी उदार रसवादी दृष्टि भी छायावाद को पूरी तरह अपने में बांध लेने में समर्थ न थी; क्योंकि छायावादी साहित्य मध्यकालीन साहित्य परम्परा से बिल्कुल अलग नवीन भाव-बोध का साहित्य था, जिसके लिए आलोचना को नए प्रतिमान स्वीकार करने पड़े। आज का साहित्य छायावादी साहित्य से अलग ही नहीं प्रायः प्रतिकूल एक नई भाव-भूमि पर खड़ा है, अतः इसके लिए तो सर्वथा नए प्रतिमानों की आवश्यकता है, इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण नई समीक्षा के क्षेत्र में तरह-तरह के नए शब्द, प्रयोग और प्रतिमान की चर्चा चल रही है।

आज की आलोचना का पहला प्रतिमान है लेखक, पाठक और आलोचक तीनों के भीतर समान रूप से प्रवाहित और जीवित आधुनिक भावबोध की क्षमता। आधुनिक भावबोध कोई स्वतः सम्पूर्ण सबसे निरपेक्ष वस्तु नहीं है। वह अब तक की समूची मानसिक परिस्थितियों के बीच, उन्हीं के कारण, उन्हीं के द्वारा उत्पन्न दृष्टि है जो प्रत्येक वस्तु, भाव या विचार-तत्व को पूर्व निर्मित सांचों या पद्धतियों से निर्मित पूर्वग्रह-युक्त ढंग से नहीं बल्कि नकली आवरण से अलग करके वास्तविक संदर्भ में वैज्ञानिक ढंग से देखती है। आधुनिक भावबोध की सही परीक्षा के लिए ऐतिहासिक बोध की चेतना आवश्यक है। यही चेतना हमें एक ओर इतिहास के मिथ्या आवरण से अलग करती है जिसे हम अनजाने एक खोल की तरह ढोते रहते हैं, दूसरी ओर यह दृष्टि भी देती है कि हम प्रत्येक वस्तु, भाव या घटना को एक सही परिप्रेक्ष्य में देख सकें। इतिहास बोध का सही ज्ञान न होने के कारण हम मृत या मुमूर्ष परम्परा से मोहविद्ध होकर चिपके रहते हैं। इतिहास बोध की सही चेतना हमें परम्परा और आधुनिकता के बीच सही आचरण करने में मदद देती है। परम्परा और आधुनिकता परस्पर विरोधी तत्व नहीं हैं। परम्परा को विदीर्ण करके उसी के भीतर से आधुनिकता जन्म लेती है, अर्थात् आधुनिकता के भीतर परम्परा का आवश्यक, जीवन्त और स्पन्दित अंश स्वतः स्फूर्त रहता है। इन सभी तत्वों को ठीक से समझाने वाला आलोचक ही आधुनिक साहित्य की सही व्याख्या कर सकता है। उसी हालत में वह वास्तविकता या प्रामाणिकता अथवा फ़ैशन और अनुकरण का भेद कर सकता है। आधुनिकता के नाम पर, क्योंकि यह औद्योगिक युग की व्यावसायिक संस्कृति से सम्बद्ध है, अनेक तरह के फ़ैशन और नारे चलते रहते हैं। असली साहित्य को नकली से अलग करना आज के समीक्षक के सामने बहुत बड़ी समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए आलोचक के भीतर आधु-

निकता, इतिहास और परम्परा की इसी वैज्ञानिक चेतना का होना अनिवार्य शर्त है।

आधुनिक आलोचना का दूसरा प्रतिमान 'नए मानव-मूल्य' हैं। मानव-मूल्य शब्द अक्सर विवाद का विषय रहा है। मूल्यांकन विरोधी लेखक मूल्य की चर्चा से भी कतराना चाहता है। वह जिस प्रकार मनुष्य को एक घटना-संयोग मानता है, उसी प्रकार साहित्य को भी। किन्तु यदि साहित्य को मानवीय सम्पत्ति या सृजन का रूप दिया जाएगा, जो उचित ही दिया जाता है, तो उसमें सद्-असद् विचार का प्रश्न उठेगा ही। नए लेखक को आपत्ति सिर्फ इस बात पर होनी चाहिए कि उसकी रचनाओं का निर्णय पुराने मूल्यों या बंटखरों से न हो। किन्तु मूल्य हों ही न, यह मान्यता असामाजिक अराजक प्रवृत्ति की देन है, जिसकी हिमायत हमेशा ही खतरनाक होती है। अराजकता स्वतन्त्रता का ही अतिवादी उत्तरदायित्वहीन रूप है। स्वतन्त्रता स्वयं में सबसे बड़ा मानव-मूल्य है, इसलिए किसी भी लेखक को स्वतंत्रता के नाम पर मूल्य निरपेक्षता का प्रचार नहीं करना चाहिए। यह सही है कि मूल्यों का प्रश्न बहुत सीधा नहीं है, पर 'साहित्य क्यों' ? का उत्तर और किसी आधार पर दिया भी नहीं जा सकता। मूल्यों के भीतर परस्पर भिन्न मान्यताओं की हमेशा ही टकराहट होती है। समाज, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध, स्वतन्त्रता, दायित्व, प्रतिवद्धता, आस्था, कुंठा, निराशा, विघटन, प्रामाणिकता, ईमानदारी, समकालीनता आदि शब्दों का आधुनिक आलोचना में बार-बार इस्तेमाल इस बात का सबूत है कि हम मानव-मूल्यों पर नाना प्रकार से अनेक कोण और ढंग से विचार करते रहे हैं। आधुनिक मनुष्य का रूप ज्यों-ज्यों विकसित हो रहा है, उसकी मान्यताएँ जैसे-जैसे जटिलतर होती जा रही है, वैसे-वैसे उसके मानसिक बनावट के विश्लेषण के अनेक नए कोण और आयाम सामने आ रहे हैं। इन सभी जटिलताओं को, जो अनेक साहित्येतर कारणों से बढ़ रही हैं, ठीक से समझना और किसी भी संकुचित मतवाद, पूर्वग्रह, राजनीतिक प्रचार, सामाजिक टैबूज, आदि से अप्रभावित रह कर आधुनिक किन्तु प्रामाणिक मानव मूल्यों के आधार पर साहित्य की समीक्षा कर सकना एक महत् किन्तु कठिन कार्य है। इसके लिए समीक्षक का सही अर्थों में आधुनिक, सभी अर्थों में मनुष्य और समझदारी के साथ निष्पक्ष होना अत्यन्त आवश्यक है।

आलोचना का तीसरा आयाम रचना-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। रचना-प्रक्रिया भी युगानुकूल निरन्तर बदलती रही है। उसमें अनेक तत्व विविध कलाओं के क्षेत्र से आकर समाहित हो गए हैं। लेखक की रचना-प्रक्रिया वातावरण और परिस्थितियों के कारण निरन्तर वैयक्तिक से वैयक्तिक होती जा रही है। यह व्यक्ति चेतना अभिव्यक्ति के नाम पर अत्यन्त सामान्य होकर कुंदन हो जाए, न घोर व्यक्तिगत होकर गूढ़ संकेतार्थ में केन्द्रित हो जाए। अब इधर आलोचकों की ओर से 'पाठ-प्रक्रिया' और 'अध्ययनविधि' की भी चर्चा हो रही है। रचना प्रक्रिया रचनाकार के लिए व्यक्तिगत-प्रक्रिया

हैं, इसलिए वह यदि अपनी प्रक्रिया के लिए अपने को ही मुख्य आधार माने तो बात समझ में आती हैं, किन्तु आलोचक के लिए तो यह आवश्यक है कि वह अपनी पाठ-प्रक्रिया और अध्ययन-विधि को ऐसा बनाए कि उसकी ईमानदारी या समझदारी में दूसरों को भी विश्वास हो सके। हिन्दी आलोचना में प्रायः ही बिम्बविधान, प्रतीक, या टैक्सचर आदि की बात पश्चिमी समीक्षा-पुस्तकों से लेकर चिपका दी जाती है। इन तत्वों का भारतीय परिवेश में क्या रूप हो, इस पर आलोचक भी विचार नहीं करते। दूसरी बात यह है कि इनके अध्ययन को खंडशः महत्व दिया जाता है। अर्थात् किसी रचना की अच्छाई-बुराई इन बिम्बों, प्रतीकों आदि के 'प्रयोगों' में निहित मान ली जाती है।

हिन्दी आलोचना का चौथा आयाम पश्चिमी आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों की नक़ल से उत्पन्न कहा जा सकता है। यह आयाम बहुत से दिवास्वप्नमूलक मतमतान्तरों के शोर शरापा और कटोकट से संकुल दिखाई पडता है। हिन्दी में बहरहाल तीन प्रकार के आलोचक कार्यरत दिखाई पड़ रहे हैं। एक तो शुद्ध मुदर्रिस। दूसरे वर्ग में भी मुदर्रिस हैं; पर वे कभी-कभी मुदर्रिसी आलोचना फरमाइशी तरीक़े से लिखते हैं, वैसे अमूमन वे मिहनत करके कुछ विचारणीय समीक्षाएँ भी लिख रहे हैं। तीसरा वर्ग अनध्यायकीय समीक्षकों का है। डॉ० नामवर सिंह ने आलोचना ११ में विश्वविद्यालयीय शिक्षा के बहाने हिन्दी अध्यापकों की खासी खबर ली है। वैसे भी प्रायः ही छोटी पत्रिकाओं में अध्यापकीय समीक्षा को काफी कोसा जाता रहा है। मैं उनकी हिमायत नहीं कर रहा हूँ; पर अध्यापक होकर केवल सींग तुड़ाकर बछड़ा बनने की मनोवृत्ति को बढ़ावा देने या उनसे मिथ्या स्वीकृति पाने के लोभ में मैं अध्यापक मात्र द्वारा लिखी हुई समीक्षाओं को कूड़ा कहने की जुर्रत भी नहीं कर सकता। आखिर हिन्दी में आज समीक्षक हैं कौन? हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र आदि परम्परा से समादृत आलोचक अवश्य हैं, आधुनिकता से स्वीकृत नहीं है। क्योंकि ये कभी कभी गाहे बेगाहे डर-डर कर नये साहित्य पर कुछ कहने की कोशिश भी करते हैं, तो प्रायः अपने सीमित अध्ययन के कारण घूम-फिरकर अपने पूर्व निर्मित कोटरों में लौट आते हैं। डॉ० देवराज, विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० मदान विष्णुकान्त शास्त्री, जैसे अध्यापक नये साहित्य पर लिखते हैं, इसमें सन्देह नहीं और इनका परिप्रेक्ष्य भी अपेक्षाकृत नया है; पर इन सबके भी अपने कोटर हैं चाहे बहुप्रचारित या सहज भाँपनीय न हों, तो भी हैं, और वे वहीं लौट जाते है। डॉ० देवराज क्लासिकी विदेशी साहित्य और समीक्षा के कोटर में, स्नातक अपने मध्यकालीन कोटर में, मदान संस्कृत-विरोधी और विदेशप्रिय चटखारावादी यथार्थ के कोटर में और विष्णुकान्त शास्त्री शुद्ध भारतीय साहित्य को खोज के कोटर में लौट जाते हैं। राम विलास शर्मा, रघुवंश, जगदीश गुप्त; विजय देवनारायण सही, बच्चन सिंह, कुन्तलमेघ, प्रेमशंकर, शिवकुमार मिश्र आदि जो अपनी शक्ति भर नये साहित्यको समझने और समझाने की कोशिश कर रहे हैं, नवलकिशोर, मधुरेश, रमेशचन्द्र शाह आदि भी अध्यापक

ही हैं। अध्यापकी सीमा से अलग वाली समीक्षा में दो तरह के लोग हैं। कुछ वे जो छोटी पत्रिकाओं के इर्द-गिर्द आत्मनिर्मित समीक्षक के रूप में चिपके हैं, कुछ वे जो भिन्न भिन्न मतवादों को लेकर चलनेवाले आन्दोलनों के साथ जुड़े हैं। डॉ० नामवर सिंह खुद भी अध्यापक थे और आज भी उनकी समीक्षा में ऐसा कुछ नहीं है, यानी गड़बड़ी, जिसके चलते उन्हें अध्यापकीय समीक्षा से खारिज़ किया जाये। इसलिए यह आवाज़ निहायत निरर्थक है कि नई समीक्षा अध्यापकों के हाथों पड़कर ख़राब हो रही है।

समीक्षा का एक और वर्ग भी ज़रूर है जिसे अहमियत देनी चाहिए, वह है कृतिकार समीक्षकों का वर्ग। धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, यादव, ने काफी विचारोत्तेजक समीक्षाएँ लिखी हैं। किन्तु इस समीक्षा पद्धति के अग्रणी सच्चिदानन्द वात्स्यायन की व्यक्तिगत सूझ-बूझ, मौलिक उद्भावनाएँ, संयत विचार परम्परा आज भी स्पृहणीय बनी हुई है। इस वर्ग के समीक्षकों की प्रायः उपेक्षा होती रही है; पर हमें यह मानना पड़ेगा कि नवलेखन के आरंभ में एक ऐसा समय अवश्य था जब उसकी सही मीमांसा करने वाली दृष्टि प्रायः परम्परा प्रसिद्ध समीक्षकों को उपलब्ध नहीं थी। अधिक से अधिक छायावादी समीक्षा के मानदंडों के आधार पर कुछ नई बातों की चाशनी डालकर समीक्षा लिख दी जाती थी। अधिकांश आलोचक नवलेखन की विद्रूपता प्रदर्शित करना ही अपना उद्देश्य मानते थे। ऐसे ही समय कृतिकारों को ही, जो खुद नवलेखन को किसी न किसी विधा से रचनात्मक स्तर पर सम्बद्ध थे, आलोचना का भी दायित्व उठाना पड़ा। अज्ञेय ने नई कविता को स्पष्ट करने का अथक प्रयत्न किया। धर्मवीर भारती ने कई बहुत ही उच्चकोटि की समीक्षाएँ कीं। उनका अमृत और विष पर लिखा गया मूल्यांकन बहुत सूक्ष्मस्तरीय है। उन्होंने नये मानमूल्यों पर भी एक उच्चस्तर का अध्ययन किया। शमशेर ने कई इच्छे निबंध लिखे। नई कविता पर लिखा गया, उनका निबंध, जिसे उन्होंने अपनी व्यक्तिगत रुचि का परिणाम कह कर थोड़ा मुलायम और कम अक्रामक बनाया था, बहुत दिनों तक याद किया जायेगा। "चाँद का मुँह टेढ़ा है" की उनकी भूमिका भी अपने तरह की विशिष्ट समीचा कृति है। नेमिचन्द्र जैन भी इसी वर्ग के समीक्षक थे; और उन्होंने आरंभ में रचनात्मक समीक्षायें भी उच्चस्तरीय लिखी थीं; वैसे वे इधर के उपन्यास और नाटकों के स्वतंत्र समीक्षक के रूप में काफी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। कहानियों पर मार्कण्डेय की एक लेखमाला भी अपने समय की स्मरणीय समीक्षा है। उपेन्द्रनाथ अश्क की अधिकांश समीक्षाएँ इसी वर्ग में आती हैं।

इस वर्ग की समीक्षा के बारे जो सबसे प्रधान आपत्ति है वह यह कि प्रायः ये समीक्षाएँ रचनाकार या उसके अपने निजी परिवेश के प्रति उसकी प्रतिबद्धता के कारण निस्पक्ष और वस्तुपरक नहीं हो पातीं।

इस प्रकार हमारे सामने जो समीक्षक बच रहते हैं, वे प्रायः ही अध्यापक ही हैं, और ऐसा भी नहीं कि उन्हें एक वर्ग में रखकर कोई चलती बात सबके बारे में कह

दी जाय। उदाहरण के लिए नई समीक्षा को अपना उत्तरदायित्व और कर्म मानकर चलनेवाले समीक्षकों में भी कई प्रकार की वृत्तियाँ और आधुनिकता के भिन्नस्तरीय तापमान दिखाई पड़ते हैं। रामविलास शर्मा बेलौस ढंग से अपनी बात कहने और युग-प्रभावी कुहरे से पूर्णतः अप्रभावित रहनेवाले निर्द्वन्द्व समीक्षक है; किन्तु उनके 'कोटर' भी सर्वविदित हैं, यह एक दूसरी बात है कि रामविलास जी अपनी ऊर्जा और जीवनी-शक्ति के बल पर अपने बनाए हुए कोटरों को भी तोड़ते हैं। समीक्षा के विकास के लिए उसका लोचदार होना कोई अवगुण भी नहीं है। इधर उनके नई कविता विषयक समीक्षा लेख नारेबाज़ी मूलक समीक्षा के कुहाजाल को तोड़कर एक नई दिशा के सूचक रहे हैं। यह अलग बात है कि कोई उनसे कितना सहमत हो पाता है; पर कोई यह नहीं कह सकता कि उन्होंने बिना पढ़े चलती बातें कह दी हैं। यह ज़रूर है कि जिन लोगों ने कोटर बनाकर कुछ खास नामों को खास स्थानों पर प्रतिष्ठित किया था, उन्हें इन निबंधों से धक्का लगा है। रघुवंश और रामस्वरूप चतुर्वेदी दोनों ही मुख्यतया नई कविता के समीक्षक रहे हैं और इनमें से किसी ने जब भी नई कहानी पर कुछ कहने का प्रयत्न किया है, अपनी सीमा स्पष्ट की है और यह समझते देर नहीं लगी कि इन्हें कहानियों की पाठ प्रक्रिया में कोई रुचि नहीं है। रामस्वरूप चतुर्वेदी रूपवादी नई समीक्षा से प्रभावित हैं और वे भाषा के प्रश्न पर जागरूक प्रतीत होते हैं; पर उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी उनकी बोर्जुवा रुचि के भीतर विद्यमान है, जिसके कारण उन्हें 'अज्ञेय' जैसा रूपाश्रयी लेखक ही पसन्द आ सकता है। इसे वे जब तक कमज़ोरी नहीं मानते वे लगातार निर्बाध समीक्षाएँ लिखते रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

विजयदेव नारायण साही "डैशिंग" तरीक़े के विचारशील समीक्षक हैं, बुनावट और कथ्य और अभिव्यक्ति की ग्रंथियों को पकड़ने की उनकी सूक्ष्म प्रतिभा निर्विवाद है; परन्तु साही कभी-कभी किसी बात को, जो उन्हें अचानक सूझती है, बहुत दूर तक खींचने की ऐसी कोशिश करते हैं कि चाहे वे भले ही उस बात को अपनी व्युत्पन्न शक्ति से काफी प्रमाणिक सिद्ध कर ही दें, उसका लचरपन भी छुपा नहीं रहता। इसमें संदेह नहीं कि युगानुरूप लेखन कर्म के दायित्व और उसकी जटिलता को स्पष्ट करने की उनके पास अपूर्व क्षमता वर्तमान है।

बच्चन सिंह नई समीक्षा के क्षेत्र में अथक परिश्रम कर रहे हैं। उनका अध्ययन बहुविध है। उन्होंने काफी आयासपूर्वक अपनी आधुनिक रूचि को सुसंस्कारित और परिष्कृत किया है। परिणामतः नई कृतियों के भीतर विद्यमान आधुनिकता की स्थितियों को वह भली-भाँति पकड़ते और अभिव्यक्त करते हैं। उनका व्यक्तित्व कुछ मायनों में अन्य समीक्षकों से थोड़ा अलग भी लगता है, कारण वे किसी राजनीतिक मतवाद का दुराग्रह नहीं ढोते। किसी जमाने में वे प्रगतिशील नारों की बहुत रट लगाया करते थे,

पर अब वे उस चक्रव्यूह से मुक्त हो चुके हैं। अतः एक निष्पक्ष साहित्यिक समीक्षक की संभावनाएँ उनके लेखन में प्रतिफलित हुई हैं। उनके साथ कठिनाई पाश्चात्य समीक्षा के नित नूतन आन्दोलनों से प्रभावित होने और उनके भीतर उपलब्ध किसी नुस्खे को हिन्दी आलोचना में चिपकाने की है। वे उन स्थानों पर भी जहाँ वे किसी नये पाश्चात्य समीक्षक के ढंग पर या उसी के समानान्तर बख़ूबी सोच सकते हैं, सहारा लेते से प्रतीत होते हैं। मैं उन महत्त्वपूर्ण विचारों और कथनों की ईमानदार उद्धरणी का विरोध नहीं कर रहा हूँ। इसके बावजूद उन्होंने समीक्षा को एक नया आयाम और गहराई दी है जिसे इन्कारा नहीं जा सकता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक हिन्दी आलोचना को एक प्रामाणिक भूमिका प्रदान करने में इलाहाबाद की विवेचना-गोष्ठी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसे सुनियोजित ढंग से चलाने में श्री बालकृष्ण राव और उनसे भी अधिक श्रीमती उमाराव ने अथक परिश्रम किया है। नई आलोचना के इतिहासलेखक प्रायः ही इन नामों को भूल जाते हैं, जो हिन्दी की परमविस्मारक प्रवृत्ति के अनुरूप ही है।

इस अध्ययन से क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि हिन्दी की नई समीक्षा को आलोचना के नये औज़ार तो मिल गये हैं, उनकी झनझनाहट और खटर-पटर भी खूब सुनाई पड़ रही है; पर उन्हें इस्तेमाल करने वाले निष्पक्ष दायित्वपूर्ण कुशल कार्यकर्ताओं की निहायत कमी है। यानी नई समीक्षा को नये या पुराने प्रतिमानों की तलाश की जरूरत उतनी नहीं है जितनी सही खोपड़ी वाले समीक्षकों की। और सही खोपड़ी की तलाश के लिए किसी बाहरी सर्वे की जरूरत भी नहीं है। सिर्फ तीन सवाल अपनी आत्मा से पूछकर हर समीक्षक यह जान सकता है कि उसकी खोपड़ी सही है या ग़लत। ये सवाल इस प्रकार हैं—

१. क्या समीक्षा लिखते वक्त आप अपनी भी प्रतिष्ठा, यानी सूक्ष्म पकड़ अध्ययन आदि का पाठकों पर पड़ने वाले रोब और प्रभाव-तारीफ आदि के बारे में भी सोचते हैं या सिर्फ़ कृति ही एकमात्र विवेच्य रह पाती है ?

२. क्या आप अपनी समीक्षा को प्रकाशित करने के लिए भेजते समय उस पत्र या पत्रिका के सम्पादक का भी ख्याल रखते हैं। क्या आप अपनी समीक्षा पर किसी तरह का बाहरी दबाव महसूस करते हैं ?

३. क्या आप ईमानदारी पूर्वक यह महसूस करते हैं कि समीक्षा लिखने के पहले कृति को निष्पक्ष ढंग से पढ़ना ज़रूरी है और उसके बारे में सुनी हुई बातें दर किनार रखकर आपको यह दायित्व निभाना लाजमी है ?

इन प्रश्नों का उत्तर अपनी आत्मा से पूछकर आप बख़ूबी जान सकते हैं कि जिस सही खोपड़ी की तलाश है, उसमें छाप गिने जा सकते हैं, या नहीं। इत्यलम्। ● ●